प्रकाशक

चौपासनी शिक्षा समिति द्वारा संस्थापित
राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी
जोधपुर

•

प्रथम संस्करण
सन् १९८०

•

मूल्य : पच्चीस रुपये

•

मुद्रक :
एम. एन. प्रिण्टर्स, जोधपुर

•

समर्पण

राजस्थानी शोध संस्थान की स्थापना के प्रेरक
चौपासनी शिक्षा समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष
स्वर्गीय मेजर ठाकुर भैरोंसिंहजी खेजड़ला
की पावन स्मृति को

प्रबन्धकारिणी की ओर से

राजस्थानी शोध संस्थान की स्थापना सन् १९५५ में हुई थी। इसकी स्थापना, शैशव-अवस्था और अब २५ वर्ष की युवावस्था की एक पूरी कहानी है तथा इस कहानी के साथ ही जुड़ी है डा. नारायणसिंह भाटी की पिछले दो युगों की सतत साहित्य-साधना।

इस संस्थान की स्थापना उस समय बहुत साधारण रूप में तत्कालीन शिक्षा समिति के अध्यक्ष ठाकुर भैरोंसिहजी खेजड़ला, एम. एल. ए. तथा श्री विजयसिंहजी, एम. पी. की प्रेरणा से चौपासनी विद्यालय के प्रांगण में हॉस्टल के एक कमरे में की गई थी और इस संस्थान की योजना का प्रारूप निश्चित करने और उसे क्रियान्वित करने आदि का सारा दायित्व श्री नारायणसिंह भाटी पर ही छोड़ा गया था जो उस समय राजस्थानी के कवि के नाते प्रसिद्धि पा चुके थे और एक उदीयमान साहित्यकार की प्रतिभा का परिचय भी समाज को दे चुके थे। आज से २५ वर्ष पूर्व जोधपुर में न विश्वविद्यालय था और न अन्य कोई प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था ही थी जिससे इस दिशा में प्रेरणा मिलती या किसी प्रकार का सहयोग भी प्राप्त होता पर श्री नारायणसिंह भाटी ने अपने प्रयासों से अपने मित्रों और नवीन लेखकों का सहयोग प्राप्त कर सर्वप्रथम 'परम्परा' शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पहला ही अंक इतनी सूझबूझ और मेहनत से प्रकाशित किया गया कि देश भर में साहित्यकारों ने बड़े उत्साह के साथ इसका स्वागत किया और उसके वाद निरन्तर 'परम्परा' का प्रत्येक अंक विशेषांक के रूप में ही प्रकाशित होता रहा व अन्य योजनाएँ भी समय और साधनों के साथ साथ वनती चली गई।

किसी भी संस्था को स्थापित कर अत्यन्त अल्प साधनों में उसकी व्यवस्था व उसका विकास करना कितना कठिन है यह किसी से छिपा नहीं है और फिर साहित्यिक संस्था का निर्माण करना तो और भी कठिन है क्योंकि समाज पर वास्तविक प्रभाव डालने वाले उसके परिणाम धीरे धीरे निखरते हैं। २-३ वर्ष के प्रयासों से राजस्थान सरकार ने संस्थान को वार्षिक अनुदान देना प्रारम्भ किया और तब से ग्रंथ संग्रह, आर्ट गैलेरी,

पुस्तक-प्रकाशन आदि गतिविधियों को भी हाथ में लिया गया। सन् १९५८ में राजस्थानी शब्द कोश के प्रकाशन का वृहद एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य भी संस्थान ने अपने हाथ में लिया और उसकी प्रारम्भिक व्यवस्था को जमाने, सरकारी अनुदान प्राप्त करने और उसको वैज्ञानिक रूप से प्रकाश में लाने में तब ४-५ वर्षों तक संस्थान के निदेशक डा. नारायणसिंह भाटी को अथक परिश्रम करना पड़ा जिसमें उन्होंने असाधारण प्रशासनिक योग्यता का भी परिचय दिया। यह हर्ष का विषय है कि तब इतने परिश्रम और सच्ची लगन से प्रारम्भ किया गया कोश का वह कार्य अब पूर्ण हो गया है और लंबा समय लगने पर भी अनेक भागों में यह ग्रन्थ प्रकाशित होकर विद्वत् समाज के सामने आ गया है जो कि संस्थान का एक मुख्य ध्येय था।

इन्हीं दिनों संस्थान ने राजस्थानी के हजारों प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह भी करवाया जिन्हें व्यवस्थित करना और उनकी सुरक्षा व केटेलाग बनवाने के लिए प्रयास करना भी अपने आप में एक बड़ा काम था जिसमें भी डा. भाटी को बहुत समय देना पड़ा और साधन भी जुटाने पड़े। परम्परा का प्रकाशन, शोध-छात्रों को सहायता आदि कार्य भी यथा-विधि चलते रहे। इन सभी कार्यों के सुचारु रूप से सम्पन्न होने का ही यह परिणाम है कि यह संस्थान ही आज राजस्थान की एक मात्र ऐसी संस्था है जिसे विश्वविद्यालय (जोधपुर) द्वारा शोध-केन्द्र की मान्यता प्राप्त है, और देश की गिनीचुनी प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्थाओं में इसका स्थान है।

इस विशिष्ट स्थिति के कारण ही संस्था के निदेशक डा. नारायणसिंह भाटी को भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् ने राजस्थान के ऐतिहासिक ग्रन्थों के विस्तृत सर्वेक्षण का कार्य सन् १९७४ में सौंपा और जिसे उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया। वर्तमान में जोधपुर विश्वविद्यालय से पी. एच डी. की उपाधि हेतु शोध करने वाले छात्र उनके विधिवत निर्देशन में शोध-कार्य कर रहे हैं और इसके अतिरिक्त देश विदेश के शोध विद्यार्थी तो पूर्ववत् उनके निर्देशन का बराबर लाभ उठा ही रहे हैं। यह यहाँ उल्लेखनीय है कि अद्यावधि इस प्रकार के करीब २०० शोधकर्त्ता उनके सहयोग व निर्देशन से लाभान्वित हुए हैं। संस्थान के निर्माण और उसकी उपलब्धियों हेतु निरन्तर जूझने वाले इस संस्था के संस्थापक निदेशक ने जहाँ आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये एक अनुसंधान-तीर्थ का निर्माण किया वहाँ उन्हें अपनी ओर से बहुत त्याग भी करना पड़ा। आर्थिक पक्ष से भी अधिक महत्वपूर्ण और कीमती चीज उनके जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति का समय था जो उन्होंने पूरा का पूरा इस संस्था के लिये दे दिया और एक दिन के लिये भी इसकी चिन्ता से मुक्त नहीं रह सके। यही कारण रहा कि 'परम्परा' के सम्पादन और मारवाड़ रा परगना री विगत, महाराजा मानसिंह की ख्यात और चार खण्डों में राजस्थान के ऐतिहासिक ग्रन्थों के विस्तृत सर्वेक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्य तो उन्होंने सम्पन्न किये पर इस दौरान में संस्था के प्रचार का कार्य वे नहीं कर पाये और न संस्थान में संग्रहीत ग्रन्थों का परिचय विद्वानों को देने हेतु पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखने का समय ही उनको मिला। वैसे भी ठोस कार्य करने वालों का ध्यान तात्कालिक प्रचार के

आधार पर ख्याति अर्जित करने का नहीं रहता क्योंकि उनकी आस्था तो केवल कार्य में ही होती है और वही स्थायी उपलब्धियों का जनक भी होती है। इन परिस्थितियों में कई स्वार्थी लोगों ने उनकी शोधपूर्ण उपलब्धियों के बारे में भ्रम फैलाने का दुस्साहस भी किया और कई ईर्ष्यालु मनोवृत्ति के लोगों ने निरन्तर उनके कार्य में रोड़े अटकाये, वातावरण को दूषित किया, यहाँ तक कि कार्यकारिणी के सदस्यों तक को भी कई बार गलत-फहमियों का शिकार होना पड़ा और बीच में ऐसी स्थिति भी आई जबकि यह संस्था सदा के लिये समाप्त हो जाती, परन्तु डा. नारायणसिंह भाटी ने इन सब परिस्थितियों का संस्था के हित को सर्वोपरि रखकर बड़े धैर्य के साथ सामना किया और वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। आज संस्था की उपलब्धियाँ सबके सामने हैं। उनके द्वारा किया गया ऐतिहासिक ग्रन्थों का सर्वेक्षण तो सैकड़ों शोध-निबन्धों के बराबर है और परम्परा के ५० से भी अधिक भागों में राजस्थानी की विभिन्न विधाओं के दर्जनों ग्रन्थ सुसम्पादित होकर प्रकाश में आए हैं। सैकड़ों शोध-ग्रन्थों में इनके सन्दर्भ अंकित हो चुके हैं। 'परम्परा' के स्तरीय प्रकाशन और उसकी महती उपयोगिता का ही यह प्रमाण है कि इसके करीब आधे भाग अनुपलब्ध हो चुके हैं। जो कुछ बचे हैं उनकी मांग भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक हो गई है अतः वे भी अत्यल्प काल में ही अनुपलब्ध होने वाले हैं।

परम्परा के अनुपलब्ध अंक बड़े महत्वपूर्ण हैं जिसके फलस्वरूप शोध-विद्वानों की बराबर मांग बनी रहती है, अतः शिक्षा समिति इस ओर भी सचेष्ट है कि इनका पुनर्मुद्रण करवाया जाय परन्तु यह कार्य बड़ा व्यय-साध्य है और काफी लम्बे समय में जाकर ही इसकी क्रियान्विति संभव है। अतः हमने यह निर्णय लिया है कि कई अंकों के जो महत्वपूर्ण अनुशीलनात्मक सम्पादकीय डा. भाटीजी ने समय समय पर लिखे हैं उनका व उनके कुछ महत्वपूर्ण स्वतन्त्र निबन्धों का संग्रह पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाय जिससे संशोधकों को यह महत्वपूर्ण सामग्री इस रूप में उपलब्ध हो सके और राजस्थानी साहित्य का सर्वांगीण एवं प्रामाणिक परिचय एक ही स्थल पर मिल सके। (राजस्थानी का अधिकांश शोध-कार्य अभी तक परिचयात्मक स्थिति में ही है अतः राजस्थानी के मननशील तथा अनुभवी विद्वान डा. नारायणसिंह भाटी के ये निबन्ध अनुशीलनात्मक शोध की दिशा में एक महत्वपूर्ण दिशा-निर्देश दे सकेंगे ऐसी आशा है।)

राजस्थानी शोध संस्थान के इस रजत जयन्ती वर्ष के उपलक्ष में उसके संस्थापक निदेशक की दीर्घकालीन साहित्य-साधना का प्रतीक यह ग्रन्थ साहित्य प्रेमियों के हाथों में सौंपते हुए मुझे विशेष हर्ष और सन्तोष का अनुभव होता है।

डा. गोविन्दसिंह
मंत्री
चौपासनी शिक्षा समिति

निवेदन

इस ग्रन्थ में पिछले २५ वर्षों में मेरे द्वारा लिखे गये राजस्थानी साहित्य, कोश व छन्द-शास्त्र सम्बन्धी निवन्धों का संग्रह है। ये निबन्ध कभी किसी प्राचीन कृति के सम्पादकीय रूप में और कभी स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे तथा राजस्थान की शोध पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित हो चुके हैं, विशेष कर परम्परा में।

इन निवन्धों में साहित्यिक विधाओं व महत्वपूर्ण कृतियों पर साहित्य के सर्वमान्य सिद्धांतों के आधार पर विचार व विश्लेषण किया गया है, किसी वाद विशेष या विचार-धारा विशेष के प्रभाव से ये निवन्ध मुक्त हैं। हाँ, कुछ स्थलों पर राजस्थानी संस्कृति के उत्कृष्ट जीवन-मूल्यों को महत्त्व देने की लालसा को मेरा कवि-हृदय नहीं रोक पाया है।

ये निवन्ध कई वर्षों के अन्तराल से एक स्थान पर इस पुस्तक में प्रकाशित हो रहे हैं अतः इनके पीछे मेरे व्यस्त जीवन का संघर्षपूर्ण इतिहास भी है। इन निवन्धों में से वहुत कम निबन्ध ऐसे होंगे जिन्हें मैं पूर्ण शान्ति के क्षणों में लिख पाया हूँ वाकी सभी निवन्ध संस्थान-सम्बन्धी व्यस्तता और चिन्ताओं के वीच लिखे गये हैं, फिर भी विद्वान पाठकों ने सदा इनको उपयोगी समझ कर अपनाया है और शोध-कर्त्ताओं ने आधारभूत सामग्री को समझने-परखने में इनसे सहायता ली है, यह उनकी सदाशयता ही कही जा सकती है।

इस लम्वे समय के अनुभवों के आधार पर वर्तमान में कई साहित्यिक मुद्दों पर मेरी जानकारी में परिवर्तन भी हुआ है और शोध सम्बन्धी नये तथ्य भी सामने आए हैं। अतः कुछ निवन्धों में आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन भी कर दिये गये हैं। फिर भी सामान्यतः ये निवन्ध उस समय मेरी विचारधारा और मान्यताओं का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और वह भी शोध-कार्य की प्रक्रिया की सीमाओं के भीतर।

चौपासनी शिक्षा समिति के साहित्य-प्रेमी सचिव डा. गोविन्दसिंहजी और विद्वान मित्रों के आग्रह के फलस्वरूप ही ये निवन्ध पुस्तकाकार रूप में सुविज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत हैं।

नारायणसिंह भाटी

विषय-सूची

विकास-क्रम

पद्य अनुशीलन

गद्य अनुशीलन

विकास क्रम

राजस्थानी साहित्य का आदि काल

राजस्थानी साहित्य का आदि काल कहां से कहां तक माना जाना चाहिए इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। अधिकांश विद्वानों ने प्राचीन राजस्थानी का उद्भव ९ वीं शताब्दी से माना है और 'कुवलयमाला कथा' (संवत् ८३५) में उल्लिखित मरुभाषा[1] को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। १२ वीं शताब्दी तक का समय वैसे अपभ्रंश-काल माना जाता है क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक भाषा अपभ्रंश ही थी। पर अपभ्रंश के साथ-साथ अनेक जन-भाषाएँ इस काल (९ वीं से १२ वीं शती) में अलग-अलग जनपदों में अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थीं, इसलिए 'कुवलयमाला कथा' के रचयिता उद्योतन सूरि ने १८ देशी भाषाओं में मरुभाषा की भी गणना करते हुए उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। 'कुवलयमाला' के एक 'चर्चरी रास' का उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है जिसमें मरुभाषा (प्राचीन राजस्थानी) का रूप स्पष्ट परिलक्षित होता है—

> कसिण कमळ दळ लोयण चल रे हंतओ,
> पीण पिहुल थण कडियल-भार किलंत ओ।
>
> ताल चलित वलिआवलि कलयल सद्द ओ,
> रास यम्मि जइ लब्भइ जुवइ सत्थ ओ॥

अतः राजस्थानी साहित्य का प्रारंभ ९ वीं शताब्दी से ही मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, यद्यपि १३ वीं शताब्दी के पहले का बहुत कम साहित्य हमें उपलब्ध होता है। १३ वीं शताब्दी के बाद की अनेक रचनाएँ इस भाषा में उपलब्ध होती हैं, पर उनमें भी जैन साहित्य की ही प्रधानता है। १६ वीं शताब्दी तक आते-आते राजस्थानी साहित्य काफी समृद्ध हो गया था। भाषा की दृष्टि से इस काल की भाषा को डा० टैसीटरी ने 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' कहा है। १६ वीं शताब्दी तक यही भाषा राजस्थान, मालवा और गुजरात के बहुत बड़े भू-खंड की साहित्यिक भाषा रही है। गुजराती

---

1. अप्पा तुप्पा भणि रे अह पेच्छइ मारुए तत्तो
   न उ रे भल्लइ भणि रे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे
   अम्हं काउं तुम्हं भणि रे अह पेच्छइ लाडे
   भाइय भइणी तुब्भे भणि रे अहं मालवे दिट्ठे।

साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने भी प्राचीन राजस्थानी को ही गुजराती की जननी मानते हुए उसके विस्तृत प्रसार को निःसंकोच स्वीकार किया है।

डा० टैसीटरी के मतानुसार १६ वीं शताब्दी तक का समय प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का है[1]। यहां से गुजराती ने अपना स्वतंत्र रूप विकसित किया और कालान्तर में वह एक अलग भाषा हो गई। उधर आधुनिक राजस्थानी ने अपना नया रूप ले लिया। कई विद्वानों ने डा० टैसीटरी की इस मान्यता के प्रति शंका की है। उनके मतानुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थान का समय १५ वीं शताब्दी तक ही माना जाना चाहिए क्योंकि आधुनिक राजस्थानी का रूप १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गया था। पर यह भी सत्य है कि १६ वीं शताब्दी की भाषा प्राचीन राजस्थानी के ही अधिक निकट है अतः भाषा की दृष्टि से इस शताब्दी को सन्धि-काल मानना अधिक उपयुक्त होगा जालोर में सं० १५१२ में पद्मनाभ विरचित 'कान्हड़दे प्रबध' को गुजराती विद्वान् जूनी गुजराती का ग्रंथ मानते हैं अतः उसे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का ही ग्रंथ कहा जा सकता है न कि आधुनिक राजस्थानी का। १६ वीं शताब्दी में राजस्थानी साहित्य को विस्तार मिला है। उसमें निखार भी आया है और कई प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी हुए हैं। पर साहित्य को नया मोड़ देने वाले कवियों का प्रादुर्भाव १७ वीं शताब्दी में ही हुआ है। डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवि राठौड़ पृथ्वीराज, दुरसा आढ़ा, ईसरदास, सांदया झूला आदि इसी शताब्दी के कवि हैं। कवि हरराज द्वारा राजस्थानी के महत्त्वपूर्ण छन्द-शास्त्र 'पिंगल शिरोमणि' की रचना भी इसी शताब्दी में हुई अत: मध्यकाल का प्रारंभ १६ वीं शताब्दी के अंत से ही मानना उचित होगा, जब कि मुगल शासन को भी यहां पर स्थिरता प्राप्त होने लग गई थी और जन संस्कृति में एक नया आन्दोलन भक्ति साहित्य के माध्यम से प्रारम्भ हो गया था। वैसे इस तरह का काल-विभाजन किसी भी साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। एक निश्चित सीमा-रेखा खींच कर प्रत्येक काल को एक दूसरे से पृथक करना तो संभव है ही नहीं क्योंकि सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ भाषा और साहित्य का क्रमिक विकास होता है। इस विकास-क्रम का सूत्र कहीं भी टूटता नहीं। एक युग की भाषागत और साहित्यिक विशेषताएं किसी न किसी रूप में दूसरे युग की रचनाओं को भी प्रभावित करती हैं।

इस काल की साहित्यिक परम्परा को समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक व सामाजिक परिस्थितियों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से संघर्षपूर्ण रहा। यहां के हिन्दू राजाओं को अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और पठानों तथा लोदी वंश के शासकों से निरंतर लोहा लेना पड़ा जिसकी झांकी इस काल के साहित्य में भी पाई जाती है। अन्त में महाराणा संग्रामसिंह के साथ

---

1. मुझे यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं दीख पड़ती कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कम से कम सोलहवीं शताब्दी तक की किसी अवधि तक जाकर समाप्त हुआ होगा। लेकिन बहुत सम्भव है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी इस सीमा के बाद भी रही हो—और नहीं तो इसकी कुछ विशेषताएं तो विराजत हों।

डॉ. टैसीटरी, पुरानी राजस्थानी, पृ. १०, अनु. नामवरसिंह।

बाबर का निर्णायक युद्ध (सं. १५८४) हुआ और संग्रामसिंह की हार के साथ ही मुगल-सल्तनत की नींव भारतवर्ष में कायम हो गई। पर इसके बाद भी राजस्थान के लोगों ने विदेशी सत्ता के सामने पूर्ण समर्पण नहीं किया। इतने बड़े संघर्ष के कारण सामाजिक उथल-पुथल भी स्वाभाविक ही थी। इस संकटकालीन स्थिति में भी यहां की जनता ने अपने धर्म और संस्कृति को ही प्रधानता दी और किसी तरह के लोभ में आकर भी विदेशियों की संस्कृति को स्वीकार नहीं किया। जो योद्धा, धर्म, सस्कृतिक और असहाय की सहायतार्थ युद्ध कर के प्राणोत्सर्ग करते थे, जनता उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इस प्रकार जूझ कर मरने वाले जूझारों की लोग आज भी देवताओं की तरह पूजा करते हैं।

भाषा की दृष्टि से इसमें अई और अऊ के प्रयोगों की बहुलता है, पर विदेशियों के साथ सम्पर्क बढ़ने से यहां की भाषा में कुछ अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रचलन अवश्य हो गया जिसका उदाहरण इस काल की महत्वपूर्ण रचना 'अचळदास खीची री वचनिका' में देखा जा सकता है।

इस काल के साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) जैन साहित्य
(२) जैनेतर साहित्य
  (i) चारण-शैली का साहित्य
  (ii) भक्ति साहित्य
(३) लोक साहित्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह काल संघर्ष और सामाजिक उथल-पुथल का काल रहा है, पर इस समय का वीररसात्मक साहित्य बहुत अधिक उपलब्ध नहीं होता है। अधिकांश साहित्य जैन-धर्मावलंबियों द्वारा रचा गया है। इस काल की सैकड़ों जैन रचनाएँ आज भी उपलब्ध होती हैं। जैन मुनियों और श्रावकों ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए नवीन साहित्य का ही सृजन नहीं किया, प्राचीन भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रंथों की टीकाएँ टब्बे, बालावबोध, पद्यात्मक अनुवाद आदि भी बहुत किये और महत्वपूर्ण साहित्य को उपाश्रयों आदि में सुरक्षित रख कर नष्ट होने से बचाया। इस काल का प्रमुख साहित्य, जैन साहित्य ही है। धार्मिक उद्देश्य से लिखे जाने के कारण ही इसे साहित्यिक महत्व बिलकुल न देना अनुचित होगा। इस काल के साहित्य का वास्तविक महत्व स्वदेश-प्रेम के लिये संघर्ष की उदात्त भावना को उद्दीप्त करना है और संस्कृति की रक्षा हेतु आत्मबल प्रदान करना है। जैन धर्मावलंबियों ने इस प्रकार से राजस्थानी भाषा और साहित्य की महान् सेवा की है जिसका महत्व राजस्थानी साहित्य के इतिहास में कभी कम न होगा।

जैनेतर साहित्य में चारण साहित्य, भक्ति साहित्य और प्रेमगाथात्मक साहित्य की गणना की जा सकती है। चारण शैली में लिखी गई वीररसात्मक रचनाओं में सिवदास गाडण कृत 'अचळदास खीची री वचनिका' बादर ढ़ाढ़ी रचित 'वीरमायण', श्रीधर व्यास का 'रणमल्ल छंद' आदि प्रमुख हैं। 'वीरमायण' की बहुत प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध नहीं होतीं और मौखिक परम्परा के कारण उसमें भाषागत परिवर्तन के साथ-साथ

कई एक ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। इस काल के जैन रचनाकारों में धनपाल, जिनवल्लभ सूरी, अभयतिलक, धर्मशेखर, सुमतिप्रभ राजशेखर सूरि, शालिभद्र सूरि, विनयचंद्र सूरि आदि प्रमुख हैं। 'अचलदास खीची री वचनिका' इस काल की भाषा और शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ० टैसीटोरी ने भी इसे एक समसामयिक महत्वपूर्ण कृति[1] कह कर इसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इन महत्वपूर्ण काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त कई स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं। शृंगाररसात्मक रचनाओं में आसाइत रचित हंसाउली, ढोला मारू रा दूहा, जेठवे रा सोरठा आदि उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ भी इसी समय में रची गईं। इस काल की प्रसिद्ध रचना 'बीसलदे रासो'[2] को कई विद्वानों ने वीररसात्मक साहित्य के अन्तर्गत लिया है, पर उसका भी मुख्य विषय शृंगारिक ही है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण डिंगल-गीत-विधा का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ। प्राचीनता की दृष्टि से १४ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि बारूजी सौदा का नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे गीत-विधा की प्राचीनता के कई एक प्रमाण इसके पहले भी मिलते हैं।[3] १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में तो गीत-रचना काफी परिमाण में हुई। इस काल के योद्धाओं पर लिखे गये गीत डिंगल साहित्य की अमूल्य निधि हैं।[4] इन गीतों में उस काल की संघर्षमयी भावना, जातीय गौरव और धरती-प्रेम का बड़ा ही ओजस्वी और रोमांचक चित्रण मिलता है।

भक्ति साहित्य में नाथ संप्रदाय और कबीर आदि संतों की संत-परम्परा का प्रभाव राजस्थानी में भी आया। १६ वीं शताब्दी में अलूनाथ बहुत प्रसिद्ध भक्त कवियों में से हुए हैं। उनकी रचनाएँ आदि काल और मध्य काल के बीच रची गईं, जिससे भाषागत परिवर्तन का बारीकी से अध्ययन करने के लिए भी वे विशेष रूप से उपयोगी हैं। मीरां का प्रादुर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ और उनका प्रभाव गुजरात और उत्तरी भारत के अनेक जनपदों में आगे जाकर फैला।

इस काल का अधिकांश साहित्य दोहा, सोरठा, गाहा, गीत, झूलणा, नीसांणी, चौपाई, पद्धरी आदि छंदों में छन्दोबद्ध हुआ है। जैन व भक्ति साहित्य का बहुत-सा भाग राग रागिनियों के आधार पर पदों में भी रचा गया है।

जितना प्राचीन गद्य राजस्थानी में उपलब्ध है उतना शायद बहुत कम आधुनिक भारतीय भाषाओं में होगा। राजस्थानी गद्य के उदाहरण १२ वीं शताब्दी तक में मिलते

---

१ Bardic and Historical Survey Part I, Bikaner P. 41

२ वीरमायण और बीसलदे रासो को कई विद्वान इतना प्राचीन नहीं मानते पर इन रचनाओं के सहज लौकिक वातावरण को देखते हुए ऐसा लगता है कि इनका मूल रूप अवश्य प्राचीन रहा होगा, चाहे वे लिपिबद्ध बाद में ही हुई हों और समय के व्यवधान से उनके ऐतिहासिक तथ्यों में वह प्रामाणिकता न रह गई हो।

३ मरु भारती, वर्ष ८ अंक १ में देखिये मेरा लेख 'डिंगल गीतों का उद्भव और विकास'

४ 'महाराणा यश-प्रकाश' में भूरसिंह शेखावत द्वारा संगृहीत गीत तथा उदयपुर के साहित्य संस्थान द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन राजस्थानी गीत' इस सम्बन्ध में अवलोकनीय हैं।

हैं।[1] जैन लेखकों द्वारा इस काल में बहुत-सा गद्य लिखा गया। गद्य का सुन्दर उदाहरण 'अचळदास खीची री वचनिका' में भी देखा जा सकता है। मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण टीकाएँ और अनुवाद भी इस काल में हुए हैं।

इस समय के लोक साहित्य में पवाड़ों का प्रमुख स्थान है। बारहठ किशोरसिंहजी के मतानुसार तो पवाड़े राजस्थानी साहित्य की प्राचीनतम धरोहर हैं।[2] पाबूजी राठौड़, बगड़ावत और निहालदे सुल्तान के पवाड़े लोक-काव्य के ऐसे वट-वृक्ष हैं जिनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ बढ़ती ही रही हैं और आज तो उनकी गणना करना ही कठिन-सा हो गया है। इन पवाड़ों में अनेक नायक-नायिकाओं और तत्कालीन-समाज का विस्तृत चित्रण सरल एवं सरस लोक शैली में देखने को मिलता है।[3] आज भी यहां की भील जाति रावणहत्थे पर पाबूजी के पवाड़े बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से गाती है जिन्हें सुनते ही रोमांच हो आता है। बगड़ावतों की दानशीलता और वीरता के पवाड़े प्राय: गुर्जर लोग गाते हैं। इनके अतिरिक्त कई छोटे-बड़े प्रेमगाथात्मक गीतों और दोहों-सोरठों के माध्यम से भी लोक साहित्य विकसित हुआ जिनमें से अनेक को सम्बन्ध-सूत्र अपभ्रंश की कई रचनाओं से भी जोड़ा जा सकता है।

लोक साहित्य की यह परम्परा मौखिक ही रही जिससे उस काल का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया। जो कुछ आज उपलब्ध है वह भी बड़ी तेजी से नष्ट होता जा रहा है। अत: इन्हें लिपिबद्ध कर के प्रकाशित करना तो आवश्यक है ही, पर यदि इनके गायकों की संगीतात्मक वाणी को टेप रेकॉर्ड के माध्यम से सुरक्षित कर लिया जाय तो आगे आने वाली पीढ़ियां भी इन पवाड़ों का सही मूल्य जान सकेंगी क्योंकि यह संगीतात्मकता ही इनकी असली आत्मा है। ये हमारी जन-संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं जिनमें उस समय के आदर्श अपने सही रूप में सुरक्षित हैं।

आदिकालीन राजस्थानी साहित्य संबंधी सामग्री हस्तलिखित ग्रंथों और शिलालेखों आदि के माध्यम से आज भी उपलब्ध होती है, पर न जाने कितने हस्तलिखित ग्रंथ कई कारणों से नष्ट हो चुके हैं। जो कुछ बचे हैं वे शोधकर्ताओं को आसानी से उपलब्ध नहीं होते और दिनोदिन नष्ट होते ही जा रहे हैं। पिछले कुछ ही वर्षों में कितने ही हस्तलिखित ग्रंथ और चित्र आदि कबाड़ियों और व्यापारियों द्वारा इधर उधर कर दिये गये हैं। ऐसी स्थिति में समाज का यह बहुत बड़ा दायित्व है कि इस अमूल्य निधि को कालकवलित होने से बचायें। इस दिशा में किये गये प्रयत्न साहित्य और इतिहास के लिए बहुत हितकर होंगे, क्योंकि इस काल की छोटी से छोटी रचना का भी कई दृष्टियों से महत्व है।

---

१. द्रष्टव्य : इसी ग्रंथ का लेख-राजस्थानी गद्य री परम्परा ने आधुनिक विकास।

२. चारण-भा. १, पृ. १५४

३. विस्तृत जानकारी के लिए 'मरु भारती' में डा. कन्हैयालाल सहल द्वारा सम्पादित पवाड़े तथा उषा मलहोत्रा के लेख देखिये।

राजस्थानी साहित्य की कुछ आदिकालीन रचनाओं को हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने हिन्दी की प्रारंभिक रचनाएं मान कर भाषा और रचना-प्रणाली की दृष्टि से विचार किया है। परन्तु उनमें से कई विद्वानों का अध्ययन एकांगी और अपूर्ण रहा जिससे कई एक भ्रामक धारणाएं प्राचीन राजस्थानी के सम्बन्ध में भी हो गई। वीसलदेव रासो, आदि के अतिरिक्त कितना विशाल साहित्य, विविध शैलियों में, इस काल में लिखा गया उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। प्राचीन राजस्थानी की रचनाओं को हिन्दी के आदि काल के अंतर्गत लेकर उसे चारणों तथा भाटों द्वारा रचित प्रशस्ति-काव्य मात्र मानने से भी उसकी वास्तविक विशेषताओं की उपेक्षा हुई। वस्तुस्थिति यह है कि राजस्थानी का इतना विशाल और विविधतापूर्ण साहित्य यहां की अपनी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि में भाषा व शैलीगत विशेषताओं को लेकर अवतरित हुआ है कि वह अपने आप में एक अलग विरासत बन गया है। उसका अलग से गहन अध्ययन किया जाना आवश्यक है। ऐसा किये बिना हम अपने देश की एक बहुत महत्वपूर्ण साहित्य-परम्परा का समुचित मूल्यांकन नहीं कर पायेंगे।

राजस्थानी साहित्य का मध्य काल

राजस्थानी साहित्य का यह काल परिमाण एवम् स्तर दोनों ही दृष्टियों से महत्व का है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास में इसे स्वर्णकाल की संज्ञा निःसंकोच दी जा सकती है। विधागत वैविध्य और शैलीगत परिपक्वता इसी काल की देन है।

१६ वीं शताब्दी के अंत में मुगल सल्तनत की नींव भारत में जम चुकी थी, हुमायु के बाद अकबर ने अपनी राजनैतिक दूरदर्शिता से समूचे देश पर अपना दृढ़ शासन कायम कर दिया था और मेल-जोल की नीति से यहाँ की सामाजिक व्यवस्था पर भी उसने बड़ा प्रभाव डाला। राजस्थान के सभी शासकों ने उसकी अधीनता स्वीकार करली पर राणा प्रताप, चंद्रसेन, राव सुरताण आदि अपने स्वत्व की रक्षा के लिये जीवन भर संघर्ष करते रहे। राजस्थान के अन्य शासकों ने अकबर की अधीनता अवश्य स्वीकार की पर वे अपने राज्य-कार्य में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं चाहते थे, इसलिए वे अपनी सैनिक शक्ति को हरदम बनाये रखते और कई बार छोटे-बड़े युद्ध भी राजनैतिक कारणों से होते ही रहते थे, अकबर ने अपने साम्राज्य के ढांचे का मूल आधार मनसब-प्रथा को रखा और यहां के शासकों को उनकी सैनिक शक्ति के अनुसार मनसब[1] देकर उसने उनकी शक्ति का उपयोग अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने में किया। इस व्यवस्था के अनुसार यहां के शासकों को विभिन्न सूबों का बन्दोबस्त भी सौंपा जाता था और उन्हेंससैन्य शाही सेना के अभियानों में भाग लेना पड़ता था। अकबर के बाद भी यही व्यवस्था चलती रही, पर कभी राज्य-गद्दी के झगड़ों को ले कर और कभी आपसी मन-मुटाव के कारण भी अनेकों लड़ाइयां होती रहीं।

औरंगजेब की हिन्दू-राज्यों को हड़पने की नीति और धार्मिक पक्षपात ने तो दक्षिणी भारत तथा राजस्थान को बहुत सजग कर दिया था। दक्षिण में क्रांति का नेतृत्व शिवाजी ने किया तो राजस्थान में राठौड़ दुर्गादास ने स्वाधीनता का संकल्प ले कर औरंगजेब की सेनाओं के साथ कितने ही युद्ध किये। इस समय के बाद में शताब्दियों से संघर्ष करती रहने वाली यहाँ की राज्य-सत्ता काफी कमजोर हो चुकी थी, इसलिये राजस्थान को दक्षिण के आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा। तदुपरान्त दिल्ली सल्तनत की कमजोरी

---

१. द्रष्टव्य—मारवाड़ रा परगनां री विगत, प्रथम भाग का सम्पादकीय।

तथा यहां के शासकों की आपसी फूट से लाभ उठा कर अंग्रेजों ने आ दबाया। प्रारंभ से अंग्रेजों को राजस्थान में अपनी सत्ता जमाने के लिये काफी संघर्ष करना पड़ा। भरतपुर के घेरे में जनरल लेक को जिस प्रकार की मुंह की खानी पड़ी उसी तरह जोधपुर के महाराजा मानसिंह के साथ संधि करने में और फिर लगान आदि वसूल करने में अनेक राजनैतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि १६ वीं शताब्दी से ले कर १६ वीं शताब्दी तक काफी राजनैतिक उथल-पुथल और युद्ध-विग्रह चलता रहा, जिसके फलस्वरूप यहां के चारण कवियों ने वीरत्व की भावना को जगाने तथा युद्ध-भूमि में धर्म तथा देश की रक्षा के लिये प्राणों की बाजी लगा देने की प्रेरणा से ओतप्रोत वीररसात्मक साहित्य की बहुत बड़े परिमाण में रचना की। सच्चे योद्धा की वीरता को सराहना यहां के कवियों का मुख्य कर्त्तव्य था। उदयपुर का एक योद्धा वीरता के साथ लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ तो मारवाड़ के कवि ने अपने गीत द्वारा उसे श्रद्धांजलि अर्पित की और दूसरे ही दिन जहां मारवाड़ के वीर योद्धा ने अद्वितीय पराक्रम दिखाया तो बीकानेर में बैठे कवि ने 'नीसांणी' कह कर उस योद्धा के कुल को बिरुदाया। जहां योद्धाओं ने युद्ध में प्राण त्यागे वहां उनकी पत्नियों ने अपने नश्वर शरीर को अग्नि को समर्पण कर दिया—कवि ने नारी के इस त्याग और बलिदान की दूने जोश के साथ प्रशंसा की।

इस प्रकार का बलिदान केवल भूमि की रक्षा के लिये या राजनैतिक कारणों से ही हुआ हो सो बात नहीं। हजारों योद्धाओं ने गायों, मंदिरों और नारी के सम्मान की रक्षा के लिये शत्रु को ललकारा है और मरने को मंगल मान कर मृत्यु रूपी सुन्दरी का आलिंगन किया है। इस प्रकार के बलिदानों पर लिखा गया डिंगल काव्य अपनी मौलिकता और मानव के स्वाधीन चेता जीवन-मूल्यों की दृष्टि से बेजोड़ है। उनके सम्बन्ध में लिखे गये गीत, दोहे, छप्पय, झूलणा, नीसांणी, पवाड़े आदि शताब्दियों तक यहां के वातावरण में गूंजते रहे हैं। बहुत-सा मूल्यवान साहित्य अब तक लुप्त भी हो चुका है पर जो कुछ है उसके अध्ययन से ही इस प्रकार के साहित्य का महत्व जाना जा सकता है। डिंगल के इस विशाल वीर साहित्य में परम्परा के सहारे परिपाटी-बद्ध रचना करने वालों की संख्या बड़ी है पर उसमें उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएं भी पुष्कल परिमाण में है। गजगुण रूपक, सूरजप्रकाश, राजरूपक, सगत रासौ जैसे बड़े ग्रन्थ भी इस काल में लिखे गये हैं। इस वीर काव्य का महत्व पूर्वाग्रहों से हट कर देखा जाय तो पता चलेगा कि जब मुगल सत्ता से पराजित होकर समस्त उत्तरी भारत भक्ति साहित्य के बहाने पलायन का स्वर अलाप रहा था इस साहित्य ने यहां की जनता को तलवार उठाने की प्रेरणा दी, उस संघर्ष की साक्षी को अमर किया जिसने हमारी संस्कृति और मर्यादा को लाखों वीरों की आहुती देकर बचाया था।

अतः इस प्रकार के साहित्य को केवल प्रशस्तिपरक तथा चारणों की अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावलि मात्र कहना न केवल अपने अज्ञान का परिचय देना है वरन् हमारी विशाल साहित्यिक विरासत की खूबियों को अनदेखा करना है।

यहां की विशिष्ट परिस्थितियों में वीररसात्मक साहित्य की बहुत बड़े परिमाण में रचना होने से लोगों ने डिंगल साहित्य को वीररसात्मक साहित्य का पर्याय भी मान लिया, पर यह धारणा भी सर्वथा भ्रामक है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य में शृङ्गार रस की बहुत सुन्दर और महत्वपूर्ण परम्परा रही है। जीवन जहां संकटमय होता है वहां जीवन की कद्र और भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार के निरंतर संघर्ष में से गुजरने वाले राजस्थान के शृंगाररसात्मक साहित्य को पढ़ कर यहां के लोगों की जिन्दादिली और सौन्दर्य के उपभोग की अमिट लालसा का अन्दाज लगता है। इस समय में घटने वाली प्रेम की घटनाओं का कवियों ने अपने काव्य और वातों में बड़े ही सरस ढंग से वर्णन किया है। जीवन की वास्तविकता के बीच प्रेम और सौन्दर्य का ऐसा चित्रण किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है। बाघा भारमली, आभल खींवजी, जलाल बूबना, नागजी नागवंती, सैणी बीजाणंद, पृथ्वीराज चम्पादे आदि की प्रेम-गाथाओं को ले कर लिखे गये दोहे यहां की जनता के कंठहार बन गये हैं। उनका वह भावात्मक गौरव जनता के हृदय में सदा के लिये घर कर गया क्योंकि उनमें मानव-भावनाओं की सही एवम् निश्छल अभिव्यक्ति है। यह काव्य प्रेम-काव्य होते हुए भी नायिकाओं की श्रेणियों का शास्त्रीय वर्गीकरण नहीं है जैसा कि रीति-कालीन परम्परा में पाया जाता है। इसलिये इस शृंगाररसात्मक साहित्य की सहजता यहां की नारी के हृदय में स्थित अनुराग और उत्सर्ग भावना का बहुत महत्वपूर्ण चित्रण है। इन प्रेम-गाथाओं ने यहां की चित्रकला को भी कितना प्रभावित किया है यह अनुमान प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में लिपिबद्ध सचित्र वातों को देखने से लगाया जा सकता है। मेरे खयाल से धार्मिक आख्यानों के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर यहां के चित्रकारों ने रंगों व आकृतियों का इतना प्रयोग नहीं किया जितना इन प्रेम-गाथाओं को ले कर किया है। इस काव्य में प्रकृति का जितना महत्वपूर्ण चित्रण शब्दों में हुआ उतना ही सुन्दर चित्रण चित्रों के रंगों में भी हुआ है।

इस काल में जहां वीर एवम् शृंगाररसात्मक काव्यधाराएँ अविरल गति से बहती रही हैं वहां भक्ति साहित्य की धारा भी अबाध-गति से आगे बढ़ती रही। राजस्थानी साहित्य की इस त्रिवेणी की साक्षी यहां के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'वेलि क्रिसन रुकमणि री' में देखने को मिलती है, जो इस काल का प्रतिनिधि काव्य-ग्रंथ माना जाता है।

जैन-धर्मावलम्बी राजस्थान व गुजरात में पहले से ही अपने धर्म प्रचार में क्रियाशील थे। इधर उत्तरी भारत में भक्ति की जो लहर उमड़ी उसने राजस्थान को भी आप्लावित कर दिया। निर्गुण तथा सगुण दोनों ही मतों के अनुयायियों ने राजस्थानी में असंख्य छंदों में भक्तिपरक साहित्य की रचना की है। निर्गुण सम्प्रदाय में जहां कबीर का स्वर सब से ऊपर सुनाई पड़ता था वहाँ सगुण में मीरां की मृदु वाणी भक्तों के हृदय में गहरी उतर चुकी थी। जिस प्रकार कबीर भारत के बहुत बड़े भाग में अपनी ज्ञान भरी साखियों के लिए मान्य हुए, वैसे ही मीरां अपनी प्रेम-भावना के लिये करोड़ों कंठों में स्थान बना सकी। निर्गुण सम्प्रदायों में नाथ सम्प्रदाय का भी प्राचीन काल से ही यह अच्छा प्रचलन था। जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी के समय में तो नाथों का महत्व

मारवाड़ में अत्यधिक बढ़ गया था। इसके अतिरिक्त जसनाथी, दादूपंथी, निरंजनी, रामस्नेही, चरणदासी, लालदासी, विश्नोई आदि अनेक सम्प्रदायों के संतों ने अपना ज्ञान वाणियों के माध्यम से प्रकट किया। भारतीय संत-परम्परा में यहाँ के इन संत कवियों का बड़ा भारी योग रहा है और आज भी उनकी वाणियों का प्रचलन यहाँ के जन-जीवन में है।

जहां तक सगुण भक्ति का संबंध है, राम और कृष्ण संबंधी विपुल साहित्य यहाँ के भक्तों ने रचा है। शक्ति-पूजा की परिपाटी भी राजस्थानी जन-जीवन की बहुत बड़ी विशेषता रही है इसलिये देवी के विभिन्न रूपों पर भी अनेक कवियों ने रचनाएँ की है। कृष्ण-भक्तों में मीरां का स्थान सर्वोपरि है, इनके अतिरिक्त कवयित्रियों में बख्तावर, सम्मानबाई, रणछोड़कुंवरि, राणी बांकावती, सुन्दरकुंवरि आदि ने सरल भाषा के माध्यम से सरस पदों की रचना की। इन पदों की गेयता के कारण जन-जीवन में भी इनका प्रचार हुआ तथा स्त्री-समाज में भक्ति-भावना का प्रसार करने में भी उनका बड़ा योगदान रहा। कई कवियों ने कृष्ण व रुक्मणी के सम्बन्ध को ले कर वेलियों की रचना की, जिनमें राठौड़ पृथ्वीराज की 'वेलि' का उल्लेख हम कर आये हैं। करमसी सांखला की वेलि भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। सांयाजी झूला का 'रुक्मणी-हरण' भी इसी विषय का काव्य है पर उनके 'नागदमण' में अधिक सहजता और स्फूर्ति है। इनके अतिरिक्त अन्य कई स्फुट रचनाएँ इस सम्बन्ध में अज्ञात कवियों द्वारा लिखी हुई मिलती है।

राम-भक्ति शाखा के प्रवर्तक कवियो में माधोदास दधवाड़िया का 'रांमरासो' बड़ा प्रसिद्ध ग्रंथ है। राम-कथा को लेकर पिंगल सिरोमणि, रघुनाथरूपक, रघुवरजस प्रकास, गुणपिंगळ प्रकास, हरिपिंगळ जैसे छन्द शास्त्र के ग्रंथों का निर्माण हुआ है। मूलतः ये ग्रंथ छंदों आदि के लक्षण प्रकट करने के लिए लिखे गये पर कई स्थलों पर कवियों की भक्ति-भावना भी बड़े सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हुई है। राम-भक्ति का काफी प्रसार होने पर भी कृष्ण-भक्ति की यहां प्रमुखता रही है और इस विषय पर काव्य-रचना भी अधिक मिलती है।

यहाँ की चारण जाति में अनेकों देवियां हुई हैं जिनकी पूजा चारण जाति तो करती ही है पर राजपूतों के विभिन्न कुल उन्हें अपनी इष्ट देवी मान कर बड़ी श्रद्धा के साथ पूजते आये हैं। इन देवियों में, आवड़जी, करणजी, तेमड़ाजी आदि पर अनेकों कवियों ने काव्य-रचना की है। ये रचनाएँ प्रायः विशुद्ध डिंगल में लिखी हुई हैं और उनमें देवियों के विभिन्न चमत्कारों का वर्णन बड़ी प्रभावपूर्ण शैली में किया गया है। यहां के इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख है जहाँ देवी का इष्ट रखने वाले योद्धा को संकट के समय देवी ने सहायता दी है, इसलिये उनके प्रति यहाँ के समाज में विशेष आस्था है।

धार्मिक साहित्य में बहुत अधिक परिमाण में जैन सम्प्रदाय का साहित्य मिलता है। जैनियों की दो प्रमुख शाखायें दिगम्बर एवम् श्वेताम्बर हैं। श्वेताम्बर शाखा के साधुओं का यहां विशेष रूप से प्रभाव रहा, इसलिये श्वेताम्बर शाखा की विभिन्न उपशाखाओं के आचार्यों व मुनियों ने अपने धर्म-प्रचार के लिये बहुत से साहित्य की रचना सरल राजस्थानी

में की। यह साहित्य मुख्यतया धार्मिक सिद्धान्तों तथा व्याख्यानों तक ही सीमित रहा पर कई प्रतिभासम्पन्न कवियों ने रास, चौपाई, चरिउ आदि सुन्दर रचनाएँ लिख कर साहित्य की भी अभिवृद्धि की। कई कवियों ने धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रन्थ भी लिखे। इस प्रकार के कवियों में कुशललाभ का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाना चाहिए। जैन धर्मावलंबियों ने साहित्य-सर्जन के अतिरिक्त जिस लगन के साथ प्राचीन साहित्य का संग्रह मंदिरों, ओपासरों आदि में किया है वह उनकी इस भाषा के लिए बहुत बड़ी सेवा है। प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद कर के भी उन्होंने इस भाषा की समृद्धि में असाधारण योग दिया है। इस काल का नीति-काव्य यहाँ की जनता के अनुभवों का एक प्रकार से भावात्मक कोश है। देवीदास के कवित्त केहर की कुंडलियां तथा राजिया, वींजरा, चकरिया व ईलिया के सोरठे आज भी घर-घर में सुने जाते हैं। व्यवहारिक जीवन को संतुलित बनाने में इनका अपना योगदान है। अनपढ़ जनता के लिये इन्होंने पाठशाला का काम किया है। अल्प काव्य-रचना करके भी इनके कवि अमर हो गये हैं।

सभी प्रकार के विषयों पर जहाँ इस काल में काव्य रचना हुई वहाँ लक्षण-शास्त्र का विषय भी अछूता नहीं रहा। इस काल में लिखे गये ६-७ छंदशास्त्र के ग्रन्थ हमें उपलब्ध हुए हैं। उनमें प्राचीन छन्द-परम्परा का सहारा लेते हुए डिंगल काव्य-रीति सम्बन्धि अनेक प्रकार की नई जानकारी भी दी गई है। इन छन्द-शास्त्रों में पिंगळ-सिरोमणि, कविकुळबोध, रघुवरजसप्रकास तथा रघुनाथरूपक विशेष महत्व के हैं। ये छन्द-शास्त्र इस बात के भी प्रमाण हैं कि डिंगल की काव्य-रचना कितनी नियमबद्ध और सुव्यवस्थित थी।

काव्य-सृजन इस काल में जहाँ चरम उत्कर्ष पर पहुँचा वहाँ गद्य साहित्य भी पिछड़ा हुआ नहीं रहा। राजस्थानी गद्य निर्माण की परम्परा प्राचीन काल से ही प्रवहमान है। बहुत कम भारतीय भाषाओं में इतना प्राचीन गद्य उपलब्ध होता है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयों पर अनेक अज्ञात लेखकों की बातें प्राचीन ग्रंथों में लिपिबद्ध मिलती हैं। इन बातों की भाषा-शैली सुन्दर साहित्यिक स्तर की है। बातों के अतिरिक्त वचनिकाएँ तथा अनेक ख्यातें मिलती हैं। वचनिकाओं में गद्य एवं पद्य का सुन्दर संमिश्रण मिलता है। राठौड़ रतनसिंह महेशदासोत की वचनिका इस काल की बड़ी प्रसिद्ध रचना है। ख्यातों में यहाँ के राज-वंशों का ऐतिहासिक वर्णन है। विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से उनमें चाहे कुछ त्रुटियाँ हों पर सामाजिक जानकारी, राजनैतिक मान्यताओं और अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं की दृष्टि से उनका महत्व असंदिग्ध है। मुहणोत नैणसी री ख्यात के अतिरिक्त, राठौड़ां री ख्यात, बांकीदास री ख्यात, भाटियां री ख्यात, कछवाहां री ख्यात, आदि उनमें उल्लेखनीय हैं। इनकी अनेक पूर्ण-अपूर्ण प्रतिलिपियां प्राचीन पोथियों में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त पीढ़ियों, वंशावलियों, विगतों, वहियों तथा खतों में भी इस काल के गद्य के उदाहरण देखे जा सकते हैं। इससे यह भी प्रतीत होता है कि यहाँ का अधिकांश राज्य-कार्य तथा सामाजिक पत्र-व्यवहार आदि इसी भाषा में होता था और इसका प्रचलन यहाँ की रियासतों के राज्य कार्य में भी था। इस काल की पत्रावली जहाँ राजस्थानी भाषा की एकरूपता को प्रमाणित करती है वहाँ इसकी व्यवहारिकता की भी पुष्टि करती है।

राजस्थानी में अनुवादों की परम्परा जो १४वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई थी वह मध्य काल में आकर और भी विस्तृत हो गई। राजस्थानी पद्य और गद्य में अनेक संस्कृत व प्राकृत के ग्रंथों के अलावा कई फारसी के ग्रन्थों के अनुवाद भी मिलते हैं। विषय के वैविध्य की दृष्टि से इस अनुवादित साहित्य की अपनी देन है। रामायण, भागवत्, पुराण, हितोपदेश, गीता और अनेक जैन ग्रंथों की टीकाएँ तथा अनुवाद आदि उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त वैद्यक, ज्योतिष, नीति, व्याकरण, छंद-शास्त्र, तंत्र विद्या आदि से सम्बन्धित अनेक प्राचीन ग्रन्थों की भाषा-टीका सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। हमारे शोध संस्थान में संग्रहीत राजस्थानी के लगभग १७ हजार हस्तलिखित ग्रन्थों में इस प्रकार का अनुवादित साहित्य अच्छे परिमाण में सुरक्षित है।

विद्वत समाज में मान्यता प्राप्त और प्राचीन ग्रंथों में लिपिबद्ध जहां इतना विविधता-पूर्ण और समृद्ध साहित्य उपलब्ध होता है वहां जन-कंठों में निवास करने वाला और पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्मृति के सहारे समय की यात्रा करने वाला बहुत बड़ा लोक-साहित्य, लोक-मानस की बहुमूल्य निधि रहा है, जिसका महत्व किसी भी प्रांत के लोक-साहित्य से कम नहीं है। असंख्य लोकगीत, पवाड़े, लघु कथाएँ, कहावतें, ख्याल आदि सैकड़ों वर्षों से लोक-जीवन को अनुरंजित करते रहे हैं। मध्यकाल में आकर उनमें और भी विस्तार और परिमार्जन हुआ है। इस साहित्य में जन-भावना के साथ-साथ यहां की जनता की औसत चिंतन शक्ति जीवन संदर्भ और अनेकानेक सामाजिक मान्यताओं का पता चलता है। इस साहित्य के कई अंश तो साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से भी बेजोड़ हैं। लोकगीतों तथा पवाड़ों आदि के साथ संगीत का अद्भुत मेल है। अतः संगीत के अध्ययन की दृष्टि से भी उनका अपना महत्व है। आधुनिक सभ्यता के तेजी के साथ बढ़ते हुए चरणों की धूलि में यह साहित्य अब ओझल होता जा रहा है, इस सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन में यहां की मानस-चेतना और भारतीय संस्कृति में राजस्थान का वर्चस्व मुखरित होता है इसीलिये टैगोर जैसे कवि मनीषी इस साहित्य पर मुग्ध हुए थे। वाणी और कर्तव्य परायणता का जैसा सामंजस्य इस काल की कविता में देखने को मिलता है वैसा अत्यन्त दुर्लभ हैं। यदि समाज की आन्तरिक हलचलों सामाजिक मान्यताओं और उस समाज की आत्मा के पोषक-तत्वों का सही विश्लेषण करना है तो हमें इसी साहित्य को देखना होगा क्योंकि इस साहित्य में जहां एक ओर नर और नारी की भावनाओं का सहज संतुलित अंकन मिलता है वहां इस साहित्य ने एक बहुत बड़े तबके को अपने में समाहित किया है जिसका समाज को अनुप्रेरित करने में बहुत बड़ा योगदान रहा है पर जिसे चारण कवियों ने अनदेखा कर दिया और जो शिष्ट साहित्य का विषय नहीं बन सके। इस साहित्य में ऐसी असंख्य नायक-नायिकाएँ हैं जिनका कोई अता पता नहीं पर जिनके हृदय की धड़कन इस साहित्य में सुनाई देती है। सामाजिक औपचारिकताओं से परे उनकी वास्तविकताओं का एक पूरा संसार है, जो मानव जीवन की लालसाओं को अदम्य उत्साह के साथ विपरीत परिस्थितियों में भी जीने को प्रेरित करता है और मानव-समाज के निहित स्वार्थों की सीमाओं का उल्लंघन कर सदा तृष्णा के सागर को आलोड़ित-विलोड़ित करता है। इस सागर के रत्नों को परखने और

उनका आनन्द लेने के लिये भी ऐसी आँखें और हृदय चाहिए जो आधुनिक सभ्यता और मानदण्डों की चकाचौंध से भ्रमित न हों और जिनके हृदय में शाश्वत जीवन की लहरें चित्रित होती हों। आज के रचनाकार को अधर में भूलने के बजाय यदि परम्परा से जुड़ना हो तो उसे इस सूत्र पकड़ना होगा, पर यह तभी संभव हैं जब जनजीवन के करीब पहुँचा जाय। पोथियों में उतारने के बाद इस साहित्य की वह भावात्मकता हाथ नहीं लगती जिसमें इसका प्रेरक मर्म धरती की सौरभ के साथ प्रस्फुटित हुआ है और जिसमें हर गायक अथवा कलाकार अपने हृदय को ऊँडेल कर उस मर्म में ताजगी भरता है।

राजस्थानी साहित्य आधुनिक काल

(पूर्वार्द्ध वि० संवत् १६०० से २००४)

१६ वीं शताब्दी (वि.) के अंतिम चरण में अंग्रेजों के साथ यहां की सत्ता का संघर्ष प्रारंभ हो गया था। जैसा राजस्थान का इतिहास रहा है, इस समय में भी अंग्रेजों की उभरती हुई शक्ति का मुकाबला करने के लिये यहां के सभी शासक एक जूट नहीं हुए। इस समय तक आते आते उनकी आर्थिक हालत गृह-युद्धों और मरहठों के आक्रमणों के कारण बहुत कमजोर हो चुकी थी और आन्तरिक व्यवस्था में भी बिखराव-सा आ गया था, सामंत गण अधिक शक्तिशाली हो गये थे और अधिकांश रजवाड़े गद्दी नशीनी के झगड़ों और षड़यंत्रों के कारण भी जर्जर हो चुके थे। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों को यहां अपना प्रभुत्व जमाने में विशेष जोर नहीं लगाना पड़ा है, भरतपुर व डूंगरपुर जैसे इक्के दुक्के शासकों ने उनका डटकर मुकाबला अवश्य किया था। इसी संघर्ष के दौरान मराहठा शक्ति का आखरी प्रतीक जसवंतराव होल्कर भी निष्प्रभ हो गया था, मीरखां जैसे लुटेरों को कुछ ले देकर राजी करने के पश्चात यहां के सभी शासकों के साथ संधि-नामा लिखवा लिया जिसके अधीन यहां की शासकीय शक्ति अंग्रेजों की मुखापेक्षी हो गई थी। संवत १६१४ में जब क्रांति की लहर पूरे उत्तरी भारत में फैली तो राजस्थान भी इससे अप्रभावित नहीं रहा। कोटा, आउवा, सलूंबर व कोठारिया में इस संघर्ष ने बड़ा उग्ररूप धारण किया और एक बार अंग्रेजों के पैर उखड़ से गये थे पर उनकी सहायता करने वाले लोगों की भी कमी नहीं थी। ऐसे समय में जोधपुर, बीकानेर आदि के शासकों ने संधि के माफिक अंग्रेजों की सहायता की और अंग्रेजों का डांवाडोल शासन फिर जम गया परन्तु इस संघर्ष की अनुगूंज यहां के राजस्थानी काव्य में जिस ओज के साथ प्रकट हुई वह वास्तव में राजस्थान की चिरंतन दृढ़ आत्मा की साक्षी देती है।

इसके पश्चात राजस्थान में कोई बड़ी सैनिक हलचल नहीं हुई पर स्वामी दयानन्द के स्वदेश प्रेम और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रचार का ज्यों ज्यों राजस्थान में प्रभाव बढ़ा उसमें एक प्रकार की आत्मशक्ति का संचार हुआ जो जागरण का एक महत्वपूर्ण कारण बना और तदुपरान्त महात्मा गांधी के विचारों का जनता पर ज्यों ज्यों प्रभाव बढ़ने लगा अहिंसात्मक आन्दोलन जोर पकड़ने लगा।

जगह जगह पर प्रजा मंडलों की स्थापना हुई और गोरी सत्ता से संघर्ष लेने के लिये जनता कटिबद्ध हुई। इनका संघर्ष दुहरा था। एक ओर वे विदेशियों के शासन से संत्रस्त देश को मुक्ति दिलाना चाहते थे तो दूसरी ओर गरीब जनता का सामन्तों द्वारा वैठ वेगार आदि के रूप में किये जाने वाले शोषण को भी समाप्त करना चाहते थे। इन आन्दोलनों में बीजोलिया आन्दोलन तथा भील आंदोलन का बड़ा ऐतिहासिक महत्व हैं। जन-जागृति के अनुरूप ही इन भावनाओं की अभिव्यक्ति यहाँ की सरल राजस्थानी भाषा में हुई है, जनता की सामूहिक भावना को व्यक्त करने वाले अनेक लोकगीत उस समय घर घर में गाये जाने लगे थे और ग्राम सभाओं में इन गीतों के द्वारा जनता का मनोबल जागृत किया जाता था। इस अहिंसात्मक आंदोलनकारी माहौल के बीच में खरवा राव गोपालसिंह व बलजी भूरजी जैसे कुछ खड़ग धारी क्रांतिकारी लोग भी थे जो समय आने पर तलवार बजाने से नहीं चूकते थे और आंदोलनकारियों की भी हर प्रकार से सहायता करते थे।

लगभग एक शताब्दी का यह संघर्षकाल अपने ढंग का अनूठा है और राजस्थानी साहित्य के इतिहास में सर्वदा नये पृष्ठ जोड़ता है परन्तु कुछ ही समय पहले इस साहित्य के महत्व से लोग अनभिज्ञ ही थे और अनेक विद्वानों ने यह धारणा बनाली कि अंग्रेजी शासन काल में राजस्थानी साहित्य का श्रोत सूख गया और यहां हिन्दी का प्रचार प्रसार प्रमुख रूप से होने लगा परन्तु वास्तविक स्थिति दूसरी है। सन १९५७ में जब सन १८५७ की प्रथम राष्ट्र-क्राँति मनाने की तैयारियां की जाने लगी तो मेरा ध्यान राजस्थान में अंग्रेजों के साथ हुए संघर्ष को अभिव्यक्त करने वाले साहित्य की ओर गया और इस समय जो भी सामग्री एकत्रित की जा सकी वह टिप्पणी सहित हमने परम्परा के "गोरा हटजा" अंक में प्रकाशित की। सर्व प्रथम इसी प्रयास से यह अहसास हुआ कि इस काल की सामग्री की यदि पूरे राजस्थान में खोज की जाय तो पुष्कल परिमाण में महत्वपूर्ण सामग्री हाथ लग सकती है। ५-६ वर्ष पूर्व राजस्थान साहित्य अकादमी ने यह निर्णय लिया कि राजस्थान में स्वाधीनता-संघर्ष से संबंधित समग्र साहित्य का संकलन करवाया जाय। पूरे राजस्थान के ५ संभागों के लिये अलग अलग संपादक नियुक्त किये गये और उनके संयोजन का कार्य मुझे सौंपा गया। जब यह कार्य क्षेत्रीय संपादकों के प्रयास से संकलित होकर मेरे पास व्यवस्थित होने के लिये आया तो मैंने देखा कि राजस्थान के कोने कोने में राष्ट्रीय चेतना का विपुल साहित्य राजस्थान में लिखा गया है। यह साहित्य केवल संघर्ष व उद्‌बोधन तक ही सीमित नहीं है इसमें हमारी संस्कृति, नारी-उत्थान और कुरीतियों को त्यागने के साथ साथ स्वदेश प्रेम की गहरी अनुभूति भी व्यक्त हुई है। इस काल के साहित्य को हम निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते है:—

१. परम्परागत शैली में लिखा गया साहित्य।
२. लोकगीतात्मक शैली में लिखा गया साहित्य।
३. विविध विषयक साहित्य।

परम्परा गत रूप में लिखा गया काव्य दोहा, गीत, नीसांणी, छप्पय आदि छंदों में लिखा गया है। विभिन्न घटनाओं और स्वाधीनता के लिये जूझने वाले व्यक्तियों पर गीत

व दोहे कहने वालों में सूर्यमल मिश्रण बुधजी, चैनजी, लिखमीदान, दलजी, गिरवरदान शंकरदान, दुर्गादत्त बारहठ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने अपनी कविता के द्वारा न केवल उन व्यक्तियों को अमर बनाया अपितु स्वाधीनता के लिये ऐसा वातावरण भी बनाया जिससे प्रजा का मनोबल ऊंचा हुआ और राजस्थान की वीर परम्परा अक्षुण्य बनी रही। सन् १८५७ की क्रांति में आउवा ठाकुर खुशालसिंह ने जो क्रांतिकारी भूमिका निभाई उसकी प्रशंसा अनेक कवियों ने की है पर एक गीत के माध्यम से सूर्यमल ने खुशालसिंह के दर्प और ओज को जो अभिव्यक्ति दी उसका उदाहरण प्रस्तुत है—

लोहां करंतो झाटका फणां कंवारी घड़ा री लाडो
आडो जोधांण सूं खेंचियां वहे अंट
जंगी साल हिंदवाण रो आवगो जीं नै
आउवो खायगो फिरंगांण रो अजंट।
रीठ तोपां बंदूकां जुजावां नाळां पैड रोपै
वर्क चंडी जै जै रुद्र पिया रा वखाण
मारवा काज वज्र हिया रा भूरियां माथै
खुसलेस आयो हायां लियां रे केवांण।

गीतों की तरह दोहों में भी इस प्रकार का विपुल साहित्य रचा गया। स्वयं सूर्यमल की वीर सतसई इसी भावना से प्रेरित होकर लिखी गई और कई कवियों ने स्फुट दोहे वीरों की प्रशंसा में लिखे। बारहठ केसरीसिंह के चेतावनी के चूंटिये जो महाराणा फतहसिंह को सम्बोधित करके लिखे थे, अपनी गरिमा में बेजोड़ हैं और उदयपुर के महाराणाओं की स्वाधीन-चेता परम्परा की याद दिलाने में सक्षम हैं। इसी प्रकार अनेक अज्ञात कवियों के दोहे भी मिलते हैं जो काव्यत्व की दृष्टि से विशिष्ट महत्व रखते हैं—

पराधीन भारत हुयो प्यालां री मनवार
मात भोम परतंत्र हो, वार वार धिक्कार।
मतवाळा हो पोडग्या, सुध बुध दोन्हीं भूल
पर हायां रा हो गया, या हिड़दा में सूल।
दूसमण देसां लूट कर, ले जावे पर देस
राजन चूड़ी पहरल्यो, धरो जनानो भेस।
विस खावो कै सरण लो, सरवरिये री थाह
कै कंठां बिच घाल लो, दावरिये री दाह।

नीसाणी और छप्पय भी यहां के कवियों के प्रिय छंद रहे हैं अतः इनमें भी इस विषय को लेकर स्फुट रचना हुई है। साहित्यिक दृष्टि से इन छंदों में लिखी गई रचनाओं का अपना महत्व है पर सूर्यमल आदि एक-दो कवियों को छोड़कर अधिकांश रचनाओं में वह ओज और प्रखरता नहीं है जो मध्यकाल के वीर काव्य में पाई जाती है क्योंकि मध्यकाल का वातावरण इस काल से काफी भिन्न था और उसमें उत्सर्ग की भावना भी अधिक सबल थी।

लोकगीतात्म शैली में लिखा गया काव्य

जन-जागरण में ज्यों-ज्यों जन-सहयोग बढ़ता गया और किसान तथा सामान्य जन उस ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने लगे त्यों-त्यों जन-अभिव्यक्ति के वाहक लोकगीतों की शैली में जागृति-गीत लिखे जाने लगे और उनका समाज में दिनों दिन प्रचार होने लगा। इन गीतों को भी दो भागों में बांटा जा सकता है। एक तो वे गीत जो सामूहिक रूप से भी गाये जाते थे और जिनका निर्माता कोई व्यक्ति विशेष नहीं था। ऐसे गीत बीजोलिया-बरड़ आन्दोलन के अवसर पर तथा गुरु गोविन्द के मेले के अवसर पर विशेष रूप से प्रचलित हुए और बीजोलिया आंदोलन के नेता दौलजी काका गुरु गोविन्द और उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले मोतीलाल तेजावत की प्रशंसा में भी कई गीत बने। इधर जब गांधीजी का प्रभाव राजस्थान में बढ़ने लगा तो उनकी प्रशंसा में भी प्रेरणाप्रद गीत प्रचारित हुए। दूसरे गीत वे थे जो व्यक्ति विशेष द्वारा जन चेतना व समाज-सुधार को लक्ष्य करके बनाये गये थे। ये लोग स्वयं भी स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले थे अत: उनकी वाणी में एक अनूठी प्रभावोत्पादकता है। इन गीतकारों में हीरालाल शास्त्री, जयनारायण व्यास, भंवर-लाल कालावादल, विजयसिंह पथिक, गणेशीलाल व्यास, सुमनेशजोशी, माणिकलाल वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं।

इन कवियों में विजयसिंह पथिक और भंवरलाल कालावादल ने गीत-रचना बड़े परिमाण में की और उनकी रचनाएँ अन्य कवियों से अधिक प्रभावशाली भी हैं। पथिक का—'भाया इसो खेलणो दोट,उत्तरदायी सासन लेणो है डंके की चोट' और कालावादल का 'पीड़ितों का पंछीड़ा' बहुत ही लोकप्रिय हुए थे। पीड़ितों का पंछीड़ा की कुछ पंक्तियां अवलोकनीय हैं—

मरदां ओ रे !
काळी तो भादूड़ा की रात रोवै छा
तन का कपड़ा खोवै छा
हांपड़ियां पड़िया थे रोवै छा
आंसूं सूं डील धोवै छा
मरदां ओ रे !

इन गीतों में यह बात लक्ष्य करने की है कि इनके विषय मुख्य रूप से राजनैतिक संघर्ष और समाज-सुधार थे। राजनैतिक संघर्ष के अन्तर्गत अंग्रेजी शासन और सामंती अत्याचार से मुक्ति पाने का लक्ष्य था तो समाज-सुधार के स्तर पर आपसी एकता, नारी उत्थान और स्वदेशी वस्तुओं से लगाव की भावना थी जिसमें गांधी विचारधारा का प्रभाव था। इस प्रकार के गीत प्रभात-फेरियों में भी गाये जाते थे। रजवाड़ों में लोकपरिषदों ने राजाओं को भी अपने गीतों में चेत जाने को कहा पर उनका सीधा संघर्ष उनसे नहीं था। उस समय तक उनका विचार राजाओं के अधीन रजवाड़ों में उत्तरदायी शासन कायम करना था। एक गीत में यह भावना देखिये—

स्याणा राजाजी होजी म्हारा स्याणा राजाजी
सुण लीजो म्हारा दुख रा गाणाजी स्याणा राणाजी

इसी प्रकार बूंदी पति को भी सम्बोधित करके कहा गया है—

जाग जाग बूंदीपत थारी प्रजा दुखारी रे
हाड़ा जाग रे ।
हाकम मिळ प्रजा नै लूटै थनै न जाणी रे
बेगारां में काम करावै यूं मनमानी रे
हाड़ा जाग रे ।

इन गीतों ने राष्ट्रीय आंदोलन में महती भूमिका निभाई और हाड़ोती अंचल से लेकर मारवाड़ तक को एक सूत्र में बांधा । साथ ही इन गीतों से यह पता चलता है कि अपनी सहज अभिव्यक्ति के लिये लोगों ने अपनी मातृभाषा को ही अपनाया और सभी गीतों में जो भावागत एकरूपता का निखार हुआ उससे राजस्थानी को नई शक्ति मिली ।

इन गीतों में पहली बार पुराने सैनिक संगठन का सहारा छोड़कर जन-शक्ति का उद्भोदन किया और जनता में आत्म-विश्वास जगाया । युगों युगों से पिछड़ी नारी जाति को जागृत कर उसे संघर्ष की सहभागिनी बनाया । सुदूर गांवों तक में किसानों की झोंपड़ियों में जागृति की लहर फैलाने का दुष्कर कार्य इन गीतों ने किया । सैकड़ों वर्षों से प्राचीन राजस्थानी को छंदोबद्धता और परम्परागत शैली से बाहर निकाल कर उसे जन चेतना का वाहन बनाया और राजस्थानी की सभी बोलियों की शक्ति को अद्भुत अभिव्यक्ति से संजोया संवारा ।

विविध विषयक काव्य :

उपरोक्त जन-जागरण और राष्ट्रीय काव्य-धारा के अलावा इस काल में अनेक विषयों पर काव्य-रचना हुई । यहां यह उल्लेखनीय है कि समय के बदलाव के साथ-साथ काव्य के विषय भी बदले और प्रशस्ति-परक रचनाओं से भी लोगों ने छुटकारा पाया । नीति, भक्ति जैसे परम्परागत विषय अब भी चलते थे पर इस काल की काव्य-धारा को समृद्धि प्रदान करने वाले कवियों का स्वर दूसरा ही था । उनमें ऊमरदान, महाराज चतुरसिंह, नन्दराम आदि का उल्लेख किया जा सकता है ।

ऊमरदान इस काल के विशिष्ट कवि हैं जिन्होंने चारण होते हुए भी चारण परम्परा से अलगाव करके समाज सुधार को अपनी कविता का मुख्य विषय बनाया तथा धर्म व रूढ़िवादिता के नाम पर समाज में फैलने वाले भ्रष्टाचार का बड़ी निर्भीकता से भंडा फोड़ किया । उन्होंने जीवन में अनेक उतार चढ़ाव झेले थे और समाज को बहुत करीब से देखा था । उन्होंने अपनी कविताओं में संत और असंत का भेद जहां लोगों के सामने रखा वहीं धर्म के नाम पर कुछ सम्प्रदायों में व्याप्त भ्रष्टाचार की भी निन्दा की और सारे समाज को विशेषतौर से सचेत किया । उनका एक गीत बड़ा प्रभावशाली है—

'ओडां मानो रे राम का मारयां
बूडो मत बिनां बिचारयां,

सर प्रताप उस समय मारवाड़ का राज्य-कार्य देखते थे। उन्होंने सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार और धांधली को जड़ों से उखाड़ कर सुव्यवस्था कायम की थी, इससे अनेक लोग खिन्न थे पर कवि ने प्रताप की निर्भीकता की प्रशंसा की:—

'आप बुराई ले अखिल करै भलाई काम'

'छपने री छन्द' कवि की एक लम्बी कविता है जिसमें उन्होंने संवत् १९५६ के विकराल दुर्भिक्ष का बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन किया है। इस कविता में जहाँ गाँवों के जीवन की विस्तृत झाँकी मिलती है वहीं प्रकृति चित्रण और मानवीय करुणा का भी अद्वितीय वर्णन हुआ है। चारण कवियों में ऐसा वर्णन करने वाला दूसरा कवि मैंने नहीं देखा। इस कविता का राजस्थानी काव्य में सदा विशिष्ट महत्व रहेगा। मार्मिकता की दृष्टि से दो छंद देखिये:—

सूकी सुदरांणी झाड़ां रै लारै, लाधी बिदरांणी बाड़ां रै लारै।
सदव्रत करतोड़ी वरणाश्रम सेवा, काढ़ै करतोड़ी रेवा तट केवा॥
भूखी की जीमें सिसकारा भरती, नांखै निसकारा धीमें पग धरती।
मुखड़ौ कुम्हळायौ भोजन बिन भारी, पय पय करतोड़ी पौढी पिय प्यारी॥

महाराज चतुरसिंह एक भक्त कवि थे। राजकुल में जन्म लेकर भी उनका जीवन बड़ा सादा था और उन्होंने ईश्वर-भक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य बनाया। गीता का राजस्थानी में अनुवाद करने के अलावा अनेक सरस भक्ति-गीत लिखे जो मेवाड़ में अब भी गाये जाते हैं। इसके अलावा उन्होंने नीति और नारी-जागृति के भी गीत लिखे।

उनका यह नारी-गीत बड़ा प्रसिद्ध है—

'बहनां आंपै अेड़ी नीं हां अे'

इस काल में समाज-सुधार और जन-जागृति की जो लहर फैली, उसमें ऋषि दयानन्द का भी बड़ा योगदान था। मेवाड़ और जोधपुर आदि अनेक स्थानों के शासक-वर्ग ने उनसे प्रभावित होकर अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन भी किया था। उनके प्रवचनों के द्वारा सामाजिक भेदभाव और संकीर्णता की जड़ें हिलने लगी थीं और एक आत्म-विश्वास की भावना धीरे-धीरे आने लगी थी। दयानन्द के परोक्ष व अपरोक्ष प्रभाव को भी कई कवियों ने अपने काव्य में अभिव्यक्ति दी। गद्य के क्षेत्र में भी शिवचन्द भरतिया जैसे लेखकों ने समाज-सुधार को ही प्रमुख लक्ष्य बनाया।

इस काल में राजसी ठाट-बाट और शिकारों के आयोजन आदि का वर्णन भी कई कवियों ने बड़ी तन्मयता से किया है और कहीं-कहीं उनका प्रकृति-वर्णन बड़ा हृदयग्राही

बन रहा है। अलवर के शिवबक्स पाल्हावत की झमाळ में से एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

झुकि बादळ लागी झड़ी उघड़ै घड़ी न इन्द
वायु ग्रहुँ लागी वहण सीतळ मंद सुगंध ।
सीतळ मंद सुगंध वायु ग्रहुं वाजवै
मधुरी मधुरी मेह क गहरी गाजवै
छटा चमकि छिप जाय घटा मंझियां घणी
मिळि खेलत घण मांहि मनां चुकमीचणी ।।

इस काल में परम्परागत ढंग से छंद-रचना करने वाले भी कई कवि हुए जो अपने जमाने में काफी चर्चित रहे। ऐसे कवियों में जयपुर राज्य के हिंगळाजदान कविया तथा अलवर राज्य के अक्षय सिंह रतनूं व उदयपुर के राव बख्तावर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में से हिंगळाजदान ने अनेक व्यावहारिक विषयों पर कविता की जिसमें उस समय की सामाजिक मान्यताओं का अच्छा दिग्दर्शन होता है। कपूत पर उनके द्वारा लिखे गये एक गीत की कुछ पंक्तियां देखिये—

कहियो फरजंद न मानै कांई, छक तरुणाई मच्छर छिलै ।
महली नूं तो मिळै कमाई, माईतां नूं भूंड मिळै ।।
पढ पढ ठीक सीख पड़वा में, कड़वा वचनां दगध करै ।
जीमैं घी गेहूं जोड़ायत, मां तोड़ायत भूख मरै ।।

स्वतंत्रता प्राप्त होते-होते राजस्थानी काव्य-धारा ने नई करवट ली। प्राचीन परम्पराएँ जहाँ एकाएक शिथिल हो गई वहाँ कई नवीन विधाओं में काव्य-सर्जन प्रारंभ हुआ और विषय वैविध्यता के साथ-साथ लोकगीतात्मक धरातल पर नवीन भाव-भंगिमाएँ जहाँ उभरने लगी वहां कवि सम्मेलनों में गेय कविता ने अपना वर्चस्व कायम किया, बहुत कम कवि इस माहौल से बचकर गंभीर काव्य-सर्जन के क्षेत्र में आगे बढ पाये। सन् १९६० के आस पास कवियों की नई पीढ़ी ने नई कविता की रीतिनीति को अपना कर काव्य-विधा को नया आयाम देने का प्रयत्न प्रारंभ किया पर उनकी जड़ें यहाँ के सांस्कृतिक व सामाजिक धरातल की ऊपरी सतह पर ही पनपी हैं, इसलिये उनके द्वारा स्थायी महत्व की उपलब्धि अभी तक दृष्टिगोचर नहीं होती।

गद्य के क्षेत्र में आजादी के बाद द्रुत गति से विकास हुआ है। प्राय: सभी विधाओं में साहित्य-सर्जन करने वाले नये लेखक आगे आये हैं। पत्र पत्रिकाओं के संघर्षपूर्ण प्रयास भी साहित्य को गति देने में अपनी भूमिका निभा रहे हैं पर समाज में मातृभाषा के प्रति दायित्व भावना इतनी प्रगाढ़ नहीं हो रही है जिसकी आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज की पीढ़ी की इस उपेक्षा को आने वाली पीढ़ी कभी क्षमा नहीं करेगी।

पद्य अनुशीलन

मध्य कालीन डिंगल गीत-साहित्य

प्राचीन राजस्थानी साहित्य में डिंगल गीतों का प्रमुख स्थान है। सैंकड़ों कवियों द्वारा विभिन्न घटनाओं और विषयों को लेकर असंख्य गीत रचे गए हैं। प्राचीन राजस्थानी साहित्य के इतिहास में से यदि इन गीतों को निकाल दिया जाय तो न केवल राजस्थानी साहित्य की एक महत्वपूर्ण काव्य-धारा से ही पाठक वंचित रहते हैं वरन् राजस्थानी साहित्य का मूल्यांकन एकांगी और अपूर्ण होगा। ये गीत साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, इतिहास की दृष्टि से भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। साधारण से साधारण ऐतिहासिक घटना पर गीत का निर्माण हुआ है, यद्यपि आज ये सभी गीत उपलब्ध नहीं होते क्योंकि शास्त्रीय पद्धति पर रचे जाने के बावजूद भी इन गीतों की परम्परा मौखिक ही रही है। इन गीतों का निर्माण प्राय: किसी घटना या अवसर पर होता था और कवि स्वयं अपने मुँह से इन गीतों का उच्चारण उचित अवसर पर किया करता था। कई बार युद्ध-स्थल तक में कवि इन गीतों के माध्यम से वीर योद्धाओं की भावनाओं को उद्वेलित कर उन्हें अपने कर्म-पथ पर अग्रसर करता था। अत: इन गीतों का केवल कलात्मक अथवा साहित्यिक महत्व ही नहीं था वरन् सामाजिक जीवन में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न करने की क्षमता भी इन गीतों में थी। इस प्रकार सामाजिक भावनाओं के अत्यन्त शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण वाहन के रूप में इन गीतों को मान्यता प्राप्त थी।

डिंगल गीतों की रचना कब से प्रारम्भ हुई इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है। पर नवमीं शताब्दी के मुरारि कवि द्वारा रचित एक संस्कृत श्लोक में चारणों के गीतों और ख्यातों का प्रसंग आया है।[१] हेमचन्द्राचार्य (१२ वीं शताब्दी) के 'प्राकृत बाल व्याकरण' में भी इस प्रकार के छन्दों के उदाहरण मिलते हैं।[२] वैसे बापा रावल पर लिखा हुआ गीत भी उपलब्ध होता है और उसके बाद राव सिहाजी के सम्बन्ध में उनके समकालीन कवि शंकरदान लाळस द्वारा रचा हुआ गीत राठौड़ो की ख्यात में लिखा हुआ मिलता है। इन गीतों की भाषा अधिक प्राचीन नहीं है। पर यह पहले ही स्पष्ट

१. द्रष्टव्य-नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृष्ठ २२९
२. प्राकृत-बाल-व्याकरण—सम्पादक, डॉ P.L. Vaidya पृष्ठ १४६

कर दिया गया है कि ये गीत मौखिक परम्परा से चले आते रहे हैं, जिससे इनकी भाषा में परिवर्तन होते रहे हैं। इसलिए उनकी भाषा में नयापन होने से ही उनकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। विशेषतः जब कि ऐसे संकेत नवमीं और दसवीं शताब्दी में प्राप्त होते हैं कि—चारणों द्वारा उस समय गीतों की रचना की जाती थी। एक और बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन गीतों की रचना प्रायः जिस व्यक्ति या घटना से संबंधित होती थी वे समकालीन होते थे। यही परम्परा राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल में देखी जा सकती है, यद्यपि अवतारों तथा सिद्ध पुरुषों की स्तुति में बाद के कवियों ने भी गीतों की रचना की है।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते आते गीत काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं और सोलहवीं शताब्दी में गीतों को और भी विस्तार मिला है।

आलोच्य मध्यकाल (जो कि सोलहवीं शताब्दी के अन्त में स्पष्ट रूप से प्रारम्भ होता है) में गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। १७ वीं शताब्दी में राठौड़ पृथ्वीराज ने डिंगल भाषा का सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ 'वेलि क्रिसन रुकमणि री' वेलियो गीत में लिखा, जिससे उस शताब्दी में गीत परम्परा की महत्ता प्रकट होती है। मध्यकालीन गीत साहित्य को ठीक तरह से समझने के लिए इस काल (१६ वीं शताब्दी के अन्त से १६ वीं शताब्दी तक) की ऐतिहासिक एवम् सामाजिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक है। इस काल के प्रारम्भ में मुगल सल्तनत की स्थापना पूर्ण रूप से हो चुकी थी। अकबर जैसे कुशल शासक ने महाराणा प्रताप के अतिरिक्त राजस्थान के सभी राजाओं को किसी न किसी तरह से अपने वश में कर लिया था और अपनी राजनैतिक पटुता एवम् व्यवहारकुशलता के कारण इन शासकों से स्थायी सम्बन्ध बना लिए थे। इसके बावजूद भी कई बार राजनैतिक प्रश्नों को लेकर या व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को लेकर या धार्मिक प्रश्नों को लेकर समाज में उथल-पुथल होती रहती थी। इस सामाजिक उथल-पुथल में व्यक्तिगत साहस और वीरत्व का बड़ा महत्व था। उस समय का शासक-वर्ग तथा वीर पुरुष युद्ध अथा मृत्यु से किंचित भी भयभीत नहीं होते थे। अस्थिर सामाजिक परिस्थितियों और विदेशी सत्ता में पनपने वाले इस्लाम धर्म से अपने सतीत्व एवम् धर्म की रक्षा करने के लिए नारियां सती हो जाना अपना कर्तव्य समझती थीं। युद्ध में काम आ जाना, वीर गति को प्राप्त होना शुभ कार्य समझा जाता था और इस प्रकार के बलिदानों को जनता बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। जहां तक धर्म का प्रश्न था, धार्मिक स्थानों और गौओं की रक्षा के लिए इस काल में अगणित व्यक्तियों ने प्राणोत्सर्ग किया है। यह सब कुछ होते हुए भी मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव शासक वर्ग पर अवश्य पड़ा है और उनके आपस में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। परन्तु विदेशी संस्कृति को उन्होंने अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। सम्राट अकबर ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच धार्मिक एकता कायम करने के लिए काफी प्रयत्न किए और 'दीन इलाही' धर्म की स्थापना की। सभी धर्मों के आचार्यों के शास्त्रार्थ सम्राट स्वयम् सुना करता था जिससे सभी धार्मिक पक्षों के बीच सहिष्णुता का वातावरण अवश्य बना परन्तु धार्मिक मान्यताओं में शैथिल्य नहीं आया। वर्ण-विभाजन के अनुसार बँटी हुई

यहाँ की जनता यथाविधि अपना कार्य करती थी और ब्राह्मणों का समाज में बड़ा पूज्य स्थान था। संत महात्माओं को जनता बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी। इस काल में पनपने वाली भक्ति साहित्य की धारा इसका बहुत बड़ा प्रमाण है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी अकबर द्वारा बनाई हुई परिस्थिति सुदृढ़ता के कारण यथावत चलती रही। इसमें कोई बहुत बड़ा परिवर्तन, जिसे क्रांतिकारी परिवर्तन कहा जा सके, नहीं हुआ। इस काल में भी इन बादशाहों ने यहाँ के शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखा। पर औरङ्गजेब के सत्तारूढ़ होते ही उसकी धार्मिक असहिष्णुता, अदूरदर्शिता और साम्राज्य हड़पने की लालसा के कारण देश में बड़ा असंतोष व्याप्त हो गया। उधर दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में मरहठों ने मुस्लिम साम्राज्य के विरुद्ध बगावत शुरू कर दी और इधर राठौड़ दुर्गादास ने औरंगजेब के लिए निरन्तर संघर्ष की स्थिति बना दी। औरंगजेब के समय के इतिहास को देखने से पता चलता है कि उसके शासन के तरीके में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था जिसके फलस्वरूप उसे अपने जिन्दगी में सैकड़ों छोटी बड़ी लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। राजस्थान फिर पूर्ण अशांति और संघर्ष की भूमि बन गया। इस संघर्ष को व्यक्त करने वाला विपुल साहित्य डिंगल-गीतों में मिलता है। औरंगजेब के समय से लड़ते-झगड़ते यहाँ के शासकों की स्थिति बड़ी कमजोर हो गई थी। रही-सही ताकत दिल्ली की सल्तनत और भी कमजोर हो जाने से क्षीण हो गई। मुगलों का प्रभाव जब समाप्त प्रायः हुआ तो मरहठों ने ताकत पकड़ी और उन्होंने बड़ी बड़ी सेनाएँ बना कर राजस्थान को लूटना प्रारम्भ किया। यह भी संघर्ष की एक अजीब कहानी है, जिसका वर्णन भी यहां के साहित्य में कई रूपों में उपलब्ध होता है। ऐसी स्थिति का लाभ उठा कर अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति और व्यवहारकुशलता से यहां के शासकों को अपने अधीन किया और एक नए प्रकार की शासन व्यवस्था कायम करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। असहाय जनता यह सब ऊहापोह देखती रही पर जागरूक कवियों और बहादुर योद्धाओं ने फिर भी स्वातंत्र्य रक्षा के प्रयत्नों के विरल उदाहरण ऐसी परिस्थितियों में पेश किए हैं, जिनका विवरण इस समय के पत्रों व स्फुट साहित्य में मिलता है। सन् १८५७ की क्रांति में राजस्थान का सामूहिक रूप से ऐसा कोई प्रयत्न नहीं रहा। परन्तु परोक्ष या अपरोक्ष रूप में जिन व्यक्तियों ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी स्वातंत्र्य संग्राम की ज्योति को प्रज्वलित करने में सहयोग दिया उनकी प्रशस्ति में यहाँ के कवियों ने काफी बड़े परिमाण में गीत रचना की है जो न केवल उनकी प्रशस्ति ही है वरन यहाँ की सामाजिक भावनाओं को भी प्रकट करती है। उनके प्रति गाए जाने वाले लोकगीत तो आज भी घर घर में प्रचलित हैं। इस प्रकार यह मध्य-कालीन समय संघर्ष, ऊहापोह और राजनैतिक दृष्टि से बड़े उथल पुथल का समय रहा है। इस प्रकार की परिस्थितियों की भावनात्मक अभिव्यक्ति और साभाजिक दृष्टि से उस समय में होने वाले कार्य-कलापों का काव्यात्मक मूल्यांकन सबसे अधिक डिंगल गीतों में मिलता है।

इस प्रकार की पृष्ठ-भूमि में निर्मित डिंगल गीत साहित्य अपनी छंद व शैलीगत विशेषताएँ रखता है। गीतों की छन्दगत विशेषताओं के पहले हम यहां गीतों में प्रयुक्त होने वाले कुछ नियम और उनकी रचना-प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली कुछ विशेषताओं पर

[illegible] समझी है क्योंकि उनको समझे बिना गीतों के साहित्यिक सौन्दर्य को नहीं समझा जा सकता।

गीत शब्द का यहाँ प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है। प्रायः गीत शब्द को देख कर लोग यह अनुमान लगा लेते हैं कि गीत कोई गाने की वस्तु होगी। परन्तु यहाँ गीत का अर्थ प्रशस्ति से है। इन गीतों के माध्यम से वीर योद्धाओं और समाज के प्रिय व्यक्तियों की प्रशस्ति प्रकट की गई है।[1] डिंगल गीतों की रचना करते समय कवि के लिए कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है; जैसे—जथाओं का निर्वाह, वैण सगाई अलंकार का निर्वाह, विभिन्न छन्दों का सही प्रयोग, व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने वाले गीतों में उस व्यक्ति के बाप-दादा, जाति (गोत्र), स्थान आदि के नाम का जिक्र, विभिन्न काव्य-दोषों से गीत को मुक्त रखते हुए गीत का निर्माण करना आदि। इन नियमों को डिंगल के छन्द शास्त्रियों ने विस्तार के साथ समझाया है।

जथा—

जथाओं के वर्णन की सामान्य विशेषता यह है कि प्रायः प्रथम द्वाले में कही गई बात इस नवीन ढंग से पुनः पुनः कही जाती है कि उसमें एक प्रकार की पुनरुक्ति होते हुए भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता। कई जथाओं के निर्वाह में अलंकारों का भी सहयोग रहता है। कवि मंछ ने अपने ग्रंथ में ग्यारह प्रकार की जथाओं का वर्णन किया है। यथा—

> विधानीक, सर, सिर, वरण, अहिगत, आद अतांण।
> सुद्ध, इधक, सम, नून, सो, जथा ग्यारह जांण॥[2]

कवि किसनाजी आढा ने भी 'रघुवर जस प्रकास' में ग्यारह प्रकार की ही जथाएँ मानी हैं।[3] परन्तु उदयराम ने अपने 'कवि-कुळ बोध' में जथाओं के इक्कीस भेद किए हैं।[4] यथा—

> विधानीक, सर, वरण, सीस, सुद्ध, मुगट, सम।
> नून, आद, निपुणाद, ग्यान, अहगति, सरल गम।
> सुधाधिक, सम यथक, यथक रूपक उर धारत।
> बोध अनूपम बंध साल चित्र तोल सुधारत।
> गुण आहूल रूपक बंधगुण सुरता ग्रह जुग बंध मत।
> सफळत जथा वरणो सुकव, विध यकीस कायब वदत।

---

१. प्रकाश—दिसा मेन्, मरु भारती, वर्ष ५ अंक १।
२. 'रघुनाथ रूपक' पृष्ठ २४६
३. 'रघुवर-जस-प्रकास' पृष्ठ १३१-१३२
४. 'कवि-कुळ-बोध' की हस्तलिखित प्रति हमारे संग्रह में है।

इस प्रकार इन जथाओं का डिंगल गीतों में बड़ा महत्व है। और जहाँ जथा के निर्वाह में त्रुटि हो जाती है वहाँ 'नाळछेद' दोष माना जाता है। यहाँ हम जोग-अजोग जथा का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

जीतै विप्रां सूं जगत, जुगती जोग अजोग।
गया दंड दे गोत्र कज, जे अजोग में जोग॥

छप्पय

वेद जीत विप्र सूं गाय पय पाय पुरोगत।
वित्त दत्त विखयावाट, मेल ठग हूंत महामत॥
प्रीत अराधै प्रेत, सार गुण खळां समप्पै।
वर्णै ग्रन्थ रस विखय, जांण क्रपणां जस जंपै॥
जोग र अजोग जाणो जथा, व्रथा अरथ ऊपर वर्णै।
खत्रवाट भूप वैता खत्री, सरव जांण देसल सुणैं॥

वैण सगाई अलंकार—

वैसे राजस्थानी काव्य में 'वैण सगाई' अलंकार का प्रत्येक प्रकार के छन्द में प्रयोग हुआ है। पर दोहे और गीत में तो इसका प्रयोग अनिवार्य-सा माना गया है। वैण सगाई का शाब्दिक अर्थ अक्षरों के आपसी सम्बन्ध से है। इसमें अक्षरों का आपसी सम्बन्ध कई प्रकार से विठाया जाता है जिससे कविता में विशिष्ट प्रकार का नाद-सौन्दर्य प्रकट होता है। कविता को कंठस्थ करने में भी अक्षरों के ध्वनि-साम्य के कारण बड़ी सुविधा हो जाती है। इस अलंकार को अलंकार शास्त्रियों ने बड़ा शुभ माना है। यहां तक कि दग्धाक्षरों के अशुभ प्रभाव को नष्ट करने की क्षमता इस अलंकार में मानी है।

इण भाषा आवै अवस, वैण सगाई वेस।
दध अखर अर अगण दुख, लागे नह लवलेस॥[1]

मध्य कालीन राजस्थानी साहित्य में तो वैण-सगाई का आधिक्य तो है ही, आचार्यो ने इसके अनेक भेदोपभेदों के प्रयोग भी किए हैं। कवि मंछ ने इस अलंकार पर संक्षेप मे ही प्रकाश डाला है। पर 'रघुवर-जस-प्रकास' में वैण सगाई के दस भेदोपभेद किए हैं, यथा—आदि, मध्य, अन्त, उत्तम, मध्यम, अध्यम, अधमाधम, अधिक, सम और न्यून। यहां हम इनमें से एक भेद का स्पष्टीकरण उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। आदि-मेळ वैण सगाई—इस वैण सगाई के अनुसार चरण के प्रथम शब्द के आदि वर्ण स्वर या व्यञ्जन की पुनरावृत्ति चरण के अन्त में आने वाले शब्द के आदि में होनी चाहिये।

सांचो मित सचेत, कहौ काम न करै किसो।
हर अरजण रै हेत, रथ कर हांक्यौ राजिया॥

---

१. डिंगल-कोष (बूंदी) मुरारिदानजी कृत।

[illegible] में कई प्रकार के आपसी सम्बन्धों के आधार पर अनेक भेदोपभेद [illegible] सकते हैं।

[illegible] जिन वर्णों का आपसी सम्बन्ध दिखाया जाता है उसे 'अखरोट' कहा गया है, जो [illegible] का ही एक भेद है। इसके भी अधिक, मूल और न्यून मित्र वर्णों के आधार पर [illegible] भेद किए गए हैं और इन भेदों के आदिमेळ, मध्यमेळ, अन्तमेळ, उत्तम, [illegible], [illegible], [illegible] आदि उपभेद और हो सकते हैं। इन भेदोपभेदों के चरणा-[illegible] भी भेद किए जाते हैं। पर डिंगल गीतों में तो प्रत्येक चरण में वैण सगाई आवश्यक [illegible] है, इसलिए इतना गीतों की दृष्टि से ही उतना महत्व नहीं है।[1]

उक्ति (उक्त)—

डिंगल गीतों में उक्ति का बड़ा महत्व है। यहाँ उक्ति का तात्पर्य वचनों के प्रकट करने से है। कौन, किससे और किसके लिए किस प्रकार के वचन प्रकट कर रहा है, उसके आधार पर उक्ति के कई भेद किए गए हैं। उक्ति का उचित निर्वाह न होने पर छन्द-शास्त्रियों ने काव्य में 'अंध-दोष' माना है।

'रघुवर-जस-प्रकास' में और 'रघुनाथ रूपक' में नौ प्रकार की उक्तों का वर्णन [illegible] ने किया है। पर उदयराम ने 'कवि-कुळ-बोध' में कुछ अधिक भेद भी किए हैं। मुख्य उक्तों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सनमुख उक्ति—(१) सुद्ध सनमुख (२) गरभित सनमुख।
२. परमुख उक्ति—(१) सुद्ध परमुख (२) गरभित परमुख।
३. परामुख उक्ति—(१) सुद्ध परामुख (२) गरभित परामुख।
४. स्री मुख उक्ति—(१) सुद्ध स्री मुख (२) कल्पत स्री मुख।
५. मिश्रित उक्ति—इसमें प्रत्येक चरण या द्वाले में भिन्न उक्ति का प्रयोग होता है।

यहां हम सुद्ध सनमुख उक्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

जिस व्यक्ति का प्रसंग हो, कवि सीधा उसी के सम्मुख जहाँ स्वयं वर्णन करता है वहाँ यह उक्ति होती है। यथा—

दस सिर मळ मारण दुसठ, हायां तारण हाथ।
कृपा [illegible] 'किसनो' कहै, निमो नृप रघुनाथ॥

व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखने वाले गीतों में नायक के पिता, दादा, जाति, स्थान आदि का [illegible] वा अवरांश रूप में होना आवश्यक है, क्योंकि एक ही नाम के [illegible] व्यक्ति होने से यह भ्रांति हो जाने की संभावना रहती है कि गीत वास्तव में किस व्यक्ति के लिए कहा गया है। कई गीतों में नायक के पिता का नाम न देकर उसके किसी

---

1. [illegible]—मरु भारती, वर्ष 1, अङ्क 1, श्री [illegible] सांदू का 'वैण सगाई' पर लेख।

प्रसिद्ध पूर्वज का नाम लिया जाता है । नाम के आगे 'हरौ' 'हरा' आदि शब्द लगा कर वंश-परम्परा की ओर संकेत किया जाता है; जैसे—जोधाजी के वंशज के लिए 'जोधाहरौ' । इसी प्रकार प्रसिद्ध पूर्वज के नाम के पहले 'अभिनमौ' शब्द का प्रयोग करने से भी वंशानुक्रम की ओर संकेत किया जाता है, जैसे शूरसिंह के वंशज के लिए 'अभिनमा सूर' गीतों में प्रयुक्त हुआ है । पूर्वज के नाम के आगे या पीछे 'बियौ' या 'दूजौ' शब्द लगा कर भी वंश के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है । जैसे—'रिड़मल बियौ' या 'बियौ रिड़मल' रिड़मलजी के किसी वंशज के लिए प्रयुक्त हो सकता है । नायक के पिता का नाम जहाँ गीत में आता है वहाँ उस नाम के साथ 'तणौ' या 'वाळौ' और 'सुतन' आदि शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं । जैसे महाराजा मानसिंहजी पर लिखे हुए गीतों में 'सुतन गुमनेस', 'गुमान तण' आदि का प्रयोग मिलता है । जहाँ तक जाति या स्थान का प्रश्न है, कई बार दोनों में से एक का नाम लेकर ही नायक की जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है । जैसे राठौड़ के लिए 'खेड़ेचा' शब्द का और भाटी के लिए 'माड़ेचा' स्थान वाचक शब्द का प्रयोग कर नायक की जाति की ओर भी संकेत कर दिया जाता है । यदि गीत में इन तत्वों का प्रयोग नहीं किया जाता है और गीत के नायक के बारे में अस्पष्टता रह जाती है तो 'हीण' दोष माना जाता है ।

उदाहरणार्थ जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी से संबंधित एक गीत यहां उद्धृत किया जाता है, जो कि जसवंतराव होल्कर को मारवाड़ में अंग्रेजों के खिलाफ शरण देने के बारे में लिखा हुआ है । इस गीत में भिन्न टाइप वाले शब्द द्रष्टव्य हैं ।

महाराजा मानसिंहजी रौ गीत—मराठां ने शरण दी जिण बावत रौ ।

नृपत मांन धन तपोबळ, मुरधरण नाथ निज ,
राइयां आभरण दइव राया ।
वडेरा जिकां खय करण होता विदा,
ऊवरण जकै तौ सरण आया ॥
तेज प्रभुता नमौ *गुमांनसिंह तण* **,**
रोस घण छ-खंड खुरसांण रोळै ।
जावता चढ़े दादा जियां रचण जुध ,
आविया वचण वे तूझ ओळै ॥
विरद पत जवर परताप *विजपत बिया* **,**
सद विजै त्रंबाटां पिसत्र सेलोट ।
उरड जाता वडा करै वा गरदवां ,
अभै पद वसै वे राज री ओट ॥
दिखण ऊथाळ जसराज जिसड़ा दुरस ,
प्रकासै लाल झण्डा वरण पूर ।
राखतां दिखण सरणै सुजस सेतरंग ,
सरस बांधी भुजां *अभनमा* **सूर ॥**[1]

---

1. परम्परा गोरा हट जा अंक, पृष्ठ ७५

दोष—

डिंगल साहित्य के आचार्यों ने काव्य में अपने ढंग से कुछ दोषों का विवेचन भी किया है। डिंगल गीतों में उनका ध्यान रखना भी आवश्यक है। 'रघुनाथ रूपक' में दस दोषों का वर्णन है।[1] 'रघुवर जस प्रकाश' में ग्यारह प्रकार के दोष बताए गए हैं।[2] इन दोषों के नामकरण की कल्पना मनुष्य के शरीर या जाति संबंधी कुछ दोषों के आधार पर की गई है, ये दोष निम्न प्रकार हैं--

१ अन्ध दोष—जिस में उक्ति का निर्वाह अस्पष्ट या ठीक तरह से नहीं हो पाता। २ छबकाळो दोष—गीत में एक ही भाषा का प्रयोग न होकर अन्य कई भाषाओं के नए शब्द प्रयोग में आ जाते हैं वहां यह दोष होता है। ३ हीण दोष—नायक के पिता, जाति, स्थान आदि का उल्लेख न होने से जहां भ्रम पैदा हो जाता है वहां यह दोष होता है। ४ निनंग दोष—जहां उपर्युक्त क्रम से वर्णन न होकर आगे पीछे वर्णन किया जाय वहां निनंग दोष होता है। ५ छन्द भंग दोष—छन्द में मात्रा आदि की कमी होने से यह दोष होता है। ६ जाति विरोध दोष—जहां एक ही गीत में अन्य गीतों के द्वालों का समावेश कर दिया जाता है वहां विभिन्न जाति के द्वाले होने से यह दोष होता है। ७ अपस दोष—इसमें दृष्टिकूट पदों की तरह बहुत गूढ़ और कठिन अर्थ होता है। ८ नाळ छेद दोष—जहां किसी भी कथा के क्रम का ठीक तरह से निर्वाह नहीं हो पाता हो वहां यह दोष होता है। ९ पख तूट दोष—जहां गीत में स्तर की भाषा का प्रयोग न होकर हल्के शब्द आ जाते हैं वहां यह दोष होता है। १० बहरो दोष—जहां शब्दों का प्रयोग इस अस्पष्टता के साथ किया जाता है कि अर्थ उल्टा भी हो सकता है वहां यह दोष होता है। ११ अमंगळ दोष—जहां चरण के अन्त की तुक के अन्त का अक्षर पहले अक्षर से मिलने पर अमंगळ सूचक शब्द बन जाता है वहां यह दोष होता है। यथा—

'महमन में पय राम रै' यहां अंतिम अक्षर 'रै' यदि 'म' के साथ जोड़ दिया जाता है तो 'मरै' अमंगळ शब्द बन जाता है।

डिंगल गीतों का पाठ--

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये गीत किसी राग-रागिनी में नहीं गाए जाते।[3] विशेष प्रकार की लय (Rythm) में इनका पाठ होता है। डिंगल गीत को बोलने में भी एक प्रकार की कला है। इस कला के बिना सुन्दर गीत भी उतना प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। इसीलिए गीत के कहने की कला पर कवियों ने बड़ा जोर दिया है। यथा—

कवि के अक्खर सब सरखर, कहु कहिबे में वैण ,
वो ही काजळ ठीकरी, वो ही काजळ नैण ।

---

१. 'रघुनाथ रूपक' पृष्ठ १४
२. 'रघुवर जस प्रकाश' पृष्ठ १०६
३. झमाळ, धमाळ और सोरठियो गीत गाये भी जाते हैं।

प्राय: कवि लोग ये गीत राज्य-सभाओं में अथवा युद्ध-भूमि में स्वयम् उपस्थित हो कर कहा करते थे। और गीत कहने के ढङ्ग में इतना ओज और उच्चारण का सौष्ठव होता था कि अरसिक के हृदय में भी रस का संचार हो जाता था और कायर में भी वीर भावना उत्तेजित हो उठती थी।

गीतों का पाठ करने की दो शैलियां विशेष रूप से मान्य रही हैं—

१ एकादोई—इस शैली के अनुसार गीत की प्रथम पंक्ति एक सांस में एक साथ पढ़ी जाती है। उसके पश्चात् दो-दो पंक्तियां एक साथ एक सांस में पढ़ी जाती हैं। अन्त में जाकर गीत की पहली पंक्ति अंत की पंक्ति के साथ पढ़ी जाती हैं।

निम्नलिखित गीत में कोष्ठकों द्वारा अङ्कित पंक्तियाँ एक सांस में एक साथ पढ़ी जायेंगी—

गीत छोटो सांणोर

{ पड़ियो नह धरण न भखियो पंखी,

{ ऊपाड़े न जळायौ आग।
{ अरजण गौड़ तणौ तन आखौ,

{ लड़तां गयौ लोहड़ां लाग ॥ १
{ खित पड़ियौ न पळचरां खाधौ,

{ पावक घट सकियौ न प्रजाळ।
{ वीठल सुतन तणौ न वढ़तां,

{ त्रजड़ां चहोट गयौ रिण ताल ॥ २
{ गिरियौ धरा न विहंगे ग्रसियौ,

{ दावानळ नह पंजर दह्यौ।
{ पालहरो असुरां पाड़ंतो,

रज रज धारां विलग रह्यौ ॥ ३
दळ पळचर सुरमुख अपछर हर,

जोवौ किण वास्ते जग।
वाय हंस अमरापुर वसियो,

खाधौ घट हूँ कह्यौ खग ॥ ४
प्रथम पंक्ति पुनः यहां पढ़ी जायेगी।

२ पंचादोई—इस शैली में पाठ करना बड़ा कठिन है। इसके अनुसार प्रारम्भ में गीत की प्रथम पांच पंक्तियों को एक ही सांस में एक साथ पढ़ा जाता है। इसके बाद दो-दो पंक्तियां एक सांस में एक साथ पढ़ी जाती हैं। गीत के अन्त में अंतिम पंक्ति के साथ गीत की प्रारम्भिक चार पंक्तियाँ पुनः एक साथ पढ़ी जाती हैं। उदाहरण—

पड़ियौ न घरण न मनियौ पंतो,
अगाड़ै न जळायौ श्राग ।
घरजरा गोड़ तणो तन प्राणी,
लड़तां गयौ लोहड़ां लाग ॥ १
नित पड़ियौ न पळचरां खायौ,
पावक घट सकियौ न प्रजाळ ।
बीठल सुतन तणो तन वढतां,
प्रजड़ां चहोट गयौ रिण ताल ॥ २
गिरियो धरा न विहंगे ग्रसियौ,
दावानळ नह पंजर दह्यौ ।
पालहरी असुरां पाड़ंतौ,
रज रज धारां विलग रह्यौ ॥ ३
दळ पळचर सुरमुग अपछर हर,
जोवौ किरण वास्ते जग ।
वाय हंस अमरपुर वसियौ,
खाधौ घट हूं कह्यौ खग ॥ ४
प्रारम्भ की चार पंक्तियां पुनः यहां पढ़ी
जावेंगी ।

इस शैली में पाठ करने के लिए निरन्तर अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है । छोटा साणोर, बड़ा साणोर, सुपंखरो, पंखाळो, गोखो आदि गीतों के लिए ये शैलियां विशेष रूप से उपयुक्त हैं । गीत, ढोल, अवंक आदि अपनी छंद गत लय के अनुसार भी पढ़े जाते हैं ।

डिंगल गीतों का वर्गीकरण—

विभिन्न छन्द-शास्त्रियों के अनुसार गीतों की संख्या में भिन्नता है । डिंगल के प्राचीनतम छन्द शास्त्र 'पिंगळ-सिरोमणी'[1] में लगभग चालीस गीतों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । 'रघुनाथ रूपक'[2] में ७२ प्रकार के, 'कवि-कुळ-बोध'[3] में ८४ प्रकार के और 'रघुवर जस प्रकास'[4] में ९१ प्रकार के गीत मिलते हैं ।

---

1. 'पिंगळ-सिरोमणी' (परम्परा, भाग 13)
2. 'रघुनाथ रूपक' काशी नागरी प्रचारिणी सभा
3. प्रकाशक—[illegible], वर्ष ६, अङ्क 1
4. 'रघुवर-जस-प्रकास' [illegible]

गीतां रा नांम—

[छन्द बेग्रख्यरी]

विधांनीक१ पाड़गती२ त्रेवड़३ ।
वंकौ४ अवंकड़ौ५ सुकवी धड़ ॥
चौटी-बंध६ मुगट७ दोढौ८ चव ।
सावझड़ौ९ हंसावळ१० सूत्रव११ ॥
गजगत१२ त्रिकुटबंध१३ मुड़ियल१४ गण ।
तिरभंगौ१५ एक अखर१६ भांण१७ तण ॥
मण अड़ियल१८ झमाळ१९ भुजंगी२० ।
चौसर२१ त्रिसर२२ रेणखर२३ रंगी२४ ॥
अट्ठ२५ दुअट्ठ२६ वंधअहि२७ अक्खव ।
सुपंखरौ२८ सेलार२९ प्रौढ३० तव ॥
विडकंठ३१ सीहलोर ३२ सालूरह३३ ।
भमरगुंज३४ पालवणी३५ भूरह३६ ॥
घणकंठ३७ सीह३८ वगा उमंगह३९ ।
दूणी गोख४० गोख४१ परसंगह ॥
प्रगट दुमेल४२ गाहणी४३ दीपक४४ ।
सांणोरह४५ संगीत४६ कहै सक४७ ॥
सीहचलौ४८ अर अहरनखेड़ी४९ ।
भणिया नाग गरुड़ सांभेड़ी ॥
ढोलचाळौ५० धड़उथळ५१ रसखर५२ ।
चितविलास५३ कैवार५४ सहुचर ॥
हिरणझंप५५ घोड़ादम५६ मुड़ियल५७ ।
पढ लहचाळ५८ भाखड़ी५९ अणपल ॥
वळै हेकरिण६० घमळ६१ वखांणां ।
पढ़ काछौ६२ गजगत६३ परमाणां ॥
माख६४ गीत फिर अरधमाख६५ मण ।
मांगण जाळीवंध६६ रूपक मुण ॥
कहै सवायौ६७ सालूरह६८ किव ।
त्रीबंकौ६९ धमाळ७० केर तव ॥
सातखणौ७१ ऊमंग७२ इकअखर७३ ।
यक अमेळ७४ वे गुंजस७५ भमर७६ ॥
कवि चौटियौ७७ मंदार७८ लुपतझड़७९ ।
त्रीपंखौ८० वृध८१ लघू८२ सावझड़८३ ॥
दुतिय भड़मुकट८४ दुतिय सेलारह८५ ।
आटकौ८६ मनमोह८७ विवारह ॥

ललितमुकट८८ मुक्तागृह८९ लेखौ ।
पंखाळौ९० अे गीत परेखौ ॥
बसंतरमण९१ आद कव बतावै ।
गीत निनांणु नांम गिणावै ॥
गुणियां दीठा जिके सभीजै ।
विण दीठा किण भांत वदीजै ॥
राम सुजस भणतां रघुराई ।
देसी अगुधां सुध दिखाई ॥[1]

इन गीतों का वर्गीकरण मोटे रूप में मात्रिक और वर्णिक दो भेदों में किया जा सकता है । पर अधिकांश गीत मात्रिक ही हैं । कुछ गीतों में मात्रा और वर्ण का मिश्रण भी है । इनके आगे गीतों के चरण की तुकों के अनुसार सम, विसम और अर्द्धसम के रूप से इनके उपभेद हो सकते हैं । यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि जिस प्रकार गाथा, छप्पय, दोहा आदि के मात्रा-प्रसार के अनुसार कई भेदोपभेद हो सकते हैं उसी तरह इन गीतों के भेदोपभेद नहीं होते । केवल 'पिंगळ-प्रकास' के रचयिता हमीरदान रतनू ने अपने 'पिंगळ-प्रकास' में प्रस्तार के आधार पर 'वेलियो सांणोर' के ३१ भेद अवश्य किये हैं । पर अन्य छन्द-शास्त्रों में इस प्रकार का सिद्धान्त नहीं अपनाया गया है ।

जहां तक इन गीतों के नाम और लक्षण का प्रश्न है, विभिन्न छन्द शास्त्रियों में कई गीतों के बारे में मतभेद भी हैं । उदाहरणार्थ—पिंगळ-सिरोमणि' में 'पंखाळो' गीत सोलह मात्राओं का सम छन्द है । परन्तु 'रघुनाथ रूपक' में उसे 'छोटा सांणोर' के समान ही माना है । 'पिंगळ-सिरोमणि' में जो 'वृहत सांणोर' है उसे 'रघुनाथ रूपक' में 'प्रहास सांणोर' कहा गया है । 'पिंगळ-सिरोमणि' का 'गाहा चौसर' 'रघुनाथ रूपक' तथा 'रघुवर जस प्रकास' के 'गाहा चौसर' से भिन्न है । 'सिहचलो' गीत 'पिंगळ-सिरोमणि' में सांणोर का ही एक भेद माना गया है पर 'रघुवर जस प्रकास' और 'रघुनाथ रूपक' में यह गीत भिन्न प्रकार का है । 'रघुवर जस प्रकास' तथा 'रघुनाथ रूपक' का 'भाखड़ी' गीत 'पिंगळ-सिरोमणि' से भिन्न है । इसी प्रकार सेलार, दुमेळी, सुपंखरो, काछो, भ्रमर-गुंजार, आदि गीतों के सम्बन्ध में भी इन छन्द-शास्त्रों में भिन्नता पाई जाती है । अतः छन्द शास्त्र की दृष्टि से इन गीतों के अध्ययन में उपरोक्त सभी छन्द शास्त्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है । यहां स्थानाभाव के कारण इस पर विस्तार के साथ विवेचन करना सम्भव नहीं है ।

डिंगळ गीतों के वर्ण्य-विषय—

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, राजस्थान के इस काल का इतिहास संघर्षपूर्ण रहा है । ऐसी स्थिति में डिंगल का अधिकांश गीत साहित्य वीर रसात्मक रचा

1. रघुवर जस प्रकास—संपादक, सीताराम लाळस; प्रकाशक, राज० प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।

गया है। अधिकांश योद्धाओं के साहसपूर्ण कार्य-कलापों और युद्ध में वीर गति प्राप्त करने वाले योद्धाओं पर असंख्य गीत ज्ञात-अज्ञात कवियों द्वारा रचे गए हैं। इन वीररसात्मक गीतों में सेना, सेना की साज - सज्जा, विभिन्न रणवाद्यों, युद्धातुर योद्धाओं की भाव-भंगिमाओं और घोड़ों की चंचलता तथा सैन्य-संचालन के तौर-तरीकों के अतिरिक्त युद्ध में प्रविष्ट होने पर युद्ध की भयंकरता तथा विभिन्न अस्त्रों-शस्त्रों के प्रहार के साथ सुनाई देने वाली वीरों की ललकार के साथ वहने वाली रक्त की नदियां और उनमें तैरने वाले कबंधों के सिरों का वीभत्स वर्णन देखने को मिलता है, जहाँ रणचंडी अपना खप्पर लेकर मुण्डों की माला पहने हुए नृत्य करती है। इस प्रकार के वर्णन की परिपाटी साधारणतया अधिकांश गीतकारों ने अपनाई है। परन्तु कई गीतकारों ने सांग रूपक द्वारा युद्ध का वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है। राठौड़ रतनसिंह (उदावत) के युद्ध को लेकर कवि ने एक सांग रूपक बांधा है, जिसमें अकवर की फौज को विष-कामिनी बनाया गया है और रतनसिंह को दूल्हा बना कर विवाह की पूरी रश्म तथा रति-क्रीड़ा तक का रूपक युद्ध के साथ बिठाया गया है। उदाहरणार्थ कुछ द्वाले इस प्रकार हैं।[1]

सझि आउध तिम रूप सनाही, आभूषण आभरणे अंग ।
पारंभ मीर घड़ा गुड़ि-पाखर, जोधां सूं रचियौ रिण जंग ॥
सगति वडा वड एक सारिखा, बाबर-हर सलखा-हर वेह ।
अकन कुंवारी नारि अजमेरी, चाली तैं सांहमि चढ़ जेह ॥
गाज अवाज सांभळे गढ़पति, आकंपिया घरपुड़ अनड़ांह ।
जोध तणै घरि वींद जोवती, घूमी सांमी वीर घड़ाह ॥
वड सिरहूं नांखे वड वडती, विसरति पूरति विपरति वेस ।
लाडी आवै गरज लोडती, दौड़ाया भड़ चौदस देस ॥
निमंत्रीहार अकम निसासहि, द्रिहँगसि ढोलां रवद दुवाड़ ।
विस कन्या देखे वजवाया, मुणियउ मांड अनड़ मेवाड़ ॥
विकट अणी नख कूंत वधारे, भुज भळका भाला भालोड़ ।
खापर फौज पाधरा खड़िया जैतारण ऊपरि जंग जोड़ ॥
अरि-घड़ दूण सवा लख आवध, सोळै दूण सझे सिणगारि ।
कूंत कवांण छुरी काछोली, मलफि गुरज गहि फणिज कुमारि ॥
सिहण डसण तण नयण वयण सिंघ, धनुस मदन सरपंच सधूप ।
रूप किया तो ऊपर रतना, रिम घड़ नव तेरह तिम रूप ॥
अंत दिन लगन महूरति ऊपरि, धवळ मंगळ दळ हूंकळ धौड़ ।
मीर घड परणण कौमारी, मारू रयण वांधियौ मौड़ ॥
अपछर देख मळै आखाड़ौ, विघन तणौ रचियौ वीमाह ।
रिणवट उरां वांधियौ रतने, परा फौज आवी पतिसाह ॥

---

१. द्रष्टव्य—परम्परा, भाग १४

मन कट राग वशा लग मोजां, कटि मेखळ कसियो कुरवांण ।
पाँ मोर घणा उपडंतो, नीयसतै नेवर नीसांण ॥

नगार घोर वाजती पायल, कांकण हाथळ चूड़कस ।
नापर घड़ आवी तोमावत, रयण रमाड़ेण एक रस ॥

डार हाक हूकळ आडम्बर, डह डायणी उडियांण डोह ।
वर गज चनि आवी विसकन्या, लखण बतीस छतीसे लोह ॥

चोर जरद पाखर चंडाउण, कांचू जिरह जड़ाव करि ।
त्रिउ कजि परिमळ रजी पींजरै, हाले हूकी जोधहरि ॥

नयण कटाख बांण नीछटती, कसि चिहुँ दिस फेरती कटाह ।
ऊड रयण वर परणण आवी, घूमर कीयां मोर घड़ाह ॥

मंड वच जेणि सेहुरा कांमण, कर गैवर माले किरमाळ ।
हूकी डाल वेलि ढळकंती, तोरण जैतारण रिणताळ ॥

युद्ध वर्णन के अतिरिक्त शृंगार और भक्ति भी इन गीतों के प्रमुख वर्ण्य-विषय रहे हैं। इस काल में रचित राठौड़ पृथ्वीराज की 'वेलि' वीर, शृंगार और भक्ति की त्रिवेणी है। क्योंकि वह सही माने में अपने युग का प्रतिनिधित्व करती है। शृंगार के दोनो पक्षों—वियोग और संयोग संबंधी कई सुन्दर गीत उपलब्ध होते हैं। इन गीतों में प्रेम-भावना के अतिरिक्त उद्दीपन रूप में प्रकृति आदि का भी सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है।

घण गाजै मेघ दवा दस घोरां, लूंबी घटा बरसवो लोरां ।
मंमत मसत धारियो मोरां, जोवो पीव चौमासो जोरां ॥

वोसर आयो अद्र बुझेली, राहां भरांणो पांणी रेली ।
विरहां दिये पलोटा वेली, आंटीला मत छोड़ अकेली ॥

दमकै स्याम घटा में दामण, गीत रसालु मंडिया गामण ।
राजनां तीज मनाजे सांमण, कतीक वात बतावु कांमण ॥

पळकै चपळा करै पळाका, खळके नीरहर करै खळाका ।
लळकै रंग लूंब लळाका, कमरां खोलो सूंस गळाका ॥

धरती आन वेह पुड़ धूजै, गहरो इन्दर उपरां गूंजै ।
साजन केम चाकरी सूझै, वनिता वात किस विध बूझै ॥

दीजै हाथ हमारै दारू, महलां मांह पोढ़ रह मारू ।
आसा टंमर हाथ अबारू, मेल रहो हमारे सारू ॥

हमकै मानो कह्यो हमारो, जाभा पड़ियो अबे जमारो ।
गरजे कूंपो उतर नगारो, परदेसां पिय मतां पधारो ॥

इस प्रकार के गीतों के अतिरिक्त सुन्दरियों के सौन्दर्य का सरस वर्णन तथा विभिन्न भाव-भंगिमाओं में प्रकट होने वाली कामातुर चेष्टाओं का भी बड़ा सुन्दर तथा मौलिक वर्णन कहीं-कहीं अपनी विशिष्ट उपमाओं के साथ देखने को मिलता है। यहां उदाहरणार्थ जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी का एक गीत प्रस्तुत किया जाता है।

घणा रंग में घुमंडी इते, उमंडी मेह री घटा,
धरे रीत उलट्टा नेह री करै धंक।
सो तुचक्कै हार कुचां देह री ऊपट्टै सोभा,
सचक्के मचक्के झींणा केहरी सी लंक ॥ १

महा आणंद सूं पंछी गहक्के डहक्के मोर,
खाट सो चहक्के बणे असे रूप खेल।
सामीर री भू लपट्टां महक्कै तेण समै,
वृछ धू लहक्कै जांणे चामीर री बेल ॥ २

स्रवंती पसेवा बूंद प्रीत लता सींचवा री,
चींत खींचवा री चखां आमेळ री चोज।
जाणवा लगीसी अंग भींचवा री सारी जोख,
माणवा लगीसी हींदे हींचवा री ओज ॥ ३

पीठ हले वेणी अत्र राच रह्या अंग पूर,
पत्र केळ बांच रह्यौ प्रेम हूं पनंग।
कोक कळा कत सो विनोद सांच रह्यौ किनां,
आछे मोद नाच रह्या नूत सों अनंग ॥ ४

लोभावणी नवोढ़ा नेह नसा कचोळा लेती,
भारी रूप हिचोळा सचोळा लेती भाव।
करां मक्केत तचोळा लेती तूझ किनां,
नकू रा हचाळा हूं मचोळा लेती नाव ॥ ५

जाझां रूंस लूटियो विलास च्यारूं जाम रोस,
पूंजआळी नाम रोस पूतळी पाखांण।
भूलां चन्द्र गांम रो न धांम रो वखांण भूलां,
वांम रो न भूलां न भूलां काम रो वाखांण ॥ ६

जहाँ तक भक्ति का संबंध है, निर्गुण व सगुण भक्ति शाखाओं के विभिन्न सम्प्रदायों की भक्ति-भावना प्रायः विभिन्न राग-रागनियों के आधार पर निर्मित सरल व सरल गीतों में प्रकट हुई है। कुछ कवि ऐसे अवश्य हुए हैं जिन्होंने छप्पय, झूलणा, दोहा, गीत आदि के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त किया है। अनेकों चारण कवियों ने विभिन्न गीतों के द्वारा देवी की स्तुति की है। इस काल के प्रसिद्ध कवि ईसरदासजी तथा ओपाजी आढ़ा के

भक्ति संबंधी गीत, जिनमें संसार की असारता और आत्मविश्लेषण का प्रमुख स्वर है, बहुत मिलते हैं। उदाहरणार्थ यहां ओपाजी आढ़ा कृत एक गीत प्रस्तुत किया जा रहा है।

गीत जांगड़ो सांणोर

जोबन कारमो रे विहांणे उड़ जासी ,
धारर भजन तणो अभ्यास ।
प्राणी फेर न आय प्रामणा ,
वळै न बीजै वागड़ वास ॥ १

होय सनाथ जनम मत हारव ,
नाथ सुमर सतलोक नरेस ।
नाम लेण जोयां नह मिळसी ,
चौस फोड़ देतां लघ वेस ॥ २

सूनो गांम न फाड़ै साड़ो ,
गाफल हिवड़ै राम गियांन ।
'ओपा' ऐ दिन फदै आवसी ,
भजसी वळै फदै भगवान ॥ ३

फरसराम भज चख इमरत फल ,
जनम सफळ हुय जासी ।
पाछो वळै अमोलक पंछी ,
इण तरवर कद आसी ॥ ४

इस प्रकार के स्फुट गीतों के अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध छन्द शास्त्रों का निर्माण करने वाले कवियों ने अपने छन्दों के उदाहरण में राम की कथा ली है और इस प्रकार यथा-स्थान गीतों के प्रकरण में राम की महिमा गाते हुए अपनी भक्ति-भावना को भी प्रकट किया है। इस दृष्टि से 'पिंगळ-सिरोमणि'[1], रघुवर जस प्रकास[2], रघुनाथ रूपक[3] व पिंगळ-प्रकास' महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। पिंगळ-प्रकास के रचयिता हमीर दान रतनू ने तो अपना कोश 'हमीर नाम माळा'[4] भी सांणोर गीत में ही लिखा है।

इस काल में नीति सम्बन्धी साहित्य की भी बड़े परिमाण में रचना हुई है। दोहों को अधिकांश कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना है। कई निपुण कवियों ने

---

1. पिंगळ-सिरोमणि—लेखक द्वारा सम्पादित, परम्परा, भाग १३
2. रघुवर जस प्रकास—श्री सीताराम लाळस द्वारा सम्पादित—राज० प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
3. रघुनाथ रूपक—महताबचन्द खारेड़ द्वारा सम्पादित—काशी नागरी प्रचारिणी सभा
4. डिंगल कोश—लेखक द्वारा सम्पादित—राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर

'चाणक्य-नीति' जैसे प्राचीन नीति ग्रन्थों का सुन्दर अनुवाद विभिन्न छन्दों में किया है। नीति की अभिव्यक्ति गीतों के माध्यम से भी बड़े सशक्त ढंग से हुई है। यहां महाराजा मानसिंहजी (जोधपुर) के राज्याश्रित प्रसिद्ध कवि बांकीदास का एक गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है—

वस राखो जीभ कहै इम बांकौ, कड़वा बोल्यां प्रभत किसी।
लोह तणी तरवार न लागै, जीभ तणी तरवार जिसी॥ १

भारी अगै उगैरा भारत, हेकण जीभ प्रताप हुवा।
मन मिल्चोड़ा तिकां माढवां, जीभ करै खिण मांह जुवा॥ २

मैला मिनख वचन रै माथै, वात वणाय करै विस्तार।
बैठ सभा विच मूंडा वारै, बचन काढ़णौ बहुत विचार॥ ३

मन में फेर धणी री माळा, पकड़ै नंह जमदूत पलो।
मिळै नहीं बकणा सूं माया, भाया काम बोलणौ भलो॥ ४

इन विषयों के अतिरिक्त दुर्ग, नगर, जलाशय, वाटिका आदि अनेकानेक विषयों पर गीतों के माध्यम से वर्णन हुए हैं। कवि शिवबक्षजी पालावत का अलवर पर ऋतु-वर्णन तथा महादान मेहड़ू रचित पीछोले का वर्णन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहां पीछोले के वर्णन के कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं।[1]

तिलक कियां केसर तणा, गजवण वण गजगाह।
जोय राह बेहूं जपै, वाह उदयपुर वाह।
वाह उदयपुर वाह के पुंगळ आरखा।
पदमण घर घर नार प्रथी विच पारखा।
मरद गरद हुय जाय, देख गूंगट को ओ'लो।
झुक पीछोला री तीर दीअे पिणियारयां झोलो॥ १

कोयल दीयै टहुकड़ा, पपइयौ करै पुकार।
पांणी परनाळां पड़ै, धर अंबर इकधार।
धर अंबर इकधार के इन्द्र अछेह कै।
सांचौ झगड़ौ मांच्यौ मेह सनेह कै।
करै ध्यांन होय महर पति कैळास की।
मिळै उदैपर वास हवा चत्र मास की॥ २

इस काल के शासक वर्ग के आमोद-प्रमोद के साधनों में शिकार तथा हाथी व सिंह के युद्ध आदि प्रमुख साधन थे, अतः उनके आश्रित कवियों ने इन विषयों पर भी गीतों की रचना की है।

---

१. महादान मेहड़ू

गीतों में जहां इस प्रकार के गम्भीर व ओजस्वी वर्णन उपलब्ध होते हैं वहां करुण एवं हास्य रस भी इनसे अछूता नहीं रहा।

इन गीतों का क्षेत्र केवल इन वर्ण्य-विषयों तक ही सीमित नहीं रहा। सामाजिक उथल-पुथल और जीवन संघर्ष में व्याप्त अनेकानेक समस्याओं का सामना करते समय उमड़कर आने वाली भावनाओं की अभिव्यक्ति भी इन गीतों में बड़े जीवन्त और हृदय-स्पर्शी रूप में हुई है। व्यंग्य तथा आभार प्रदर्शन से संबंधित कई गीत आज भी अतीत की अनेकानेक भावानुभूतियों का जीवित चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। डूंगरपुर के महारावल का जब अंग्रेजों से संघर्ष हुआ तो उनके सरदारों ने उचित अवसर पर उपयुक्त सहायता नहीं की जिस पर दलजी मेहडू ने बड़ा ही व्यंग्यपूर्ण गीत लिखा है। गीत के दो द्वाले यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

मूंघा हालरा उगेर, यया पालणै हिंडाया मात ,
पोसै केण कारणै, जिवाया थांने पीव ।
नोकां ताज धारणै, फिरंगी हूंत झाट लेता ,
जैर गाय धणी रै, बारणै देता जीव ।।
आधा जाता मूंडो लेर, पाछाई न आवणो छो ,
करे सारा भेला क्यूं, गमावणो छो कूंत ।
आगम पावतां वठै, पीवणो सही छो आक ,
जीवणो नहीं छो, धणी जावतां जसूंत ।।

सन् १८५७ की क्रान्ति में आउवा ठाकुर कुशालसिंह ने अंग्रेजों का मुकाबला बड़ी बहादुरी के साथ किया था पर अन्त में उन्हें अपना गढ़ छोड़ना पड़ा। अंग्रेजों के भय से किसी ने भी उन्हें शरण नहीं दी। अन्त में कोठारिया के रावत जोधसिंह ने उन्हें अपने पास रखा और अंग्रेजों से मुकाबला किया। उनके इस साहसपूर्ण कार्य की प्रशंसा में कवि ने गीत कहा है, जिसके दो द्वाले यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

पड़ै असायद थोद छतरधर फिरंग पालटै ,
आंट धर क्रोध भुज गयण अड़िया ।
सोध अंग्रेज हिन्दुवांण आया सरब ,
जोध सिर मेस रै कदम जुड़िया ।
पड़ै धक विकट चांपो मुदै पुल गयो ,
नड़ां नट ढकै उर नांह नूंनो ।
तोल मग टेक ना छंडै मोकम तणो ,
अेकलो टोर भुज लहण ऊनो ।।

महाराजा मानसिंहजी जब जालोर के किले में ग्यारह वर्ष तक भीमसिंहजी की फौज से घिरे रहे तो आउवा ठाकुर माधोसिंहजी ने भीमसिंहजी की अप्रसन्नता की परवाह न कर

निरन्तर खाद्य सामग्री आदि से उनकी मदद की। महाराजा मानसिंहजी ने उनके इस मानवोचित गुण और आभार को प्रकट करने के लिए निम्न लिखित गीत की रचना की।

अडर झोक आकाया रण टला रा दियण अत।
वसू कज सला रा करण वारू।
सिवा रा सुतन खग झला रा साहंसी।
मघा रंग भला रा कर मारू॥ १

ग्रही निज हाथ मो बांह जाणी जगत।
प्रगट कीरत चली समंद पाजा।
कहै आगौ लगा यह आलम कथन।
रिड़मलां थापिया जिकै राजा॥ २

ज्यां करां लखण रा अंट वै जोस रा।
प्रगट कै चार ज्यां विरद पायी।
जाणियो मूझ दिल जगत हव जाणसौ।
आवियां पत्र जोधांण आयौ॥ ३

तिलक निज प्रिय रा दूसरा तेजसी।
झाट अरियां कियण काळ झांपा।
अडर जग जीत देवल कियौ आखियौ।
चाढणौ सुजस रो कळस चांपा॥ ४

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन की ज्वलन्त समस्याओं की असाधारण अभिव्यक्ति भी इन गीतों के माध्यम से हुई है।

मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत आने वाले गीतकार बहुत बड़ी संख्या में हैं। उच्च कोटि की गीत-रचना करने वाले प्रसिद्ध कवियों में राठौड़ पृथ्वीराज, दुरसा आढ़ा, ओपा आढ़ा, ईसरदास, हुकमीचन्द, रुघा मूता, महादान महड़ू, महाराजा मानसिंह, बांकीदास, उदैराम गूंगा, सूर्यमल्ल मिश्रण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यहां स्थानाभाव के कारण उन पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं है अतः गीतों की रचना-प्रणाली सम्बन्धी आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त उनकी कुछ विशेषताओं आदि का ही सामान्य परिचय यहां दिया गया है।

सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् ज्योंही अंग्रेज साम्राज्य की नींव गहरी जमी और उन्होंने अपनी कूटनीति तथा शिक्षा-पद्धति के द्वारा यहां के समाज व शासक वर्ग को अकर्मण्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का गुलाम बनाया, तब यहां के साहित्य में वह अनुभूति, सत्य-परायणता तथा ताजगी नहीं रही। जो भी साहित्य भारतीय स्वतन्त्रता के पहले तक कुछ कवियों ने रचा वह उच्च कोटि का न हो कर समाज की गिरावट का द्योतक है।

परन्तु जहां तक १६ वीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक के गीत-साहित्य का प्रश्न है वह राजस्थानी साहित्य का ही नहीं वरन् समस्त भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने इन गीतों के महत्व को स्पष्टतया स्वीकार किया है "राजस्थानी गीतों में कितनी सरसता, सहृदयता और भावुकता है। वे लोगों के स्वाभाविक उद्गार हैं। मैं तो उनको सन्त साहित्य से भी उत्कृष्ट समझता हूं।" आवश्यकता इस बात की है कि इतने वृहद् तथा सामाजिक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इस साहित्य को संकलित व सुसम्पादित किया जाय अन्यथा अधिकांश साहित्य कुछ ही समय में सर्वदा के लिए काल के गर्भ में लुप्त हो जायेगा और अनेकानेक कवियों की प्रतिभा के परिचय से हमारा समाज वंचित रह जायेगा।

राठौड़ रतनसिंह ऊदावत री वेलि दूदो विसराल री कही

राजस्थानी वीररसात्मक साहित्य प्रबन्ध-काव्यों, वेलियों, स्फुट दोहों, गीत, छप्पय, भूलणा आदि छंदों के माध्यम से व्यक्त हुआ। इन सभी विधाओं में वेलियों का अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन राजस्थानी में लोक-हित के लिये प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों और देवताओं के तुल्य वन्दनीय महापुरुषों की चारित्रिक विशेषताओं तथा उनके आदर्श कार्यों को लेकर अनेकों वेलियाँ लिखी गई हैं। डिंगल के प्रसिद्ध ग्रन्थ राठौड़ पृथ्वीराज रचित 'वेलि क्रिसन रुक्मणि री' से पहले भी अनेक सुन्दर वेलियों का निर्माण हुआ है, उनमें राठौड़ रतनसिंह की वेलि भी एक है। यह काव्य-कृति भाव और भाषा की दृष्टि से इतनी प्रौढ़ और ओजपूर्ण है कि १७वीं शताब्दी की वीररसात्मक रचनाओं में इसे निस्संदेह एक क्लासिक रचना कहा जा सकता है।

डिंगल की वीररसात्मक काव्य-परम्परा में अनेक रूढ़ियों का निर्वाह देखने को मिलता है और प्रायः सभी कवि किसी न किसी रूप में उन रूढ़ियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। यथा—युद्ध एक महान पर्व है; उसमें भाग लेना प्रत्येक बहादुर व्यक्ति का कर्त्तव्य है; युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है; युद्ध से भाग जाना अपने कुल को कलंकित करना है और युद्ध में बहादुरी से लड़ना अपने कुल की कीर्ति को बढ़ाना है। युद्ध में काम आने वाले बहादुर योद्धा का वरण करने के लिये अप्सरायें लालायित रहती हैं। वे स्वयं अपना वर चुनने के लिये स्वर्ग से उतर आती हैं। युद्ध एक योद्धा के लिये विवाह की तरह है जहां वह दूल्हे का वेष धारण कर सेना रूपी कुमारी से विवाह करने के लिए पूरी साज-सज्जा से जाता है और पाणिग्रहण के पश्चात् उसका उपभोग करता है। इन सभी रूढ़ियों का अत्यन्त सजीव एवं विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत वेलि में देखने को मिलता है। पूरी वेलि में कुशल कवि ने युद्ध का रूपक विवाह के साथ बांधा है। कुछेक द्वालों में कवि ने केवल युद्ध का वर्णन कर के रूपक का संकेत मात्र देकर ही संतोष कर लिया है। पर अधिकांश द्वालों में रूपक का निर्वाह बड़ी सहजता के साथ किया गया है—

रोस कसीय घुमंती रमती।
चुंवती मदन महा रस चौळ।

हाली घड़ नीसांण हुवाए ।
रिग्ग पाखर करि नेवर रोळ ॥

केवल ७२ द्वालों की इस छोटी सी कृति में वीर रस के अतिरिक्त शृंगार, वीभत्स, भयानक और रौद्र रस का भी परिपाक कवि ने सहायक रसों के रूप में किया है। अपनी इस अत्यन्त उच्च कोटि की वर्णन सम्बन्धी विशेषताओं के कारण ही डॉ. टैसीटरी ने इस के महत्त्व को इन शब्दों में प्रदर्शित किया है—"A small but valuable poem in 66 veliya gitas by an author unknown, in honour of Ratan Si the Udavata Rathore, Chief of Jetarana. The poem commemorates Ratan Si's courage in facing an imperial force which had been despatched against him and the glorious death he met in the battle. Throughout the poem author has developed the simile of the hero who like a bridegroom goes to spouse the enemy army, a simile common in bardic poetry".[1]

सम्पूर्ण युद्ध-वर्णन में रूपक के कारण आने वाली खूबी के फलस्वरूप कविता पुनरुक्ति दोष तथा इतिवृत्तात्मकता से बच गई है, यद्यपि अतिरंजनापूर्ण वर्णन इसमें भी है। कवि ने युद्ध के वर्णन में विवाह की अनेकों रस्मों का इस बारीकी के साथ वर्णन किया है कि पाठक की कल्पना-शक्ति युद्ध और विवाह दोनों ही वातावरणों में विचरण करती हुई अनूठे भावालोक में पहुंच जाती है, यथा—

उतबंग वर वेहड़ा ऊतारै ।
दाखव रतन हाथ दवै ।
फारक आंहमी सांहमी फेरै ।
हुव हैकंप वीमाह हुवै ॥ ३८

चित्रोपमता इस कविता का मुख्य गुण है। वर्णन में इतनी सजीवता है और शब्दों का ऐसा समुचित प्रयोग किया गया है कि प्रत्येक द्वाला अपने आप में एक चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ है। इस प्रकार पूरी कविता चित्रों के एक एलबम के समान है जिसमें एक भावात्मक तारतम्य है और जो वर्ण्य-विषय की एकता के सूत्र से बंधा हुआ है। युद्ध में रतनसिंह का एक चित्र देखिये—

काविल फोट तणी विप कांमणि ।
घाए घूम सिंगारि घुरै ।
फिर फिर अफिर रतनसी फुरळै ।
फौज अपूठै फेरि फिरै ॥

* * *

---

[1]A descriptive Catalogue of Bardic and Historical M.S.S. Part I Page 70.

फेरी अफिरि फिरणीसी फेरी।
वींद रतनसी बांध वड।
धक घूणी फुरळी धौ फुरळी।
घेर मिळी सुरतांण घड़॥

पूरी कविता वेलियो-सांणोर छंद में लिखी हुई है, यद्यपि कहीं-कहीं मात्राओं में असमानता आ गई है। वयण सगाई का निर्वाह प्राचीन राजस्थानी साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता है। वयणसगाई में जो ध्वनि-साम्य का निर्वाह किया जाता है वह कविता पाठ में विशेष प्रकार की रोचकता ले आता है तथा कविता को याद करने में भी इससे बड़ी सहूलियत होती है। कई बार संपादन करने में भी इस नियम से बड़ी मदद मिलती है। इस काव्य में भी आदि से लेकर अन्त तक वयणसगाई का बड़ी खूबी के साथ निर्वाह किया गया है। कविता की भाषा ठेठ डिंगल है। इसमें कुछ अरबी व फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। भाषा इतनी प्रौढ़ और भावानुकूल है कि इस दृष्टि से इसे डिंगल की प्रथम श्रेणी की किसी भी रचना के समकक्ष रखा जा सकता है। कवि शब्दों के वजन और उनकी खूवियों का ऐसा पारखी है कि एक भी शब्द के औचित्य में सन्देह करने की गुंजाइश निकालना कठिन हो जाता है।

इस रचना का निर्माण १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ है, अतः इस काल तक व्याप्त पुरानी पश्चिमी राजस्थानी की भाषागत विशेषताओं को भी इस कविता में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। प्राचीन राजस्थानी और मध्यकालीन राजस्थानी के बीच की कड़ी होने के कारण यह रचना भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

इस रचना के नायक रतनसिंघ राव सीहाजी की १५वीं पीढ़ी में होने वाले राव ऊदा के पौत्र थे। ऊदा बहुत प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध योद्धा हुए इसलिये उनके वंशज ऊदावत कहलाये। सहूलियत के लिये उनका वंश-वृक्ष यहां दिया जाता है।

वंश वृक्ष

राव सीहाजी
|
राव आसथानजी
|
राव धूहड़जी
|
राव रायपाळजी
|
राव कनपाळजी
|
राव जालणजी
|
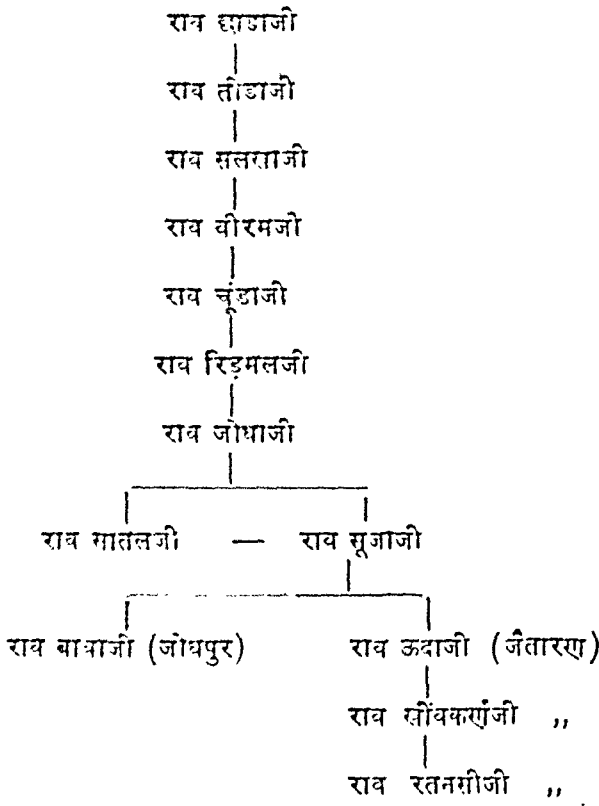
प्राचीन युग में बड़े परगनों के जागीरदार रियासत के राजा के अधीन होते हुए भी अपना स्वतन्त्र-सा अस्तित्व भी रखते थे और अपनी ताकत के बूते पर स्वतंत्र रूप से संधि-विग्रह में भाग ले लिया करते थे। जैतारण के जागीरदारों की भी कुछ ऐसी स्थिति थी। वे अपनी बहादुरी और क्षत्रियत्व के लिये प्रसिद्ध थे।

जैसा कि कविता से ही स्पष्ट है, राव रतनसिंघ का युद्ध अकबर की सेना से हुआ था और वह सेना अजमेर के सूबेदार हाजीखां के भाग जाने पर जैतारण आई थी। इस घटना का वर्णन पुरानी ख्यातों में भी मिलता है और रामकरणजी आसोपा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों ने भी इस तथ्य पर प्रकाश डाला है पर समय आदि को लेकर इसमें मतभेद है।

ओझाजी का मत है कि सं० १६१५ में बादशाह अकबर जब लाहौर से लौटता हुआ सतलज पार कर लुधियाना के पास ठहरा हुआ था तो उसने हाजी खां को परास्त करने के लिये सेना भेजी और हाजी खां गुजरात की तरफ भाग गया। उन्हीं दिनों शाहकुली खां के साथ जैतारण पर सेना भेजी गई। इस सेना में (मारवाड़ की ख्यात के अनुसार) राजा भारमल, जगमाल, पृथ्वीराज, राठोड़ जयमल, ईश्वर वीरमदेवोत भी शामिल थे। जैतारण के हाकिम ने मालदेव को सहायता के लिये लिखा था पर

उसने सहायता नहीं भेजी जिससे राठौड़ रतनसिंह खींवावत राठौड़ जैतसिंहोत आदि काम आये।[1]

रामकरण जी आसोपा, 'नीबाज के इतिहास' में लिखते हैं कि वि० १६१४ में अजमेर का सूवेदार कासिम खां जैतारण पर चढ़ आया। उस समय इन्होंने राव मालदेजी से सहायता मांगी थी परन्तु राव मालदेजी की तरफ से सहायता नहीं मिली। मुसलमानों की सेना वहुत अधिक थी तथापि उन्होंने उसकी परवाह न कर के बड़ी वीरता से मुकाबला किया और कई शत्रुओं को मार गिराया। वहां सूवेदार के हाथ का तीर इनके मस्तक में लगा और उसी से वि० सं० १६१४ की चैत वदि १० को इनका स्वर्गवास हो गया।[2]

आसोपाजी ने इस युद्ध और रतनसिंह की मृत्यु का जो संवत १६१४ निश्चित किया है वह सही है क्योंकि इसकी साक्षी जैतारण में बने रतनसिंह के स्मारक-मंडप के शिलालेख में भी मिलती है। इस जीर्ण मंडप के शिलालेख पर लिखा है—"सम्वत् १६१४ वरषे चैत वदि १० राजा रतनसिंहजी राठौड़······गांगो करमसोत—अकबर की फौज सूं राड़ कीवी।"

इस काव्य के रचयिता का नाम एक प्रति में दूदौ विसराल मिलता है पर इस कवि के सम्वन्ध में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती और न इनके नाम की कोई रचना ही प्राचीन राजस्थानी ग्रन्थों में देखने को मिलती है। भाषा की प्राचीनता और युद्ध का सजीव चित्रण देखते हुए यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि कवि रतनसिंह का समकालीन था और यह रचना १६१४-१५ के लगभग रची गई होगी।

---

[1] जोधपुर राज्य का इतिहास (ओझा) प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३२

[2] इतिहास नीवाज, पृष्ठ ४८

पाबूजी रा दूहा—लधराज कृत

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी पश्चिमी राजस्थान में एक सामाजिक क्रान्ति की शताब्दी कही जा सकती है। इस शताब्दी में जहाँ शासकों को बाह्य आक्रान्ताओं का मुकाबला करने में संघर्षरत रहना पड़ा वहाँ जनजीवन को एक नया संबल देने और पिछड़े अछूत वर्ग में आत्म-विश्वास जगाने का कार्य भी अनेक विभूतियों ने किया।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ये विभूतियाँ केवल धर्मोपदेश देने वाली न होकर स्वयं प्रतिक्रियावादी तत्वों का मुकाबला करने और उनके आतंक से प्रजा को मुक्ति दिलाने वाली थी। उनकी कथनी से करनी अधिक क्रियाशील थी। इसी लिये वे लोग समाज में देव-रूप माने गये और आज तक इनमें जनता की अविचल श्रद्धा विद्यमान है।

पश्चिमी राजस्थान में उस समय पांच पीरों के नाम से ये विभूतियाँ प्रसिद्ध हुई—

पाबू हड़बू रांमदे गोगादे जेहा।
पांचू पीर पधारज्यो मांगळिया मेहा॥

पाबूजी ने थोरी (भील) जाति जो कि अस्पर्श्य मानी जाती है को अपनाया और उसके उत्थान के लिये कार्य किया। उसको समाज के नजदीक लाने और उसमें आत्मबल पैदा करने का उन्होंने असाधारण कार्य किया। इसके लिये उनको अपनी जाति और बिरादरी की उपेक्षा और उलहनों तक को झेलना पड़ा। परन्तु समाज की इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की परवाह किये बिना उन्होंने निःसंकोच भाव से इस जाति को ऊपर उठाया। इसी लिये यह जाति आज भी उनके यश के गीत गाती है।

इसी प्रकार रामदेवजी जितने मेघवाल जाति में पूज्य हैं उतने और किसी जाति में नहीं। उन्होंने इस जाति की कुशलता और सामाजिक उन्नति के लिये कार्य किया। आज भी रामदेवजी के देवरे मारवाड़ के हर ग्राम में देखने को मिलते हैं और मेघवाल जाति बड़ी तन्मय होकर अपने भजनों में उनके लोकोपकारी विरुद का बखान करती है।

इसी प्रकार अन्य ३ पीरों ने भी उस समय अनेक लोकोपकारी कार्य किये और वे भी देवताओं की तरह उस समाज में पूज्य स्थान के न केवल अधिकारी बने बल्कि उनकी समाज के उत्थान के प्रेरणा-स्रोत के रूप में सैकड़ों वर्षों से याद किये जाते हैं।

राजस्थान की शिक्षित और शिष्ट कही जाने वाली जनता में जहाँ पौराणिक देवताओं की मान्यता की प्रधानता रही वहाँ निम्न और दलित जनता में इन लोक-देवताओं की स्थापना हुई, जो कि किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

इन महापुरुषों के चरित्र और कार्य-कलापों का बखान लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य दोनों में ही मिलता है। परन्तु उसमें लोक साहित्य की ही प्रधानता है क्यों कि सही मायने में वे लोक-नायक थे और लोक-भाषा की सरल गेय शैली में गुंफित गीतों में उनके लोकव्यापी यश की अनुगूंज अपने स्वाभाविक रूप में मुखरित हुई है। पावूजी के पवाड़े लोक-साहित्य की ऐसी ही धरोहर है। ये पवाड़े रावण हत्थे पर आज भी थोरी लोग बड़ी तन्मयता से गाते हैं।

अन्य लोक-देवताओं की तुलना में शिष्ट साहित्य भी पावूजी पर अधिक मिलता है। इसका एक मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि पावूजी का प्रचार थोरी जाति द्वारा सर्वाधिक किया गया अतः अन्य तबकों के लोग भी उनमें बहुत आस्था रखते हैं और पावूजी के पवाड़े थोरियों को बुलाकर बंचवाते हैं। वे इसे बड़ा धार्मिक कार्य समझते हैं और उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि इससे अमंगल नष्ट होते हैं। दूसरा कारण यह भी है कि पावूजी ने अपने कर्तव्य-पालन का निर्वाह करते हुए चारणी बरवड़ी की गायों की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग किया था। इस लिये चारणों में उनके प्रति श्रद्धा-भाव होना स्वाभाविक है। अनेक चारण कवियों ने उनकी स्तुति की है और पावू प्रकास जैसा वृहद् ग्रन्थ भी उनके चरित्र को उजागर करने के लिये चारण कवि मोडजी आशिया द्वारा रचा गया, जो कि राजस्थानी के प्रमुख ग्रंथों में गिना जाता है।

पावूजी के पवाड़ों के अनेक महत्वपूर्ण अंश पिलानी से डॉ० कन्हैयालालजी सहल द्वारा मरुभारती में प्रकाशित किये जा चुके हैं और राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा भी टेप रेकार्ड कर संग्रहीत किये गये हैं। 'पावू प्रकास' बहुत वर्ष पहले पावूजी के वंशज जोधपुर के केरू ठिकाने के विद्याप्रेमी ठाकुर साहिब ने प्रकाशित करवाया था। लधराज कृत पावूजी पर उपलब्ध दोहे राजस्थानी की प्राचीन काव्य-कृतियों में महत्वपूर्ण माने जाते रहे हैं परन्तु वे सुसम्पादित रूप में अभी तक जनता के सम्मुख नहीं आ पाये थे। पावूजी पर उपलब्ध साहित्य में प्राचीन और सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्य ये दोहे ही हैं। अतः इनका प्रामाणिक ढंग से प्रकाशन आवश्यक समझ कर ही यहां इन्हें प्रकाशित किया गया है।

इन दोहों में कवि ने कथा का सूत्र-रूप में प्रयोग करते हुए पावूजी के वीरता-पूर्ण क्रिया-कलापों, दैविक अनुभूतियों, कर्तव्यपरायणता से उद्‌बुद्ध यश आदि का वर्णन आत्मविभोर होकर किया है। पावूजी का जन्म १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना है और संवत १५३४ के आसपास झरड़े ने जींदराव खीची को मार कर पावूजी तथा हड़बूजी का वैर लिया था।[१] मुंहणोत नैणसी की ख्यात[२] में पावूजी की कथा दी हुई

१. मरु भारती, वर्ष १ अंक २ पृ. ४० डा. सहल।

२. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग ३, रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर।

है. उसे सार रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिससे इन दोहों में प्रकट कथा-सूत्र की पृष्ठभूमि को समझने में सहायता मिलेगी।

'धांधल महेवे रहता था, वह स्थान छोड़ कर पाटण के तालाब पर आकर ठहरा। वहाँ एक दिन अप्सराएँ स्नान कर रही थीं, उनमें से एक को धांधल ने पकड़ लिया। उसने बहुत मना किया पर धांधल न माना और अप्सरा को अपनी पत्नी बनाकर अपने साथ कोलू ले आया। परन्तु उसने उसे अपनी पत्नी से अलग स्थान पर रखा। कालान्तर में उसके एक पुत्र (पाबू) और एक पुत्री (सोना) पैदा हुए तब उसने उन्हें एक महल बनवा दिया। धांधल ने अप्सरा के साथ यह वादा किया था कि वह कभी भी छुप कर उसे देखने नहीं आएगा। बहुत समय तक यह वादा निभाया परन्तु एक दिन धांधल के मन में आई कि यह अप्सरा है अतः अनेक रूप धारण करती होगी सो एक दिन चुपचाप दिन को उसके महल में आया तो क्या देखता है कि अप्सरा तो सिंहनी बनी हुई है और पाबू सिंह के बच्चे की तरह दुग्धपान कर रहा है। अप्सरा ने जब धांधल को देखा तो उसने अपना स्त्री-रूप धारण कर लिया और बोली—आपने अपना वादा तोड़ दिया है अब मैं स्वर्ग को जाती हूं, इन बच्चों को सम्भालो। यह कहते ही अप्सरा गायब हो गई। धांधल ने इन बालक और बालिका की परवरिश के लिए धाय रख दी।

धांधल की मृत्यु के समय पाबू की उम्र कोई ५ वर्ष की थी पर वह बड़ा करामाती था और शिकार खेलने में व्यस्त रहता था। धांधल के दूसरे पुत्र बूड़ोजी पाबू से बड़े थे। वे तो गद्दी पर बैठे और उनकी बहिन प्रेमलदे को खीची जींदराव को ब्याही और सोनलदे को सिरोही के देवड़े राव को ब्याही।

एक बार भयंकर दुष्काल पड़ा तब अने बाघेले के राज्य में थोरियों ने अपनी क्षुधा शान्त करने के लिए एक जानवर मार डाला। बाघेले के कुंवर ने उनका पीछा किया, वह थोरियों के हाथ से मारा गया। बाघेले को खबर मिलते ही वह बड़ा क्रुद्ध हुआ तथा थोरियों पर चढ़ आया। इस संघर्ष में थोरियों का पिता मारा गया। अना बाघेला लौट गया। थोरी लोग भयभीत होकर शरण के लिए भटकने लगे परन्तु किसी ने शरण नहीं दी। अन्त में जब ये बूड़ोजी के पास आए तो बाघेले से डरते हुए बूड़े ने भी उन्हें शरण नहीं दी और कहा तुम पाबू के पास जाओ तुम्हें शरण देने की सामर्थ्य वह रखता है। पाबू जंगल में शिकार खेल रहा था। उसे ढूंढते-ढूंढते वे उसके पास पहुंचे। उसने पहले तो अपना परिचय नहीं दिया क्योंकि वह साधारण लड़का-सा प्रतीत होता था परन्तु बाद में जब उसका चमत्कार देखा तो वे समझ गए कि यही पाबू है। पाबू ने उन्हें आश्वस्त कर आश्रय दिया।

बूड़ोजी ने अपनी लड़की गोगेजी को ब्याही थी तब पाबू ने संकल्प में देदे सूमरे की सांढिये देने को कहा था। लोगों ने बड़ा आश्चर्य किया कि देदे सूमरे से सारी दुनियां जानती है, उसकी सांढिये लाकर पाबू कैसे देगा। एक दिन पाबूजी ने अपने विश्वस्त चाकर हरिये थोरी से कहा कि देदे सूमरे की सांढियों का पता कर आ फिर सांढिये लेने को चलेंगे।

इधर चांदा रोज पावूजी से कहता है कि अना बाघेले में मेरा वैर बाकी है, इस में मेरी सहायता करो।

इसी बीच सिरोही से पावू की वहिन सोनल बाई का पत्र आया कि उसके पति ने उसको पीट कर उसका अनादर किया है। बात ऐसी हुई कि राव की दूसरी रानी वाघेली को अपने पीहर पर बड़ा गर्व था, वह अपने पीहर का गहना सोनल को बता-बता के गर्व प्रकट किया करती थी और एक दिन उसने व्यंग किया कि तेरा भाई तो थोरियों के साथ उठता बैठता है, उसकी क्या बिसात कि वह तेरे को ऐसा गहना दे। इस पर दोनों में कहा सुनी हो गई, राव ने बघेली का पक्ष लेते हुए सोनलदे को चाबुक मार दिया। यह समाचार सुनते ही पावूजी चांदाजी तथा थोरी लोग वहां को चढ़े। पावूजी अपनी कालमी घोड़ी पर चढ़ कर तैयार हुए। यह घोड़ी पावूजी को काछेला चारणों से मिली थी। कई लोगों ने इस घोड़ी को प्राप्त करने का प्रयास किया था। स्वयं बूड़ोजी भी इसे प्राप्त करने में विफल रहे, पर पावू ने जब घोड़ी मांगी तो उसे चारणों ने इस शर्त पर देदी कि उन्हें कोई शत्रु सतावे तो पावूजी उनकी रक्षा के लिए फौरन चढ़ कर आयेंगे। पावूजी ने यह शर्त मंजूर करली।

पावूजी राव पर चढ़ाई करने के पहले बूड़ोजी और उनकी पत्नी डोड गहेली से मिलने गये। डोड गहेली ने कहा कि यह घोड़ी आपके बड़े भाई को मांगने पर भी चारणों ने नहीं दी थी सो आपको नहीं लेनी चाहिये थी। अब आप क्या इस घोड़ी पर चढ़ कर धाड़ा मारोगे। पावू को यह बात चुभ गई। उसने चांदे से कहा—सिरोही की चढ़ाई स्थगित कर पहले हम लोग भाभी के पीहर डीडवाणे के डोडों पर चढ़ेंगे और उनकी सांढ़ियें लेकर आयेंगे। जब वे डीडवाणे पहुंचे तो थोरियों ने फौरन डोडों की सांढ़ियां घेरलीं। डोडों को खबर मिलते ही वे भी चढ़कर आये, मुकाबला हुआ। कई लोग मारे गये पर बूड़े के साले पकड़े गये। उनके हाथ बांध कर उन्हें कोळू ले आये और भाभी को अपने महल पधारने का निमन्त्रण देकर उन्हें (बूड़े के सालों को) दयनीय स्थिति में महल के नीचे खड़ा कर भाभी को झरोखे से बताया। भाभी ने कहा—मैंने तो हंसी-ठिठोली में तुमसे कह दिया था, तुमने सचमुच यह क्या कर दिया। जैसे तैसे उससे अपने भाइयों को छुड़वाकर उनकी अपने घर पर आवभगत की।

फिर ये लोग सिरोही पर चढ़ाई के लिये चले। बीच ही में राव की दूसरी पत्नी वाघेली का पिता वाघेला रहता था जिसमें चांदा का भी वैर बाकी था। अत: लगे हाथों उससे निपट लेना भी उचित समझा गया। उन्होंने जाते ही अना के बाग को उजाड़ा। अना चढ कर आया और संघर्ष करता हुआ मारा गया। उसके कुंवर की भी बारी थी परन्तु उसने बहुतसा गहना पावूजी को भेंट कर प्राणों की याचना की, तब उसे छोड़ दिया गया। इसके उपरान्त देवड़ों पर चढ़ाई की। सिरोही के देवड़े परास्त हो गये। पावू राव को मार डालता परन्तु बहिन ने अपने सुहाग की रक्षा के लिये बीच-बचाव कर राव के प्राण बचाये। वाघेली का सारा गहना पावू ने अपनी बहिन सोनलदे को दिलवाया और फिर वाघेली को कहा कि तेरा पिता अना वाघेला मेरे हाथ से मारा गया है। तब

कांची को विनाश करने लगी और पाबूजी अपनी बहिन के यहां भोजन करके वहां से रवाना हुए।

फिर कोळू न लौट कर सीधे देदे की सांढियां लेने के इरादे से उस तरफ बढ़े। हरिये को आगे रवाने किया। रास्ते में मिरजे खान का राज्य पड़ता था। उसके बाग को जब वे उजाड़ने लगे तो बागवान ने मिरजे के पास जाकर पुकार की। मिरजे को पता लगा कि वह तो पाबू राठौड़ है तो घबरा कर बहुत-सा माल नजर करने के लिये अपने साथ लेकर हाजिर हुआ। दूसरा सब माल तो उसे लौटा दिया केवल एक घोड़ा रखा वह घोड़ा हरिये थोरी को इनायत कर दिया। वहां से चलने पर पंचनद बीच में पड़ता था उसे भी अपनी दैविक शक्ति से पार किया। फिर देदे सूमरे की सांढियों को घेर कर लौटा। देदे को पता लगते ही उसने चढ़ाई की, पर पाबूजी त्वरित गति से पंचनद पार कर आगे बढ़ गये। देदे को जब मिरजा खान रास्ते में मिला तो मिरजे ने बताया कि वह बड़ा शक्तिशाली, दैविक चमत्कार वाला व्यक्ति है अतः उसका पीछा करना व्यर्थ है, तब देदा लौट गया।

पाबूजी जब सांढियें लेकर सोढों के ऊमरकोट में से निकल रहे थे तब वे महल के झरोखे के नीचे से निकले। सोढी राजकुमारी ने झरोखे से उन्हें देखा तो वह पाबू पर मुग्ध हो गई और अपना विवाह उससे कर देने के लिये उसने अपनी माता से कहा। सोढों ने बड़ी मनुहारें करके सगाई का नारियल पाबू को दिया। पाबू ने कुछ ही दिनों में लौटकर विवाह करने का वादा किया।

पाबूजी वहां से चल कर ददरैरे आये वहां गोगाजी से मिलना हुआ। वे भी दैविक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति थे, दोनों ने एक दूसरे को अपने-अपने चमत्कार बताये। कोळू पहुंचने पर सोढों ने शादी का निमन्त्रण भेजा। शादी की तैयारियां प्रारम्भ हुई। गोगोजी, बूड़ोजी, जींदराव खीची और सिरोही के राव को भी बुलाया। बाकी सब आ गये पर सिरोही का राव नहीं आया। चांदा के लड़की की शादी थी सो वह भी बरात में नहीं चल सका। बाकी सब लोग बरात सजाकर रवाना हुए।

रास्ते में जाते समय बरात को अपशकुन हुए। सभी लोगों ने कहा कि शकुन ठीक नहीं है, अपने को रुक जाना चाहिए। पाबू ने कहा कि निश्चित समय पर न पहुंचने पर शादी का लग्न चूक जाएगा। लोग कहेंगे पाबू की इन्तजार में सोढी तेल चढ़ी हुई रह गई। अतः मुझे तो जाना ही पड़ेगा। पाबू डेंबे को साथ लेकर ऊमरकोट पहुंचा। सोढों ने बड़े ठाट-बाट से विवाह किया। पाबू को रुकने के लिये सोढों ने बहुत कहा पर पाबू नहीं रुका और सोढी को लेकर कोळू पहुंचा। जींदराव खींची बरात के साथ पीछे रह ही गया था। उसने मौका देख कर उन चारणों की गायें घेरलीं, जिन्होंने पाबू को कालमी घोड़ी दी थी। दरबड़ी चारणी पुकार करती हुई बूड़ा और चांदा के पास पहुंची। दोनों ने कहा—पाबू ही तुम्हारी रक्षा कर सकता है और वह आ गया है, तुम इस प्रकार

विलाप मत करो। पाबू ने उनकी आवाज सुनते ही अपनी कालवी घोड़ी पर जीन किया और जींदराव के पीछे चढ़ा। युद्ध हुआ। जींदराव से गायें छुड़वा कर पाबूजी एक कुएं पर गायों को पानी पिलाने रुके। इतने में बरवड़ो की छोटी बहिन ने जाकर बूड़े से कहा—अब तूं कितने दिन और जियेगा। पाबू को तो जींदराव ने मार डाला है। तब गुस्से में आकर बूड़ा भी चढ़ा और जाकर खीची को ललकारा। खीची ने कहा—मैंने पाबू को नहीं मारा है। परन्तु बूड़ ने बात मानी नहीं जिससे युद्ध हुआ। बूड़ा वीरगति को प्राप्त हुआ। अब तो खीची घबराया कि अब पाबू हमको जिंदा नहीं छोड़ेगा अतः पाबू को मारना ही ठीक है, अभी मौका है। यह विचार कर पमँ घोरंधार को साथ लेकर वह बढ़ा। पाबू गायों को पानी पिला कर गांव की तरफ बढ़ा ही था इतने में खीची को आते देख कर वह सामना करने को रुका। भयंकर युद्ध हुआ। पहले युद्ध में जब चांदे ने खीची पर तलवार चलाई थी तो पाबू ने रोक ली थी, कहा—बहिन विधवा हो जाएगी। अब चांदे ने कहा उस समय आपने मेरी तलवार रोकली थी, यह भला अब अपने को छोड़ेगा ? पाबूजी बड़े पराक्रम से लड़ते हुए काम आये। १२० थोरी और कितने ही साथी राजपूत काम आये। सोढ़ी पाबू के साथ सती हुई। बूड़ेजी के पीछे उनकी पत्नी डोडगहेली सती हुई। डोडगहेली के पेट में सात माह का बच्चा था, वह उसने पेट चीर कर (झरड़ कर) निकाला और धाय को दिया तथा कहा इसको ठीक से पालना, यह दैविक पुरुष होगा।

झरड़ा जब १२ वर्ष का हुआ तो उसने जींदराव को मार कर अपने बाप व काका का वैर लिया। उसे गोरखनाथजी मिले थे। वह सिद्ध पुरुष हुआ।

पाबूजी के दोहों में अपनाया गया कथा-सूत्र नैणसी की कथा से प्रायः मिलता है परन्तु दोहों के पश्चात दिए गए पाबूजी के प्रवाड़ों में वर्णित घटनाओं का उल्लेख नैणसी की कथा में नहीं है। इन घटनाओं का प्रचार लोकोक्तियों में ही रहा है अतः नैणसी ने ऐतिहासिक ढंग से लिखी हुई अपनी कथा में इन घटनाओं को शायद महत्व नहीं दिया। परन्तु जन-मानस में उनके व्यक्तित्व के प्रति जो आस्था स्थिर हुई उसमें लोकोक्तियों का भी बड़ा हाथ रहा है।

दोहा छन्द अपभ्रंश की देन है परन्तु गीत की तरह इस छन्द का महत्व राजस्थानी में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक बना रहा है। गीत छन्द अपनी क्लिष्ट बनावट और विशिष्ट नियम-बद्धता के कारण आधुनिक काल में अप्रयुक्त हो गया है परन्तु दोहे का उपयोग निःसंकोच भाव से आज भी सरस अभिव्यक्ति के लिए लोग करते हैं।

मध्यकाल में वीरों को विरुदाने तथा उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए लिखे हुए सैकड़ों वीरों पर दोहे सोरठे मिलते हैं। इस छोटे से छन्द में अनेक प्रकार की शैलियों और शब्द-शक्तियों के सफल प्रयोग भी देखने को मिलते हैं। जहां तक लधराज कृत इन दोहों का प्रश्न है ये पांडित्यपूर्ण चारण-साहित्य के दोहों से अपेक्षाकृत सरल हैं क्योंकि ये पाबूजी के प्रति एक भक्त के श्रद्धा-भाव को व्यक्त करते हैं। परन्तु इनमें भी वयण

[illegible] का निर्वाह और शब्दों का उपयुक्त चयन तथा भावाभिव्यक्ति की सरलता आदि गुण सर्वत्र विद्यमान हैं। अतः इनका अपना साहित्यिक महत्व है। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में किसी लोकदेवता पर ऐसी शिष्ट रचना दूसरी देखने में नहीं आई। अतः इस दृष्टि से भी इसका अध्ययन अपेक्षित है।

इस कृति के लेखक लखराज ने इस कृति के अन्त में अपना परिचय देते हुए अपने आपको जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) का दीवान कहा है। परन्तु ख्यातों व इतिहास-ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। स्वयं नैणसी (जो इसका समकालीन था) ने भी अपनी ख्यात व परगनों की विगत में इसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। बहुत सम्भव है यह नैणसी की मृत्यु के पश्चात या पहले भी बहुत अल्प समय के लिए दीवान रहा है या जसवंतसिंह के अधीनस्थ किसी सूबे का प्रमुख अधिकारी रहा है।

माताजी री वचनिका–जयचंद जती कृत

भारतीय संस्कृति का प्रमुख आधार धर्म है। हमारे ऋषि मुनियों और संस्कृति के विधायकों ने धर्म और ईश्वर की अनेक रूपों में कल्पना कर उनकी स्थापना की है। समय-समय पर नवीन धर्मों का प्रादुर्भाव और उनका उत्थान तथा पर्यवसान हमारे राष्ट्र के आध्यात्मिक जीवन की बड़ी दिलचस्प कहानी है। अति प्राचीन काल में धर्म का जो भी स्वरूप और व्यावहारिक महत्व रहा है वह वेदों, उपनिषदों, महाभारत, रामायण आदि धर्म ग्रन्थों में सुरक्षित है, परन्तु पिछले हजार वर्षों के इतिहास में सामाजिक ऊहापोह और राजनैतिक संघर्ष के बीच धर्म की जो स्थिति रही उसका वास्तविक चित्रण यहां के लौकिक साहित्य में देखने को मिलता है। आक्रान्ताओं द्वारा किए गए आक्रमणों का सबसे अधिक मुकाबला राजस्थान के वीरों ने किया है। इसलिए इस भूभाग के जन-जीवन में प्राणोत्सर्ग की तुला पर धर्म का जो मूल्य-निर्धारण हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति यहां के साहित्य में विशिष्ट ओज और अटूट आस्था के साथ प्रकट हुई है।

आत्मोद्धार तथा निर्वाण के लिए चाहे जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव या वैष्णव सम्प्रदायों ने अनेकानेक साधना-पथ प्रशस्त कर मानव कल्याण की समस्याओं को अपने-अपने ढंग से सुलझाया हो, परन्तु इन धर्मों की साधना-पद्धति के उपकरणों की पवित्रता की रक्षा करने में शक्ति का ही प्रमुख हाथ रहा है। यही कारण है कि मध्यकालीन राजस्थानी समाज में शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां का शासकवर्ग मुख्य रूप से शक्ति की आराधना में जहां लीन दिखाई देता है, वहां चारण कवि महामाया की अनेकानेक रूप से उपासना कर उसे प्रसन्न करने में दत्तचित्त जान पड़ता है। शक्ति की निरन्तर उपासना और गहन आस्था के कारण ही अनेकानेक देवियों का प्रादुर्भाव भी इस जाति में हुआ। बारहठ किशोरसिंह ने लगभग चालीस देवियों का विवरण चारण-पत्र में प्रकाशित किया है। यहां के राजवंशों की कुल देवियां भी इन देवियों में से हैं[1]। सैकड़ों स्फुट छंद और काव्य इन देवियों की आराधना तथा प्रशस्ति के रूप में लिखे हुए मिलते हैं।

हमारे प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों में शक्ति का बड़ा विशद और महिमामय रूप व्यक्त हुआ है तथा उसे सृष्टि की मूलाधार माना है। उसी के नाना रूप मानव तथा प्रकृति

१–आवड़ तूठी भाटियां, कामेही गौड़ांह।
धी बरवड़ सीसोदियां, करनळ राठौड़ांह॥

के चेतना तरंगों के कारण हैं। इसीलिए उसकी नाना रूपों में आराधना हम करते आए हैं।

प्रस्तुत वचनिका में शक्ति के विस्तृत स्वरूप और तत्कालीन समाज के सन्दर्भ में उसकी आराधना को, दुर्गापाठ की पृष्ठभूमि में काव्यात्मक ढंग से व्यंजित किया गया है।

कवि जिस सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसमें देवी का जो रूप इस वचनिका में निखरा है, वह चाहे पूर्ण रूप से मान्य न हो, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने समय की आवश्यकता ने उसे शक्ति को इस रूप में स्मरण करने के लिए प्रेरित किया है। यहां यह स्मरण दिलाना असंगत न होगा कि कवि की समसामयिक परिस्थितियां औरंगजेब जैसे असहिष्णु शासक की राजनैतिक विडंबनाओं से ग्रस्त थी। हजारों मन्दिरों का उसके समय में ध्वस्त किया जाना और धर्म के नाम पर लाखों लोगों की तबाही इसके परिणाम थे। ऐसी स्थिति में केवल कृष्ण की प्रेम लीला का बखान करना, राम द्वारा सीता की परीक्षा लेना, भगवान महावीर का संसार त्याग करना तथा बुद्ध का अहिंसा उपदेश, क्षुब्ध तथा प्रताड़ित जनता को जीवित रह कर परिस्थितियों का सामना करने की प्रेरणा देने में असमर्थ था। अतः परिस्थिति के अनुकूल ही इस जती कवि ने शक्ति का स्मरण ओजस्विनी काव्य-शैली में भाव-विह्वल होकर बड़े मार्मिक ढंग से किया है। उसका भावोन्वेग समाज की वस्तुस्थिति से इतना अभिभूत है कि उसने शुंभ निशुंभ के दल को ही म्लेच्छों का दल कह कर संकटापन्न स्थिति की ओर अपने समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहा है।

मांडै असुर मसीत, देव भवन छोडै दुरस।
पछिम मांडै पारसी, अेही ग्रही अनीत॥

देवियों के विभिन्न अवतारों और उनकी अतुलनीय शक्ति के फलस्वरूप होने वाले अनेकानेक कार्य-कलापों का सुन्दर चित्रण प्रमुखतया यहां के चारण कवियों ने किया है। जिनमें चानण खिड़िया का माताजी रा छन्द, ईसरदास का देवियांण, हिंगळाजदान की मेहाई महिमा आदि प्रसिद्ध हैं। परन्तु इस चारणेतर कवि द्वारा इस विषय को लेकर भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से जो सशक्त सर्जन हुआ है, वह इसे डिंगल के उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है। वचनिका डिंगल की एक विशेष विधा है, जिसमें पद्य और लयात्मक गद्य का बड़े ही संतुलित रूप में प्रयोग किया जाता है। अचलदास खींची और राठौड़ रतनसिंह महेशदासोत पर लिखी गई वचनिकाएँ डिंगल साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यद्यपि इस प्रकार की अल्पसंख्यक कृतियां ही उपलब्ध होती हैं तथापि प्रस्तुत कृति का इस विधा की परम्परा में भी महत्वपूर्ण स्थान है। यहां काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस कृति की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में कुछ विचार प्रकट करना असमीचीन न होगा।

प्रस्तुत वचनिका में कवि ने देवी के विराट रूप, उनके सर्वव्यापी प्रभाव और

नाना चरितों के माध्यम से असुरों का दलन आदि प्रसंगों को बड़े ही मौलिक तथा ओजपूर्ण ढंग से प्रकट किया है। वचनिका का मूल कथानक शुंभ निशुंभ के अत्याचारों से त्रस्त देवताओं के रक्षार्थ देवी का सुकुमार रूप धारण कर दोनों दुष्टों का दलन करना है। कवि ने शक्ति को समस्त देवताओं का सर्जन करने वाली आदि शक्ति माना है।

देवी तो दीवाण, त्रिहुँ लोक में ताहरो।
विसन रुद्र ब्रहमाण, आदहि सिरज्या ईसुरी॥

ऐसी अनन्त शक्तिमान देवी का बखान करने में कवि अपने आपको असमर्थ पाता है। फिर भी दुष्ट-संहारनी महामाया की स्तुति करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है।[1]

कवि ने कवि परिपाटी के नाते देवी के समस्त कार्य-कलापों का यथोचित वर्णन करने में जो असमर्थता प्रकट की है उससे उसकी विनम्रता और भक्ति-भावना प्रकट होती है। वास्तव में कवि ने जिस प्रसंग को लेकर देवी के चरित्र और कार्य-कलापों को व्यक्त किया है, वह कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय हमें देता है। आदि से अन्त तक इस कृति में ओज गुण का एकसा निर्वाह तथा भाषा की सजीवता और प्रवाह इस बात की पुष्टि करते हैं कि कवि डिंगल-काव्य की परम्पराओं और भाषागत विशेषताओं से भली भांति परिचित ही नहीं है, वह काव्य के उचित स्थलों के मर्म को भी पहचानता है। इस दृष्टि से कथा के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं—

"तिण वेळा सुर जस ग्रंध्रप देवांगना नाग मुनेसर सूर चंद मिळ वैठा सिगळा ही सुरपति सूं असतूत करण लागा। राजि समस्त देवतां रा सिरमौड़, आग्याकारी तैंतीस कौड़ी। प्रिथी रा पाळगर, अटळ जोति, वाचा अविचळ, भळकतै भ्रिकट, सोवनो छत्र, जड़ाव में मुकट, अमोप सगत, आवुध विकट, जुध रा जीपणहार, सिरदारे सिरदार, त्रैभवण पति, अनेक अंग आसति इंद महराज, अमरगण सिरताज, इसो कहिने हाथ जोड़ि अरज करण लागा।"

शक्ति का देवी के रूप में अवतरित होते समय अपने रूप-निर्माण के लिए विभिन्न देवी-देवताओं तथा प्राकृतिक वस्तुओं से आवश्यक उपकरण ग्रहण कर विराट रूप को प्राप्त होना।—

निय निय तेज सुरां तन नीसर, मोहण रूप तेज ईख मुनेसर।
अप्रंम सुज तेज प्रगट धुर आणण, विसन तेज भुज दैयंत विडारण॥

१-वचनिका पृष्ठ २५.

इसी महामाई, संतां सुखदाई। इण रै चिरत कहतां किणही पार पायो नहीं। तो आज रा कवीसर किण विध कही सकै। तो पिण आपणी उकति सार, असुरां विडार, धूमर संघार, चंड मुंड चंगाळ, रगत बीज खैंगाळ, संभ निसंभ संहारण, भारथ खग खेरण, तिण री वखाण देवी दीवांण, सुकवि कहै सुणावै, परम मन वंछित पावै॥

वरणे उसन देज ब्रह्मांणे, आतस नेत्र वेण सस भांण।
संज्या तेज भुंहारा सोहै, मारुत तेज सूवण मन मोहै॥
उतबंग वर्णे तेज सा ईसर, वणे इन्द्राणी तेज वासचर।
चिहुरा वरण तेज वणि चावर, सांमे तेज थळधूळ फबेसर॥
तेज कुमेर रिदौ वण तारी, भुअंग तेज उदर वण भारी।
सोमति तेज कंठ सरसति, पवण तेज अहरण वणि पती॥
धरणी तेज नितंब वणे धर, काळ तेज ओवण वण दिढकर।
पग साना वणि तेज प्रभाकर, पांण आंगुळी तेज रमा पर॥
अंबा रूप अेमि फबि अदभुत, समेप आवध देव मिळे सत।
करे तिसूळ सूळ मजि काढै, चौभुज पहिल पिनाको चाढै॥

असुरों को छलने के लिए देवी के अत्यन्त मोहक रूप का जहां वर्णन किया गया है, वहां राजस्थानी वेश-भूषा के उपकरणों के प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं।

पिक कंठ सौमति चोठ परेठ सघण वण मोती सरी।
परबंध हीरां जड़ित पाडल कुसम माळा संफरी॥
भुज कमळ पहिरै चूड़[1] आभ्रण कंकण धर सुर कज्जए।
सिणगार असुरां छळण समहर सगति अदभुत सज्झए॥
आंगुळी कंचण जड़ित औमल वहरखा[2] ओपै वहां।
कुच कळस पंकज कळी कोमण कंचुवी ऊपर कहां॥
कटि लंक केहर माप करली घड़ि कड़ो भू घूजए।
सिणगार असुरां छळण समहर सगति अदभुत सज्झए॥

शुंभ के उमरावों की मस्ती के जीवंत चित्रण में कवि की कल्पना शक्ति देखिए—

"त्यां उमरावां रा बखांण। लोह री लाठ। चालता कोट। आंबर चौधा। अनेक भारथ किया। भांति भांति रा लोह चखिया नै चाखाया। दूणा दुवाह, आंण विराजमान हुआ। तिण विरियां री सोभा, किण मूं कहणी आवै। तथापि जांणै करि संझ्या फूल फूल रही होई। तिण मांहि बादळा भांति भांति रा निजर आवै। तिण भांति केइक तो गाहड़मल झोंपा खाई रह्या छै। केइक डाकी जमदूत, भूखिया नाहर ज्यूं हुंकार करतै रह्या छै।"

युद्ध वर्णन में योद्धाओं की गति और अस्त्र-शस्त्र वर्णन में ध्वनि-साम्य अपनी अलग विशेषता रखता है।

घड़ां घड़ां कड़ां घमोड़ चोटिजै वड़ां वड़ां।
गड़ां गड़ां गजंत गोम हूकळै हड़ां हड़ां॥
पड़ां पड़ां पड़ंत पीठ रीठ बाज रुकळां।
करंति देव मेछ कोटि डाकरे छळां छळां॥

× × ×

१—बांह में पहिनने का स्वर्ण का एक आभूषण।
२—रेशम आदि का बना हुआ कलाई का आभरण।

गणंक नाळि गोळिग्रं फणंग घूजि फ्रंगटां।
सणंक सार ऊपजे भणंक खेल सोगटां॥
चणंक चंड मंड चाढि वाढि काढि बुंगळां।
करंति देव मेछ कोटि डाकरे खळां डळां॥

उपरोक्त वर्णन वैशिष्ट्य के अतिरिक्त हाथी[1] घोड़े[2] तथा रणस्थल[3] आदि का वर्णन भी कवि ने बड़े ही सजीव और विस्तृत रूप में किया है।

जहां तक इस रचना की शैलीगत विशेषताओं का प्रश्न है, यह पहले ही कहा जा चुका है कि ओज गुण इस कृति की प्रमुख विशेषता है। काव्य को रोचक, सारगर्भित तथा स्थानीय विशेषताओं से अलंकृत करने की दृष्टि से कवि ने अनेकानेक मुहावरों का इतना पुष्कल और यथोचित प्रयोग किया है जो कि डिंगल की गिनी चुनी कृतियों में ही देखने को मिलेगा। कुछ मुहावरे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं--असुरां माथो जोर उपाड़ियौ[4] अजेरां नै जेर किया[5] पिसाचां रा रगत रौ पळचरां नै पैणगो कीजै[6], वंधेज री वारता करौ[7], सूरां रा ग्रब गाळिया[8], प्रवाड़ौ हाथ चढ़ियौ[9], घणा सूरां रा चाचरां री खाज मेटां[10], क्रीत उवारां[11], किरंमाळां री झाट झड़ उड़ावां[12], पहाड़ां नै जळ चाढां[13], भुजां रा भांमणां लीजै[14], उमरावां रा वैर घेरां[15]।

किसी भी भाषा में प्रयुक्त कहावती पद्यांश (फेजेज) उस भाषा की परम्परा और समाज सापेक्ष विशेषताओं को प्रकट करते हैं। साथ ही वे उसे शक्ति और लाक्षणिकता भी प्रदान करते हैं। इस कृति में डिंगल के ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। योद्धा के लिए प्रयुक्त होने वाले कुछ शब्द देखिये—गाहड़मल, कोटां गिळण, रणदूलहा,[16] मूंछाळ, वेड़ीमणा,[17] अधियावणौ,[18] गहली रौ वेहड़ौ,[19] फौजां रौ मोहरो,[20] हटियाळ[21]

इस प्रकार इस काव्य-कृति की अनेक छोटी बड़ी विशेषताएं हैं। जहां तक कवि के जीवनवृत्त तथा उसकी अन्य रचनाओं का प्रश्न है, अन्य कोई जानकारी के साधन हमें प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध नहीं हुए हैं। केवल अंतःसाक्ष्य के आधार पर यह पता चलता है कि इसकी रचना मारवाड़ के कुचेरा ग्राम में संवत् १७७६ में हुई है।[22] कवि जोधपुर महाराजा अजीतसिंह का समकालीन है। सम्भव है उसका निवास-स्थान भी मारवाड़ का ही कोई ग्राम हो।

१—वचनिका पृ० ६७. २—वचनिका पृ० ६८, ३—वचनिका पृ० ७१,
४—वचनिका पृ० ३०, ५—वचनिका ३१।

६—वचनिका	३२, ७—वचनिका	३२, ८—वचनिका	३२, ९—वचनिका	५२,
१०— ,,	५९, ११— ,,	५९, १२— ,,	५९, १३— ,,	६०,
१४— ,,	६०, १५— ,,	८१, १६— ,,	४८, १७— ,,	५०,
१८— ,,	५२, १९— ,,	५८, २०— ,,	५९, २१— ,,	७१;

२२—

संवत सत्तर छिहतरै, आसूं सुद तिय तीय।
मुरधर देस कूचौर पुर, रचे ग्रन्थ करि प्रीय॥

गजउद्धार ग्रंथ — महाराजा अजीतसिंह कृत

राजस्थान के साहित्य और संस्कृति को यहाँ के राजघरानों की बड़ी अमूल्य देन है। केवल इस मायने में ही नहीं कि उन्होंने कवियों तथा कलाकारों को सैकड़ों वर्षों तक सम्मान एवं संरक्षण प्रदान किया है और अपनी परिष्कृत रुचि के कारण वे कलाओं के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान देते रहे हैं, वरन् इस मायने में भी कि उन्होंने अपनी लेखनी से शास्वत साहित्य की रचना स्वयं भी की है। राजनैतिक जीवन की शुष्कता और मध्यकालीन मुगल सल्तनत की उलझनों में रह कर भी उनकी यह सरस्वती-सेवा समाज को बहुत बड़ी देन है। राणा कुंभा, राठौड़ पृथ्वीराज, महाराजा यशवन्तसिंह प्रथम, महाराजा सांवन्तसिंह, महाराजा प्रतापसिंह, सवाई अजीतसिंह तथा महाराजा मानसिंह आदि का नाम इस दृष्टि से सदैव स्मरणीय रहेगा।

उपर्युक्त साहित्य-मनीषियों की साहित्य-साधना को परखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ओर उनकी रचनाओं में दार्शनिक तत्त्वों की गहनता और चित्त को आलोड़ित करने की अपूर्व क्षमता है, वहाँ दूसरी ओर शासन सम्बन्धी विशेष जिम्मेदारियों के बंधन में बंधे जीवन से ऊपर उठ कर उन्मुक्त अवस्था तक पहुँचने की प्रबल लालसा है। इन दोनों ही विशेषताओं के फलस्वरूप राजप्रासादों का समस्त वैभव तथा राजसिंहासन की समस्त शक्ति जनजीवन की श्वास के साथ श्वास लेकर सत्य और चिरंतन सुख की खोज के लिए एक साथ साधनालीन प्रतीत होते हैं। राजरानी मीरां, महाराजा मानसिंह और नागरीदास के पद जब जनता के कण्ठों से आज मुखरित होते हैं, तो यह सत्य सहज ही सामने आये बिना नहीं रहता, यद्यपि मीरां का दरद इन सब से न्यारा है।

जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह की कुछ रचनाएँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं ने मीरां, पृथ्वीराज और मानसिंह की रचनाओं की तरह ख्याति नहीं पाई, तथापि उनकी साहित्य-साधना का अपना महत्त्व अवश्य है। प्रस्तुत 'गजउद्धार ग्रंथ' के अध्ययन से पाठक उनके कृतित्व का अनुमान लगा सकें, इसी दृष्टि से यह ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। उनकी साहित्यिक साधना पर प्रकाश डालने के पहले उनके जीवन-वृत्त की संक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

महाराजा यशवंतसिंह (प्रथम) का जमरूद के थाने पर देहान्त हो जाने के बाद

जब उनकी दो रानियां जोधपुर को लौट रही थीं, तो उनके गर्भ से लाहौर में संवत् १७३५ चैत्र वदि ४ बुधवार के दिन दो पुत्र हुए।[1] बड़े राजकुमार का नाम अजीतसिंह और छोटे का नाम दलथंभन रखा गया। औरंगजेब इस समय अपनी धार्मिक असहिष्णुता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यशवंतसिंहजी से वह बड़ा भय खाता था, इसीलिए उनकी मृत्यु होने पर उससे कहा था—

'दर्वाजए कुफ्र शिकस्त'

अर्थात् आज धर्म-विरोध का दरवाजा टूट गया। अब वह खुल कर हिन्दुओं पर मनमाना अत्याचार करने लगा। उसने पुनः जजिया कर वसूल करना प्रारम्भ किया और यशवन्तसिंह को निःसंतान मरा जान मारवाड़ को हड़पने का प्रयत्न करने लगा। उसे जब मालूम हुआ कि यशवंतसिंह की गर्भवती रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया है तो उसने रानियों को दिल्ली उपस्थित होने का हुक्म दिया, जिसके फलस्वरूप विश्वासपात्र राजपूत योद्धाओं की सुरक्षा में रानियाँ दिल्ली पहुँचीं। औरंगजेब अजीतसिंह को अपने कब्जे में कर उसे मार डालने का षड़यन्त्र रचने लगा, तब स्वामी-भक्त राजकर्मचारियों और योद्धाओं ने बड़ी चतुराई से अजीतसिंह को बलूंदा ठाकुर के परिवार के साथ रवाना कर दिया। दलथंभन की इसी बीच मृत्यु हो चुकी थी। मुकन्ददास खीची ने अजीतसिंह को निकालने में विशेष भाग लिया और वहाँ से निकल जाने के बाद राठौड़ दुर्गादास ने उनकी सुरक्षा तथा पोषण की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली।

जोधपुर पर मुगलों का अधिकार हो चुका था। अतः दुर्गादास को अरावली की पहाड़ियों में अजीतसिंह को लेकर इधर-उधर भटकना पड़ा तथा उनकी सुरक्षा की अनेक व्यवस्थाएँ करनी पड़ीं। यह संघर्षकाल बहुत लम्बे अर्से तक चलता रहा। एक ओर अजीतसिंह की रक्षा और दूसरी ओर मारवाड़ से मुगलों को उखाड़ फेंकने के दुहरे कर्त्तव्य में दुर्गादास ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। अनेकों युद्ध और राजनैतिक दाँव-पेंच चलते रहे, जिनका सविस्तार वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है।

इस समय के दौरान में ही अजीतसिंह ने समुचित शिक्षा तथा वीरोचित संस्कार ग्रहण किये। दुर्गादास ने जब औरंगजेब की पोती तथा पोते को सुपुर्द किया, तब अजीतसिंह को उसने जालौर, सांचौर आदि परगने प्रदान किये पर जोधपुर राज्य पर उनका पूर्ण अधिकार औरंगजेब के मरने के बाद संवत् १७६३ में ही हुआ।

इसके पश्चात् दिल्ली सल्तनत से उनका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा। जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह तथा सैयद भाइयों की राजनैतिक चालों के कारण अजीतसिंह को निरन्तर संघर्षों में उलझे रहना पड़ा, क्योंकि अजीतसिंह स्वयं सैयद बंधु ग्रुप के सक्रिय सहयोगियों में जा चुके थे। अजमेर और गुजरात की सूबेदारी भी उन्हें कई बार मिली तथा फरुखसियर को राज्यसिंहासन से उतारने में भी इनका पूरा हाथ था। औरंगजेब के बाद

---

[1] मारवाड़ का इतिहास, ले. विश्वेश्वरनाथ रेऊ, भाग १, पृष्ठ २४८।

३-४ बादशाह उनके जीवन-काल में दिल्ली की गद्दी पर बैठे और हटाये गए, पर वे सभी अजीतसिंह से भयभीत रहते थे और उन्हें बड़े से बड़ा बादशाही सम्मान देते थे। संवत् १७८१ में दिल्ली के राजनैतिक षड़यन्त्र के वशीभूत इनके छोटे लड़के बख्तसिंह ने रात्रि में सुप्त अवस्था में इनका वध कर दिया। विश्व-इतिहास में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न महान् व्यक्तियों की जीवन-लीला कुछ ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के साथ समाप्त हुई है।

इतिहासकारों ने उन्हें बड़ा धर्मपरायण तथा परोपकारी शासक बताया है। ये कलाओं के भी प्रेमी थे। अनेक गाँव इन्होंने कवियों को भी प्रदान किये थे। जोधपुर के किले में कई नवीन महलों का निर्माण करवाया तथा मण्डोर में चट्टान कटवा कर वीरों का दालान बनवाया था। कई नवीन मंदिर बनवाये तथा पुराने मंदिरों की मरम्मत भी करवाई। मण्डोर में जहाँ उनका दाह-संस्कार हुआ, उस स्थल पर लाल पत्थर का भव्य स्मारक बना हुआ है।

'गजउद्धार ग्रंथ' के अतिरिक्त महाराजा अजीतसिंहजी की अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। श्री अगरचंद नाहटा[1], डा. मोतीलाल मेनारिया[2] तथा मिश्रबंधुओं[3] ने इनकी कृतियों का परिचय देने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह भ्रामक तथा एकांगी है। उनका वृहत् ग्रंथ 'गुणसार' एक ग्रंथ न होकर अनेक रचनाओं का संग्रह है। उसी प्रकार 'भाव विरही' में भी स्फुट विषयों पर लिखी हुई रचनाएँ हैं। जोधपुर महाराजा के निजी पुस्तकालय पुस्तक प्रकाश में 'गुणसार' ग्रंथ की प्रति सुरक्षित है। उसमें निम्न लिखित रचनाएँ हैं—

गुणसार ग्रन्थ

१ – मंगलाचरण।
२ – कटारिका पूजन हिंगळाज स्तुति।
३ – देवी चरित्र शुंभ निशुंभ वध।
४ – सर्वांगि रक्षा कवच (ब्रह्म कवच का अनुवाद)।
५ – भवानी सहस्रनाम।
६ – हिंगळाज स्तुति।
७ – श्रीकृष्ण चरित्र (चीर हरण और कंस वध।
८ – देवी कृपा और अजीतावतार।
९ – निर्वाणी दोहा।
१० – 'रतन कँवर रतनावती की बात' के अन्तर्गत निम्न शीर्षकों में अनेक प्रसंगों पर गद्य एवं पद्य की रचनाएँ लिपिबद्ध हैं।

क – रागों का वर्णन।
ख – राजा सुमति को ऋषिश्वरों का उपदेश।

---

[1] महाराजा अजीतसिंह की अन्य रचनाएँ (मरुभारती, पिलानी, वर्ष १०, अंक ४, पृष्ठ ८९-९०)।
[2] राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृष्ठ १२२-१२३।
[3] मिश्र बन्धु विनोद, भाग २।

ग – गीता का दसवां अध्याय ।
घ – पापी की गति ।
ङ – भागवत चौथा स्कंध ।
च – ध्रुव वर्णन ।
छ – एक धार्मिक नृप की कथा ।
ज – महाभारतीय राज्य स्थिरता ।
झ – एकादशी कथा ।
ञ – हेमाद्रि प्रयोग ।
ट – माता का सतीत्व, पिता की अंतिम स्वराज्य क्रिया ।
ठ – हास्य विनोद ।
ड – ऋतुओं के दोहे ।
ढ – स्वप्नों के दोहे ।
ण – पपीहा के दोहे ।
त – पखवाड़े के दोहे ।
थ – परस्पर दम्पति पत्री ।
द – पति आगमन वसंत वर्णन ।
ध – कृतज्ञ लक्षण पुत्र पाठन ।
न – सिंहादि गुण वर्णन ।
प – पुत्र को विविध शिक्षा ।
फ – हिंगळाज स्तुति ।
ब – गंगा स्तुति ।

गुणसार ग्रंथ का प्रारंभ का अंश

।। श्री परमात्मने नमः श्री गणेशाये नमः ।। श्री महामाय हींगुळाजजी सदा सहायः ।।
अथ महाराजाधिराज महाराजा श्री अजीतसिंहजी क्रित गुणसार ग्रंथ लिख्यते ।।

अथ गाथा

गणपति गौरी सुतनं लालवरण तुझ लंवोवरं ।
सिध बुध प्रसन सुग्यानं नागदेव तुभ्यं नमः ।। १ ।।

तव गज वदन गणेस दशन मेक प्रसन लंवोवरं ।
रिध सिध देह सुग्यानं जै जै देव तुभ्यं नमः ।। २ ।।

अन्तिम पुष्पिका का अंश

कहें चहें श्रवनन सुनें, वळि देखे करि भाय ।
नहचें उण मानव तणा, पाप दूर हुय जाय ।। १ ।।

प्रथम बरण शृंगार को, राजनीत निरधार ।
जोग जुगति यामें सबै, ग्रंथ नाम गुणसार ॥ २ ॥

॥ संवत १७६६ वर्षे फागुण वदि त्रयोदशी दिने गुणसार ग्रंथ श्री महाराजाधिराज
महाराजा श्री अजीतसिंघजी कृत गुणसार ग्रन्थ संपूर्णम् ॥

उनके दूसरे ग्रन्थ 'भाव विरही' में भी देवी की स्तुति, वीर, शृंगार तथा गंगा की महिमा से सम्बन्धित स्फुट रचनाएं हैं । अंत के पत्र खाली हैं, जिससे यह प्रति अपूर्ण भी हो जाती है ।

उनकी एक कृति 'दुर्गापाठ भाषा' का भी विद्वानों ने उल्लेख किया है तथा देवकरणजी बारहठ (चारण) की सूचना के अनुसार भी इनकी यह कृति एक स्थान पर विद्यमान है, पर मुझे उपलब्ध न होने से उसका परिचय देना सम्भव नहीं है ।

यद्यपि उनकी रचनाओं का उल्लेख विद्वान करते आए हैं, पर उनका कृतित्व किस कोटि का है, इस ओर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया । उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वे प्राचीन साहित्य परम्परा के धार्मिक ग्रंथ तथा संस्कृत, डिंगल व पिंगल भाषाओं के अच्छे जानकार थे और उनके पास कवि का हृदय भी था । उन्होंने दोहा, सोरठा, चन्द्रायणा कवित्त, छप्पय, गीत, गाहा, श्लोक, नाराच, निशानियाँ आदि अनेक छन्दों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया है । 'रतनकंवर रतनावती' की वार्ता से उनका राजस्थानी गद्य पर पूर्ण अधिकार प्रमाणित होता है ।

रचनाओं की सूची से पाठकों को यह अनुमान लगाने में भी कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि उनके कृतित्व में कितना विषय-वैविध्य है । अनेक स्थलों पर उनकी अभिव्यक्ति बड़ी मर्मस्पर्शी है । अवलोकनार्थ कुछ उदाहरण 'गुणसार' में से दिये जा रहे हैं—

राग रा समय रा दूहा

निस बीती रस रीत में, चटिकारी धुनि कीन ।
भैरू' कियो नवीन त्रिय, लेकर बीन प्रवीन ॥

पपीहा रा दूहा

ऊंची जात पपीहरा, श्रो आदू ओलांण ।
तो नहिं को तो सारिखो, जो पिय मेलो आंण ॥

आणंदघनजी रा दूहा

आज घनो दिन ऊगियो, आज घनो दिन वार ।
आणंदघन आया इला, लाह्न लियां बहु लार ॥

रतनकंवर रतनावती री वार्ता

वचनिका

राजा सुमति बडो सतवादी । बडो विवेकी । बडो दातार । बडो धरमातमा ।

वडो न्याई। वडो वुधिवंत। वडो सीळवंत। वडो कुलीन। आपरा कुळ में श्रेष्ठ। बीजा राजा नांमें श्रेष्ठ। घणी सेन्या रो धणी। घणा देस रो धणी। घणा द्रिव रो धणी। तवेले घोड़ा घणा। हस्ती घणा। रथ घणा। घणी सुखपाळ। चतुरंग सेन्या जिणां रे अपार छै। बतीस कारखानां वण रह्या छै। अदभूत राजा विराज रह्यो छै।

भाव विरही में से
देवी स्तुती रा दूहा

घूघर घमकंतेह, ठमकंते पायल ठवै।
(मो) साम्ही मल्पंतेह, विलंब न लाये वीसहथ॥
झांझर झमकंतेह, चमकंते चौगान मझ।
(मो) साम्ही मल्पंतेह, वार म लाये वीसहथ॥
ऊकळते आरांण, ऊवांणी खागां बिचै।
नीध्रसते नीसांण, ऊपर कज आवौ अंबा॥
तू किलकिली करैह, ऊपर कज आवौ अंबा।
धजवड़ हाथ धरैह, पिसण पछाड़ौ पामही॥
कर एके खग साहि, कर एकण खपर धरे।
मिळिये आरण मांहि, ऊपर कीजै ईस्वरी॥

वीर पती रा दूहा

रस लूधो सारा लड़ै, कर कर मन में कौड़।
मो पिय घड़ा कंवारियां, मांणौ गात मरोड़॥
विढ़वा वेळा वंकड़ौ, वहेज लाख करौड़।
दळ अरियां चा आप वळ, पाड़ै सेल घमौड़॥

गंगा स्तुती रौ दूहौ

निरमळ गंगा नीर, पीधां हूं पातिक कटै।
सुप्रवीत करै सरीर, माता दाता मुकत की॥

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि की भाषा भावानुरूप व साहित्यिक स्तर की है। अधिकांश रचनाएँ परम्परावद्ध हैं, पर उन पर कवि के व्यक्तित्व की स्वाभाविक छाप विद्यमान है।

कवि ने अपनी रचनाओं में ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास प्रकट किया है। स्थान-स्थान पर देवी की स्तुति इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि वे शक्ति के उपासक थे।

'गजउद्धार ग्रंथ' भागवत के कथा-प्रसंग पर आधारित है। गजमोक्ष की कथा के वहाने ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अपना आत्म-निवेदन किया है। ग्रंथ में हथनियों के करुण विलाप, गज और ग्राह का युद्ध, गज की आर्त्त पुकार आदि प्रसंग काव्य-कौशल

की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं। कहीं-कहीं व्यंग का प्रयोग भी कवि की तीव्र बुद्धि का परिचय देता है। गज की प्रार्थना सुनने में भगवान विलंब कर रहे हैं, उस समय गज कहता है—

दोहे

निरमोही निरलज्ज गुण, काहे हम्रो निकाज ।
माधव जिरियां माह री, कहां गमाई लाज ॥२१३॥
तात मात थारै नहीं, भ्रात बंधु नहिं कोय ।
पांति जिहूंणो परम गुरु, लाज कठा सुं होय ॥२१४॥
सरम होत है पाघ की, सो तुम बांधत नांहि ।
धर हो मुकुट बनाय के, मोरपिच्छ सिर मांहि ॥२१५॥

राजस्थानी भक्ति साहित्य की परम्परा में इस कृति का अपना महत्व है ।

महाराजा अजीतसिंह का जीवन-वृत्त तथा कृतित्व पूरे शोध-प्रबंध का विषय है। आशा है उन पर शोध करने वाले विद्यार्थी के लिए हमारा यह लेख उपयोगी सिद्ध होगा ।

रसीलैराज रा गीत – महाराजा मानसिंह कृत

महाराजा मानसिंह का रचनाकाल १६वीं शताब्दी (वि.) का उत्तरार्द्ध है। हिन्दी साहित्य में यह काल रीतिकाल का अंतिम चरण है। हिन्दी में रीतिवद्ध काव्यों और लक्षण ग्रंथों का निर्माण इस समय में पुष्कल परिणाम में हुआ है। इस काल के हिन्दी और राजस्थानी भाषा के काव्यों में सबसे बड़ी समानता शृंगार-प्रधान विषयों का बाहुल्य है, परन्तु राजस्थानी काव्य में जहाँ एक ओर वीररस की धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है, वहाँ दूसरी ओर शृंगार की रसवंती राग और रूप के पुलिनों के बीच सहज रूप से बहती हुई दृष्टिगोचर होती है।

राजस्थानी का शृंगारिक पद-साहित्य यहां के राज-घरानों की विशिष्ट देन है। यह शृंगारिक साहित्य दो रूपों में व्यक्त हुआ है—(१) कृष्ण-भक्ति के अनुराग को प्रकट करने के रूप में (२) नारी-सौन्दर्य तथा प्रेम भावनाओं को व्यक्त करने के रूप में। महाराजा मानसिंह के साहित्य-सर्जनकाल में तथा उसी समय के आस-पास सवाई प्रतापसिंह (ब्रजनिधि) जयपुर, महाराजा सांवतसिंह (नागरीदास) किशनगढ़, महाराजा बहादुरसिंह किशनगढ़, महाराणा जवानसिंह उदयपुर, महाराव विनयसिंह अलवर, महारानी आनन्दकुंवरि अलवर, महाराज कुमार रतनसिंह (नट-नागर) सीतामऊ, हरिजीरानी चावड़ी, बाघेली विष्णुप्रसादकुंवरि रीवां, रसिकविहारी (बनीठनीजी) आदि कुछ कवि और कवयित्रियों की पद-रचना उपलब्ध होती है, जिसमें यह काव्य-धारा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुई है।

राजघरानों के प्रमुख व्यक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ कवियों ने इस प्रकार की रचनाएें अवश्य की हैं, परन्तु इस काव्य की प्रतिनिधि रचनाएँ राजप्रासादों से ही मुखरित होकर जनता तक पहुंची हैं। उक्त वर्ग द्वारा इस प्रकार की काव्य-साधना में लीन होना हमें उनकी राजनैतिक परिस्थितियों और भावनाओं की पृष्ठभूमि पर विचार करने को बाध्य कर देता है। राजस्थान के शासकों ने सैकड़ों वर्षों तक विदेशी सत्ता के साथ निरन्तर संघर्ष किया था। १६वीं शताब्दी में आते आते उनकी शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी। मरहठों ने इस समय स्थानीय शासकों की फूट और मनो-मालिन्य से लाभ उठा कर राजस्थान को पदाक्रान्त ही नहीं किया अपितु यहाँ के शासकों की आर्थिक स्थिति को भी

बहुत कमजोर कर दिया था। अनिश्चित परिस्थितियों, आर्थिक संकटों और राजनैतिक उलझनों के बीच अंग्रेजों को अपना प्रभुत्व कायम करने में सफलता मिलती जा रही थी। ऐसी परिस्थितियों में यहां के शासक ऐसे हतप्रभ और दिशा-शून्य से हो गए थे कि अन्य किसी विकल्प के अभाव में उनकी भावनाओं और चिन्तन का अन्तर्मुखी हो जाना ही स्वाभाविक था। किंतु राग से अपने मानस को आलोड़ित करने के बजाय वे विभिन्न राग-रागनियों के रंगीन डोर अपने भाव-शिशुओं के हाथों में थमा कर उन्हें बिलमाने लगे। इन पद-रचयिताओं के पदों में प्रत्येक रचनाकार की अपनी अनुभूतिगत विशेषताएँ होते हुए भी यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है—चाहे वह वृन्दावन की रासलीलाओं के गुणगान के रूप में हो या किसी रूपसी और रसिक-शिरोमणि की [illegible] भाव-भंगिमा के रूप में।

इन कवियों में से महाराजा मानसिंह का जीवन अनेक प्रकार की उलझनों और प्रतिकूल परिस्थितियों से संवृत्त रहा है। उनके जीवन की ऐसी कुछ घटनाओं का उल्लेख यहां कर देना अप्रासंगिक न होगा। मानसिंह का जन्म सं० १८३९ में हुआ था। ये महाराजा विजयसिंह के पौत्र और गुमानसिंह के पुत्र थे। सं० १८५० में इनके चचेरे भाई महाराजा भीमसिंह गद्दी पर बैठे। उन्होंने अनेक कुटुम्बियों को अपना मार्ग निष्कण्टक बनाने के लिए मरवा डाला था। मानसिंह कुछ सरदारों की सहायता से जालोर दुर्ग में जा रहे। लगभग ग्यारह वर्ष तक ये वहीं रहे और भीमसिंह द्वारा भेजी गई सेनाएँ इन्हें निरन्तर तंग करती रहीं। इनकी आर्थिक स्थिति लगातार घेरे में रहने के कारण बड़ी खराब हो गई थी, परन्तु आऊवा और आहोर जैसे ठाकुर इन्हें निरन्तर सहयोग देते रहे। इनके साहित्य-प्रेम और अच्छे बर्ताव के कारण अनेक चारण कवि भी साथ थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस काल में मानसिंह ने बड़ी विकट परिस्थितियों में समय व्यतीत किया था। भीमसिंह के सेनापति सिंघवी इन्द्रराज के दबाव के कारण मानसिंह ने दुर्ग त्याग देने का विचार कर लिया था, परन्तु आयस देवनाथजी ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि तीन-चार दिन किले में ही रुके रहें तो उनकी विजय हो जाएगी। उन्होंने ऐसा ही किया और भाग्यवश महाराजा भीमसिंह की मृत्यु (१८६० वि०) हो गई, जिससे जोधपुर की राजगद्दी इन्हें प्राप्त हुई। पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह ने इनकी गद्दीनशीनी को इस शर्त पर स्वीकार किया कि स्वर्गीय महाराजा की महारानी देरावरजी गर्भवती है, यदि उसके पुत्र हुआ तो जोधपुर की गद्दी का अधिकारी वह होगा और मानसिंह को जालोर का परगना ही दिया जाएगा। ख्यातों में ऐसा जिक्र मिलता है कि महारानी के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम धौंकलसिंह रखा गया परन्तु मानसिंहजी ने उसे जारज पुत्र कह कर राज्यगद्दी छोड़ने से इन्कार कर दिया, जिसके कारण ठाकुर सवाईसिंह उनसे बिगड़ गया और आजीवन उनका विरोधी बना रहा।

गद्दी-नशीन होने के कुछ ही समय पश्चात् उदयपुर की राजकुमारी कृष्णा कुंवरी के विवाह को लेकर जोधपुर, जयपुर और उदयपुर के शासकों के बीच बड़ा तनाव पैदा हो गया। कृष्णा कुंवरी की सगाई जोधपुर के महाराजा भीमसिंह से हुई थी, परन्तु

उनका अचानक देहान्त हो जाने से विवाह नहीं हो सका। जोधपुर के राजघराने की मांग होते हुए भी जब उसकी शादी जयपुर के महाराजा जगतसिंह के साथ निश्चित हुई तो पोकरण ठाकुर सवाईसिंह आदि के बहकाने से महाराजा मानसिंह ने इस सम्बन्ध का विरोध करने के लिएससैन्य प्रस्थान किया। इस कूच में यशवन्तराव होल्कर, इन्द्रराज सिंघवी आदि भी साथ थे। अमीर खां भी वहाँ आ पहुँचा था। सवाईसिंह और मानसिंह के बीच पहले से ही मन-मुटाव था, जिससे वह मौका पाकर जयपुर वालों से मिल गया और अमीर खां ने भी जयपुर वालों का पक्ष ग्रहण कर लिया। मानसिंह के सामने बड़ी विकट परिस्थिति उपस्थित हो गई, तब वे अपने विश्वासपात्र सरदारों की सलाह से चुने हुए कुछ सिपाही साथ लेकर वहाँ से निकल गए और बड़ी कठिनाई से मेड़ता होते हुए जोधपुर पहुंचे। जयपुर और सवाईसिंह आदि की सेना ने उनका बड़ा पीछा किया और अन्त में जोधपुर शहर को आ घेरा। मानसिंह के पास इस समय इतनी बड़ी सेना नहीं थी कि वे उनका मुकावला करते। ऐसी विकट परिस्थिति में उन्होंने बड़ी राजनैतिक सूझबूझ से काम लिया और सिंघवी इन्द्रराज को एक युक्ति सुझा कर बाहर निकाला। उसने मारवाड़ के स्वामि-भक्त जागीरदारों की सेना एकत्रित कर जयपुर पर आक्रमण कर दिया। तब जयपुर नरेश ने अपने राज्य की रक्षा के लिए जयपुर की ओर प्रस्थान किया और उनके अन्य सहयोगी भी अपने अपने स्थानों पर लौट गए।

महाराजा मानसिंह अमीर खां की ताकत और राजनैतिक सूझबूझ से भली भांति परिचित हो गए थे। अतः उससे घनिष्ट मित्रता करके एक ओर सवाईसिंह जैसे प्रबल शत्रु का सफाया उसके हाथों करवाया और दूसरी तरफ सिंघवी इन्द्रराज की राजनैतिक चालों से सशंकित होकर उसकी भी हत्या उसके द्वारा करवाई। राजनैतिक दबाव और अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभुत्व के कारण मानसिंहजी को अंग्रेजों से संधि करनी पड़ी थी, परन्तु मन ही मन वे अंग्रेजों के दखल से अप्रसन्न थे। जब भी मौका आया, उन्होंने अंग्रेजों के विरोधियों को पनाह दी और प्रोत्साहित किया। मधुराज देव भोंसले तथा सिंधी शाहजादे को शरण देना उनकी इस नीति को प्रमाणित करता है। सिक्खों के महान् नेता महाराजा रणजीतसिंह जैसे व्यक्ति भी उनकी राजनैतिक सूझबूझ के कायल थे।

सामंतों के बढ़ते हुए प्रभाव तथा मुत्सदियों की प्रतिस्पर्द्धा से तंग आकर मानसिंह ने राज्य-कार्य से उदासीनता बरतना प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण राज्य के प्रधान मुंहता अखयचन्द ने मुख्य जागीरदारों तथा आयस भीमनाथ की सलाह से राजकुमार छत्रसिंह को राज्य-गद्दी सौंप दी। छत्रसिंह की अवस्था इस समय १७ साल की थी, इसलिए राज्य का अधिकांश कार्य मुंहता अखयचन्द आदि मनमाने ढंग से करते थे। महाराजा मानसिंह की नाथ सम्प्रदाय में भारी आस्था थी, परन्तु छत्रसिंह ने वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण कर ली। सं० १८७४ में अंग्रेजों के साथ जोधपुर राज्य की संधि हुई जिसमें कोई १० शर्तें दोनों पक्षों ने स्वीकार की थी। इसी समय युवराज छत्र-सिंह का देहान्त हो जाने से राज्यगद्दी खाली हो गई। अंग्रेजों ने यहाँ की विशृंखल

मानसिंह से एकान्त में बातचीत की और उन्हें पूर्ण आश्वासन दिया कि वर्तमान परिस्थितियों को सुधारने में वे लोग महाराजा को पूर्ण सहायता देंगे, और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, इस पर मानसिंह पुनः गद्दी नशीन हुए।

मानसिंह ने गद्दी नशीन होते ही मुंहता अखयचंद तथा अन्य षड्यन्त्रकारी ८ मुत्सद्दियों को भी गिन-गिन करवा कर मरवा डाला। कई लोगों को कैद किया और कई ठाकुरों की हवेलियों पर सेनाएँ भेजी गईं। इस प्रकार अपना पथ निष्कंटक कर पुनः राज्य-कार्य देखना प्रारम्भ किया। यह सब होते हुए भी राजनैतिक षड्यन्त्रों तथा जागीरदारों व कुछ भोमियों के बखेड़े निरन्तर चलते रहे। नाथों के प्रति अनन्य श्रद्धा होने के कारण भी राज्य-कार्य में कई प्रकार के विघ्न उपस्थित होते रहे। अंग्रेज अधिकारियों के साथ भी अनेक बार मनमुटाव हुआ तथा उनके साथ की गई संधि में भी बाधाएं आईं। अन्त में उन्होंने उलझी हुई परिस्थितियों से विक्षिप्त होकर सन्यास ले लिया और मारवाड़ छोड़ कर गिरनार की तरफ जाने का विचार किया परन्तु तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट लडलो के समझाने से राईकाबाग में रहने लगे और अहमदनगर से जसवंतसिंह को लाकर अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की। वि० सं० १९०० में उनका देहान्त हो गया।

चालीस वर्ष के दीर्घ राज्यकाल में उनका एक वर्ष भी पूर्ण शान्ति और सुख से व्यतीत नहीं हुआ। परन्तु इन परिस्थितियों में उनके जिस व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था, उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति तीन प्रकार की काव्य-धाराओं में प्रकट हुई है। योद्धाओं के शौर्य और उत्साह की प्रशंसा आपत्तिकाल में काम आने वाले व्यक्तियों पर गीत, दोहे व छप्पय आदि रचकर की, यह उनका आदर्शोन्मुख व्यवहारिक पक्ष था। जब से आयस देवनाथ के आशीर्वाद स्वरूप उन्हें राज्यसिंहासन प्राप्त हुआ था, वे निरन्तर नाथों के भक्त बने रहे और नाथ-दर्शन तथा गुरु-महिमा के गीत पूर्ण आस्था से गाते रहे। जीवन के नीरस व राजनैतिक प्रपंचों के बोझिल क्षणों को रसस्नात करने के लिए नारी-सौन्दर्य तथा प्रेम की सरस भावनाओं को विभिन्न राग-रागनियों के सहारे अभिव्यक्ति देते रहे। यद्यपि उनकी साहित्य-रचना स्वतः स्फुर्त है, परन्तु वे साहित्य की चिरन्तन महत्ता व काल को पराजित करने वाली शक्ति से भली-भांति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने चारण कवियों को अनेक गांव जागीर में दिए और कविराजा बांकीदास जैसे व्यक्ति न केवल उनके राजकवि पद पर आसीन रहे अपितु अन्तरंग मित्र बनने का सौभाग्य भी प्राप्त कर सके। काव्य-कला के साथ-साथ उन्होंने चित्रकला और संगीत को भी असाधारण प्रोत्साहन दिया। वे सही मायने में एक दार्शनिक राजपुरुष, दक्ष राजनीतिज्ञ, प्रतिभा-सम्पन्न कवि और विभिन्न कलाओं के मर्मज्ञ थे। उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि राजस्थान के इस संक्रान्तिकाल में जब सभी राजा प्रभावशून्य से हो गए थे, केवल महाराजा मानसिंह ने अपने प्रभाव को अक्षुण्ण ही नहीं रखा, साहित्य-सर्जन के माध्यम से उस काल पर सदा के लिए अमिट छाप भी अंकित की है, तो अनुपयुक्त नहीं होगा। कर्नल टॉड जैसे विद्वान् राजनीतिज्ञ भी उनकी योग्यता और बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे थे।

मानसिंहजी ने राजस्थानी, व्रज, संस्कृत व पंजाबी भाषा में ५० के करीब गद्य-पद्य रचनाओं का प्रणयन किया है। शृंगार रसात्मक पदों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उनका वास्तविक आनन्द तो पाठकों को इन्हें पढ़ने में ही मिलेगा, परन्तु उनके काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कवि ने यहाँ की संस्कृति के अनुकूल प्रेम-भावनाओं की गहराई को आत्मसात् कर अत्यन्त सहज, सरल एवं मार्मिक अभिव्यक्ति इन पदों में दी है। स्थान-स्थान पर मौलिक उपमाओं, कोमल वर्ण-विन्यास और ललित शब्दावली के द्वारा-भंगिमाओं का चित्रण प्रस्तुत कर काव्य को हृदयग्राही बना दिया है। अनेक पदों में स्वकीया के प्रेम के अतिरिक्त परकीया की कामातुरता और लैला-मजनूं तथा हीर-रांझे की प्रेमासक्ति को भी कवि ने विशेष प्रकार की उन्मुक्तता के साथ प्रकट किया है। अधिकांश पदों की भाषा राजस्थानी है, पर कुछ पद व्रज व पंजावी भाषा में भी लिखे गए हैं, तथा उनमें भी राजस्थानी शब्दों का प्रयोग सफलता के साथ बिना किसी संकोच के किया गया है। पद रचना राग-रागिनियों के आधार पर ही की गई है, इसलिए इनका वास्तविक आनन्द इन्हें गाने तथा सुनने में ही है।[1]

---

१. कवि के ये शृंगारिक पद 'परम्परा' भाग १८-१९ में प्रकाशित किये गये है।

गुण विजै व्याह - मुरारीदास कृत

वाल्मीकि रामायण और महाभारत तथा भागवत ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। राम का चरित्र भारतीय संस्कृति के आदर्श प्रतीक के रूप में कवियों की कल्पना का विषय बन कर जन-मानस को शताब्दियों से आन्दोलित करता रहा है। कृष्ण का व्यक्तित्व राम की अपेक्षा अधिक विविधता लिये हुए है अतः कृष्ण के चरित्र को लेकर उनकी अनेक लीलाओं के बहाने प्रायः सभी रसों में काव्य-सर्जन हुआ है। भक्ति और शृंगार का जैसा मेल कृष्ण-काव्य में दिखाई पड़ता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भक्ति-रस को रस की स्वतन्त्र सत्ता प्रदान करने में कई आचार्यों ने जो मतभेद व्यक्त किया है उसके मूल में भी कृष्ण-काव्य लम्बे समय तक विद्वानों की शास्त्रीय चर्चा का विषय रहा है।

हिन्दी और उससे सम्बन्धित भाषाओं के प्राचीन साहित्य को विस्तार से देखने पर यह सचाई स्वतः प्रकट हो जाती है कि भक्ति-काव्य और रीति-काव्य, दोनों ही धाराओं में कृष्ण-चरित्र की प्रधानता है।

राजस्थानी मे कृष्ण-काव्य की अजस्र धारा जो मीरां ने बहाई उसका प्रभाव राजस्थान और गुजरात में समान रूप से पड़ा और कालान्तर में वह अन्य प्रान्तों में भी प्रसारित हुआ। यहां की जनता के संस्कारों पर जितना गहरा प्रभाव मीरां का पड़ा शायद अन्य किसी कवि का नहीं पड़ा और इसलिये कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी पद-साहित्य शताब्दियों तक निर्मित होता चला गया और इस प्रकार वह जन-मानस की एक स्थायी थाती बन गया।

कृष्ण-काव्य की इस सहज भक्ति-धरा का एक दूसरा पक्ष भी था जो विद्वान कवियों का विषय बना और तत्कालीन साहित्यिक भाषा डिंगल (जो जनसाधारण की बोली का ही परिष्कृत रूप था) में कृष्ण-काव्य की रचना अनेक शैलियों में सम्पन्न हुई। इस क्षेत्र में बीकानेर के राठौड़ पृथ्वीराज अग्रणी थे। यद्यपि उनकी प्रेरणा का स्रोत भी मीरां और सूरदास का पद साहित्य रहा होगा परन्तु उन्होंने अपने समाज और व्यक्तित्व के अनुरूप कृष्ण की चारित्रिक विशेषताओं को भागवत (दशम स्कंध) में से ढूंढ निकाला

ग्रौर राधा तथा कृष्ण की स्वछन्द प्रेम-लीलाग्रों की भाव-वीचियों को ग्रहण न कर कृष्ण ग्रौर रुक्मिणी के परिणय में रस लिया।

उन्होंने ग्रपनी वेलि के निर्माण में डिंगल की शास्त्रीय काव्य-पद्धति को ग्रपना कर काव्य का एक ग्रादर्श रूप प्रस्तुत किया, जिसका प्रभाव शैली ग्रौर भाव दोनों ही दृष्टियों से तत्कालीन व परवर्ती कवि समाज पर पड़ा। इस क्षेत्र में वेलि-काव्य का प्रवर्तक यद्यपि करमसी सांखला को माना गया है परन्तु वास्तव में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता पृथ्वीराज की वेलि जैसे पूर्ण काव्य में ही थी। वेलि कालान्तर में डिंगल की एक काव्य-विधा के रूप में प्रचलित हुई ग्रौर पृथ्वीराज की शैली गत प्रतिस्पर्द्धा को प्रदर्शित करने के लिये किशना ग्राढा ने 'महादेव पार्वती री वेलि' का निर्माण किया। राठौड़ रतनसिंह (ऊदावत) री वेलि ग्रादि ग्रनेक वीर रसात्मक वेलियों का निर्माण भी मध्यकाल में हुग्रा जिनका काव्य-सौष्ठव ग्रन्य भाषाग्रों के लिये भी ईर्षा की वस्तु है। वेलि की शब्द-योजना, उसका वाक्य-विन्यास ग्रौर परिष्कृत भाव-गरिमा ने भी चारण कवियों को खूब ग्राकर्षित किया ग्रौर उनके समकालीन कवि सांया भूला ने तो इसी विषय को लेकर 'रुक्मिणी हरण' की रचना की जिसके लिये यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि दोनों काव्यों को सुनने के पश्चात ग्रकबर बादशाह ने पृथ्वीराज से विनोद में कहा था कि ग्रापकी वेलि को सांयाजी की हरणी चर गई। इस किंवदंती में कितनी सत्यता है यह ग्रलग बात है परन्तु डिंगल में रुक्मिणी हरण विषयक जो रचनाएं कालान्तर में लिखी गईं उन पर सर्वाधिक प्रभाव पृथ्वीराज का ही दिखाई पड़ता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिये सांया भूला के ग्रतिरिक्त वीठलदास कृत रुकमणी हरण, जन हरीदास कृत व्यावलो तथा मुरारीदास का गुण विजै व्याह ग्रादि प्रबन्धात्मक रचनाग्रों को देखा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन इस तात्पर्य से प्रस्तुत किया गया है कि इस परिप्रेक्ष्य में इन कृतियों को देखने से एक ग्रोर साहित्यिक परम्परा में इन कृतियों का स्थान-निर्धारण करने में सुविधा होगी, दूसरी ग्रोर एक क्लासिक काव्य-रचना किस प्रकार परवर्ती काव्य को प्रभावित करती है उसकी प्रक्रिया को बारीकी से सोचने समझने का ग्राधार भी इससे मिलेगा।

मुरारीदास बारहठ की प्रस्तुत कृति इस परम्परा की एक पठनीय कृति है जिसका ग्रनेक दृष्टियों से महत्व है। कथा-तत्व की दृष्टि से इस काव्य में कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिसकी ग्रोर पाठकों का ध्यान ग्राकर्षित किया जाय। क्योंकि उसी परम्परागत कथा के सूत्र का निर्वाह करने की ग्रोर कवि सचेष्ट रहा है। काव्य के ग्राकार को देखते हुए यही सम्भव भी लगता है।

इस कृति में विशेष ध्यान देने योग्य वस्तु कवि का वर्णन-कौशल है। उसने स्थान-स्थान पर ग्रपने वर्णन में मौलिकता लाने का प्रयास किया है, जिससे उसकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति ग्रौर कल्पना की ताजगी का ग्रनुमान लगाया जा सकता है। संक्षेप में इस कृति के वर्णन-स्थल निम्न प्रकार हैं—

१. कुंदनपुर की सजावट का वर्णन
२. रुक्मिणि का बचपन एवं वय-सन्धि
३. भीष्मक और रुकम का संवाद-वर्णन
४. शिशुपाल की बरात का वर्णन
५. द्वारिका का वर्णन
६. कृष्ण का रूप-वर्णन
७. कृष्ण के कुन्दनपुर आने का वर्णन
८. रुक्मिणी का गौरी पूजन व हरण
९. युद्ध वर्णन
१०. शिशुपाल व रुकम की हीन दशा का वर्णन
११. रुक्मिणी का नखशिख वर्णन

इनके अतिरिक्त ज्योतिष, शकुन, प्रकृति, ईश्वर के अवतार आदि की जानकारी भी कवि ने प्रदर्शित की है और कहीं कहीं राजस्थान की संस्कृति की झलक भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कुन्दनपुर का वर्णन करते समय वहां के कवियों को करोड़ पसाव प्राप्त होने का उल्लेख करना भी वह नहीं भूला है।

इनमें कल्पना की सूक्ष्मता और किसी हद तक मौलिक सूझ की दृष्टि से रुक्मिणी का नखशिख तथा कृष्ण रूप-वर्णन आदि के कुछ अंश ध्यान देने योग्य हैं—

रुक्मिणी के नैनों का वर्णन :

मृग नैणिय नैण किना मृग का।
मळके करि काम तणा मळका॥

नासिका वर्णन :

श्रुति मोतिय नासिका जोत जगी।
लोय जांण कपूर री पूर लगी॥

कबरी वर्णन :

कबरी छवि देत महाक वणी,
अहि जांणक कुन्दन री अवनी।
अंग छूंत किना उतारि अंगिया,
कदळी दळ नाग तणी कनिया॥

कपोल वर्णन :

हर चो मन गंध कपोल हरै।
अलि डंक गुलाब कळी उपरै॥

मांग का वर्णन :

सड़ पंच बिराजत पंच लड़ी।
पंच बांण री डोर सिकार चढ़ी॥

त्रिवळी का वर्णन :

त्रिवळी विच श्रोण तणी वनिता।
लहरी भ्रमरी रस री सलिता॥

श्रीकृष्ण का रूप वर्णन :

त्रिवळी त्रहुँ लोक री सींव तहां।
मृघ रारि उल्लंघन जात महां॥
हिरदै इम रोम री रासि हंसै।
लहरी जमना जळ ज्योति लसै॥
गज मोतिय माळ रुळंत गळै।
छवि स्यांम घटा बुग पंति छळै॥

मकराकृत कुन्डळ कांन मही।
भळकंत कपोल में रूप जिही॥
कहवै कवि श्रोपम श्रान किसी।
जमुना जळ सूरज ज्योति जिसी॥

विच कुंकम भाल तिलक्क वणे।
किय जांण कसोटिय रेख कणे॥

कवि ने युद्ध-वर्णन का अधिकांशत: परम्परागत रूप में ही निर्वाह किया है परन्तु वलदेव और जरासंध के युद्ध का समुद्र के साथ रूपक बाँध कर मौलिकता लाने का भी प्रयास किया गया है। यह इस कृति की एक विशेषता कही जा सकती है।

पराजित शिशुपाल का रानियों द्वारा उपहास किये जाने का वर्णन भी कवि ने व्यंग्यात्मक शैली में किया है, उदाहरण के लिये एक पद्यांश देखिये—

पटरांणिय एम कहै पिव सौं।
जोइ आविया राजि बच्या जिव सौं॥
बहु जादव राजि सौं जोर कियौ।
दुसरो कांइ डोळोइ साय दियौ॥

जैसा कि पहले कहा जा चुका है रुक्मिणी-हरण सम्बन्धी परवर्ती काव्यों पर पृथ्वीराज की वेलि का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव इस कृति में भी कई स्थलों पर देखा जा सकता है। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सांझि सोचि कुन्दणपुरि सूतउ।
जागिउ परभाते जगति॥

—वेलि किसन रुकमणी री

उह सोई रह्यो निसि सोच इसी ।
दिन ऊगत द्वारमती दरसी ॥

—गुण विजै व्याह

आणंद लखण रोमंचित आंसू ,
वांचत गदगद कंठ न वयण ।
कागळ करि दीधउ करुणाकरि ,
तिणि तिणि द्विज ब्राह्मण तणई ॥

—वेलि क्रिसन रुकमणी री

निज कागळ वाचत प्रेम नरां ,
गिरधारि तणी गदगद्द गिरा ।
तदि स्यांम कहै द्विज वाच तुही ,
मनवार घणी अरदास मही ॥

—गुण विजै व्याह

कवि ने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग सर्वत्र किया है । कुछ उदाहरण उपरोक्त पद्यांशों में भी देखे जा सकते हैं । वयण सगाई के निर्वाह की ओर सभी चारण कवियों की तरह यह कवि भी सतर्क रहा है ।

मध्यकालीन राजस्थानी काव्य-धारा में इस कृति का महत्व भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से है । भाषा पर कवि का पर्याप्त अधिकार है और उसने देशज शब्दों का प्रयोग भी बड़े सहज ढंग से किया है जिससे इस कृति में अनेक स्थानीय विशेषताओं का भी समावेश हो गया है ।

इस कृति का रचनाकाल सं० १७७५ है ।
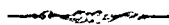
राव इन्द्रसिंह री झमाळ – सबला सांदू कृत

अंग्रेजी की यह कहावत प्रसिद्ध है—*Nothing Succeeds like Success.*

इतिहास का निर्माण राजनीति के हाथों होता रहा है परन्तु उसमें उक्त कहावती तत्व बराबर काम करता आया है यह तथ्य अनेकानेक राजनैतिक हलचलों की गहराई में जाने से ही समझा जा सकता है। इन गहराइयों को समझना-जोखना ही सही मायने में ऐतिहासिक-दर्शन का एक उद्देश्य भी होना चाहिए। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर ऐतिहासिक साहित्य की कृतियों का अनुसंधान किया जाय तो राजस्थानी साहित्य में ऐसी अनेक कृतियाँ मिलेंगी। इस प्रकार की कृतियों में नागोर के 'राव इन्द्रसिंह री झमाळ' एक विशिष्ट कृति है।

इस कृति का महत्व इस कारण से और भी बढ़ जाता है क्योंकि इसका विषय केवल राजस्थान की आंतरिक राजनीति और संघर्ष से ही सम्बद्ध न होकर पूरे भारत की निर्णायक राजनीति पर प्रकाश डालता है।

इस काव्य-कृति का नायक राव इन्द्रसिंह नागोर के राव अमरसिंह का पौत्र था। यह घटना सर्वविदित है कि जोधपुर के महाराजा गजसिंह ने अपने बड़े (पाटवी) पुत्र अमरसिंह से रुष्ट होकर उसे जोधपुर की गद्दी से वंचित करते हुए बादशाह शाहजहाँ से अपने अच्छे सम्बन्धों का लाभ उठाकर बाद में उसे नागोर की जागीर दिलवाई और स्वतंत्र मनसब आदि दिलवा दिया और इस प्रकार उसे जोधपुर से अलग कर दिया। गजसिंह ने जीतेजी अपने छोटे लड़के जसवंतसिंह को गद्दी का हकदार घोषित किया और जब उसकी मृत्यु आगरा में हुई तो बादशाह ने जसवंतसिंह को तत्काल बुलाकर अपने हाथ से जोधपुर की राजगद्दी का टीका दिया।

इस घटना से ही स्पष्ट है कि अमरसिंह के मन में असंतोष व नैराश्य की अग्नि बराबर जलती रही। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वह बड़ा वीर, साहसी और युद्धनिपुण व्यक्ति था। उसने शाहजहाँ के समय में अनेक बड़े युद्धों में भाग लिया और उसका मनसब बढते-बढते ४००० जात तक पहुंच गया था। पर इस असंतोष ने उसके दिमाग को असंतुलित कर दिया था और राजनीति से बढकर राजपूती-शान के लिए मर मिटने के

संस्कार उनके हृदय में प्रबल हो उठे। यही कारण था कि जब सलावतखाँ ने कुछ अपशब्द कहे तो उसने उसका सिर काट डाला और स्वयं भी लड़ता हुआ मारा गया। अमरसिंह का यह असंतोष उसके पुत्र रायसिंह और पौत्र इन्द्रसिंह में भी बराबर जाग्रत रहा। वे सदा अपने सही अधिकार को ध्यान में रखते हुए जोधपुर की गद्दी को पुनः प्राप्त करने के प्रति सचेष्ट रहे।

जब जसवंतसिंह की मृत्यु निःसंतान अवस्था में हो गई तो इन्द्रसिंह ने राज्य-प्राप्ति के प्रयास प्रारम्भ किये, पर जसवंतसिंह की गर्भवती रानी से अजीतसिंह नामक पुत्र पैदा हो जाने से यह आशा कुछ धूमिल पड़ी क्योंकि औरंगजेब के न चाहने पर भी मारवाड़ के प्रमुख सरदार—सोनग चांपावत, दुर्गादास, मुकनदास खीची आदि अजीतसिंह को ही शासक बनाना चाहते थे, यह जसवंतसिंह के प्रति उनकी व्यक्तिगत वफादारी थी, साथ ही वे इन्द्रसिंह के व्यवहार के प्रति संशयशील थे क्योंकि उन्हें शक था कि इन्द्रसिंह, बादशाह के इशारों पर चलकर ही शासन करेगा और ऐसा करने में भूतपूर्व शासक के वफादार सेवकों के साथ वह दुर्व्यवहार भी कर सकता है और जनता को भी तबाह कर सकता है।

इतना होने पर भी इन्द्रसिंह ने अपने प्रयास बराबर जारी रखे और उसने जैसे-तैसे औरंगजेब को राजी कर जोधपुर की गद्दी हासिल की पर सरदारों ने उसे अधिक समय तक टिकने नहीं दिया। अजीतसिंह को गद्दी पर बिठाने के लिए दुर्गादास आदि ने लम्बे समय तक संघर्ष किया और उस समय जो राजनैतिक दौर चला वह भारतीय इतिहास का एक ऐसा अध्ययन योग्य समय है जिसमें दुर्गादास की राजनैतिक सूझबूझ, त्याग, वीरता और बलिदान की एक विशिष्ट मानवीय प्रतिमा उस काल के क्षितिज पर उभर सकी।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत अजीतसिंह ने फौरन जोधपुर पर अधिकार कर लिया पर तब से दिल्ली साम्राज्य की परिस्थितियाँ बड़ी अनिश्चित रहीं जिससे अजीतसिंह को जीवन भर संघर्ष करना पड़ा और इन अनिश्चितताओं के कारण ही इन्द्रसिंह भी बराबर प्रयत्नशील बना रहा। इसी प्रयत्न में उसके पुत्र मोहकमसिंह व मोहनसिंह बलिवेदी पर चढ़ा दिये गये।

फर्रुखसियर के शासन-काल में दिल्ली साम्राज्य अजीब दौर से गुजरा। सैयद बन्धुओं ने अपनी शक्ति इतनी बढ़ाली थी कि बादशाह नाममात्र का सम्राट रह गया था। एक भाई ने राजनीति की बाग संभाल ली तो दूसरे ने सेना की। जब फर्रुखसियर ने इस विवशता से मुक्त होने की कोशिश की तो उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा और उस समय अजीतसिंह और सवाई जयसिंह दोनों ने जो भूमिका निभाई वह निम्न राजनीति का एक उदाहरण बन कर रह गई।

समय अधिक दिनों तक सैयद बन्धुओं का साथ न दे सका और बादशाह मुहम्मद-शाह के शासनकाल में फिर उथल-पुथल मची। महाराजा अजीतसिंह सैयद बन्धुओं के पक्ष में थे अतः इन्द्रसिंह का विरोधी खेमे में रहना उचित ही था पर इतिहास ने ऐसी करवट

बदली कि सैयद बन्धुओं के अत्याचार, फरुखसियर की हत्या और स्वेच्छाचारिता की असीमता ने जनता के मन में उनके प्रति घृणा का भाव पैदा कर दिया और अतीत में उनकी चाहे जो सेवाएँ रही हों, तखत के साथ उन्होंने जो छिछोरपन का व्यवहार किया वही इतिहास में आज जनता के लिये शेष रह गया है। स्वाभाविक है कि ऐसे पात्रों के विरोध में जब निजाममुलमुल्क खड़ा हुआ तो उसके चरित्र की दीप्ति दुगुनी हो गई और इन्द्रसिंह आदि उसके सहयोगियों का भी रुतबा बढा। निजाम के साथ भयंकर युद्ध में राजस्थान के कई शासक अपनी परम्परागत राजनीति के वशीभूत काम आए जिनमें बूंदी का भीमसिंह हाडा, गजसिंह नरवरी, गोपालसिंह आदि का उल्लेख इस कृति में भी हुआ है। इनके अतिरिक्त अनेक मुसलमान अधिकारी भी मारे गये।

इन घटनाओं के द्रुतगति से बदलते हुए वात्यचक्र में लोभ के वशीभूत राजनीति के प्रपंच में अनेक लोगों ने क्रूरता, निर्दयता और निर्लज्जतापूर्ण अमानवीय व्यवहार किया जिनकी झलक भी कवि ने इस काव्य-कृति में स्थान-स्थान पर प्रकट की है। प्राचीन राजस्थानी काव्य में वीरता और साहस, धरती-प्रेम और स्वामिभक्ति को सुन्दर से सुन्दर उक्तियों से सजाकर प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने वाली रचनाएँ तो अनेक हैं और उनकी तुलना में भारतीय भाषाओं की वीर रसात्मक कृतियाँ बड़ी ही फीकी लगती हैं परन्तु इस कृति में वीरता और शौर्य, परम्परागत मान-सम्मान और स्वामिभक्ति जिस प्रकार परिस्थितियों की धधकती अग्नि में जलते हुए अपनी विवशता की चटपटाहट का परिचय देते हैं वह अपने आप में अद्वितीय है। विषय-वस्तु को देखते हुए इस काव्य-कृति का कलेवर बहुत छोटा है पर उसमें भी कथात्मक भूमि से ऊपर उठ कर कवि ने जिस मानवीय दिगंत को छुआ है वह वास्तव में अनूठा और स्पृहणीय है। कुछ उद्धरण देखिये:—

लालच कवरण न लोभिया नर सुर दांणव नाग
तिसण गेडे सगाज ही आवत वधै अथाग।

आवत वधै अथाग आव नित घट हुवै
जळ अंजळि रा जेम क छिन छिन छीजवै
आंन दिस्ट भगवांन न जांणै गह गरब
संपत राज समाज छूटै पल में सरब॥

(छन्द—३५)

अई दइ तुछ आव में कई उपाव करंत
नर सिर मरणा जांणही आसा अमर धरंत।

आसा अमर धरंत ममता नह मुड़ै
देखो कळजुग पूर क दिन दिन बोह चढै
पिता धणी परमेस कपट त्यां सूं करै
कहर करै क्रम करज गरज को ना सरै॥

(छन्द—३७)

यद्यपि इस कृति का शीर्षक "राव इन्द्रसिंह री झमाळ" है परन्तु इसमें इन्द्रसिंह की वीरता आदि का उल्लेख नाममात्र का ही है। उसका व्यक्तित्व निजामुलमुल्क के विराट व्यक्तित्व में छिप गया है और कवि ने उसको ऊपर उठाने का प्रयास भी नहीं किया है क्योंकि उसकी कविता का बहाव बहुत बड़े घटनाचक्र में से निकल कर अंत में निजाम पर केन्द्रित हो गया है और निजाम की विजय और उसकी सफलता में ही उसके साथियों की सफलता को मान कर वह मौन हो गया है। इस प्रकार इस पूरी उथल-पुथल में किस-किस की हार और जीत अज्ञात रूप में किस-किस के सुख-दुख और उत्थान-पतन का कारण बन गई यह विचार सापेक्षता इस में बहुत दूर तक घुली हुई है जिसे इतिहास का गम्भीर पाठक ही समझ सकता है और संवेदनशील हृदय ही महसूस कर सकता है।

परन्तु इतिहास के पृष्ठों पर यह तथ्य अंकित रह गया है कि इतने प्रयत्नों और इतने बलिदानों के बावजूद भी इन्द्रसिंह जोधपुर का राज्य प्राप्त नहीं कर सका, उल्टा उसे नागोर से भी हाथ धोना पड़ा और इधर अजीतसिंह का अन्त करके भी उसके वंशज जोधपुर के अधिकारी बने रहे। इस प्रकार अमरसिंह के वंशजों की हकदारी जोधपुर राज्य के इतिहास में बेवफादारी बन गई और उसकी तीन पीढ़ी के प्रयास विफलता की गर्द में खो गये।

ऐसे राजनैतिक वात्यचक्र को अपनी पृष्ठभूमि में समेटने वाली इस काव्य-कृति का डिंगल की वीर काव्य परम्परा में अपना महत्व है। हजारों गीतों, दोहों व विविध छन्दों में डिंगल काव्य जहां उद्वेलित हुआ है वहां उनमें अनुभूति जन्य सुन्दर वीचियों का बहुत बड़ा कोश अपनी कान्ति और ओज की भव्य आभा से राजस्थानी साहित्य को उजागर किये हुए है और उस कोश में इस कृति की आभा मिल जाने से निश्चय ही उसकी कान्ति में वृद्धि हुई है। भाषा, शैली और अभिव्यक्तिगत नैपुण्य की दृष्टि से कुछ ही उद्धरण यहां देना पर्याप्त होगा—

औरंगजेब की मृत्यु के उपरांत राज्य की अव्यवस्था—

पतसाई ऊथल पुथल अवरंग पछै अनेक
केता रंग दिल्ली किया येके संग सा येक।
येके संग सा येक दिल्ली वर चोह धरै
अदल वरतण हार कोइक अवतरै
चाक चढै चक च्यारि दुनियर वोह चलै
अैराकियां अपार धरा सोह धूंकळै॥

(छन्द—१७)

चक च्यारो लग च्यारि चक हूक नह हालै कोय
संक नहीं पतसाह री जर पोसै तकजोय।
जर पोसै तकजोय सकोई जदि्डया
मंकिया माहूकार वपार सु छंडिया

किण सूं करै पुकार क ऊपर कुण करै
रुकिया वहता राह के पंथी पथ मरै ॥

(छन्द—१५)

शासन-शक्ति को संतुलित मस्तिष्क से वरण करने सम्बन्धी भावाभिव्यक्ति—

जग काया धारी जिता रीता माया रीत
कोइक जे विरला करै परमेसुर सूं प्रीत ।
परमेसुर सूं प्रीत षांत कर दक्ष ही
देह धरी रौ सांच भजन तप दक्ष ही
सुपनंतर संसार संत जांणै सही
जळ बुदबुदा जही बिलावै वेग ही ॥

(छन्द—२६)

दोय घोड़ां चढ दौड़वै वे धारक अवतार
भक्ति राज भेळा करै जीपै सो जमवार ।
जीपै सो जमवार संसारह मंझली
रीझ मौज पुन करै मने पूरब रळी
आयां दीधी आथ साथ से ले गया
जिकै जमारौ जीत कड़ाका दे गया ॥

(छन्द—३०)

मनुष्य की संस्कारजन्य प्रवृत्ति पर सैयदों को लेकर कटु व्यंग—

पैस करहि पावतां विसहर जहर वधंत
कोटि जतन जो कीजियै परकत नह पलटंत ।
परकत नह पलटंत निसल सन नीवड़ै
नेट विनादी हूंत क षता नह पड़ै

कदे न सैदां दिल्ली उजळी करी
फररक री पारीव नीवड़ी फूटरी ॥

(छन्द—३८)

सेना का शस्त्र सज्जित होना व प्रयाण—

घस फौजां चढि घतिया चौरंग अण चालांह
षळ केतां जरदां षंवां झळकंतां भालांह ।
झळकंतां भालांह पड़ै उपडांषिया
ऊपड़ रज गैणाग अरक रथ टांकिया

कळह करेवा काज आज रा कोपिया
गिर झंगर हो गरद मरद यम ओपिया ॥

(छन्द—४२)

अन्तिम पंक्ति में गर्द से आच्छादित योद्धाओं को वनस्पति से ढंके पर्वतों की उपमा देकर कवि ने मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

निजाम की दुर्दमनीय दृढ़ता और इन्द्रसिंह जैसे साथी का सहयोग—

बेली अला नवाब रै इंद बेली आरांण
पतसाई सूं पाधरै कर झल्ली केवांण।
कर झल्ली केवांण जवां यम अविधया
सजदा सैदां हूंत कदे नम न किया
ऊंचा अत असमांन जमीं सक लेखियै
दै जिना रहमांन सुत नां वेखियै ॥

(छन्द—४६)

धवल बैल की तरह परिस्थितियों के कीचड़ से दिल्ली साम्राज्य का रथ निकालने वाले निजाम की आत्मशक्ति—

नीची जूसर कर नहीं धमला ऊंची धार
कढियो तूं ईज काढसी भर रथ दिल्ली भार।
भर रथ दिल्ली भार क कढियो तूं कढै
है धर जूपण भार अमै मत ओछड़ै
वांमी रांचण हार क भांमी तो भुजां
वळ कर धमळ निवाव निजामल धर लजां ॥

(छन्द—४९)

समर की भयंकरता का सजीव चित्रण—

घेघोगर अत घात मद वहता असमांन
वापनिया पूरण हयां पूतारै पिलवान।
पूतारै पिलवांन गैघूंबै गज घड़ा
सज नड़ सार छतीस जरद्दां जड़ी कड़ा
काळी कांटळ कहर बीज खग वळ किया
परा रह्या पग रोप क कायर पळकिया ॥

(छन्द—५२)

बट बट बीजूदळ बळक भळहळ आतस भाळ
धार पंधाधर कन पड़े रस नृधा रौदाळ।

रस लूधा रौदाल चकता काल रुष
मंडै अरावां मोहोर सरावां चौल मुष
तूटी टंक अढारन दूजी धार है
मुड़ै अपूठी मूठ क वडी मार है ॥

(छन्द—५४)

भीमसिंह हाडा और गजसिंह नरवरी जैसे वीरों का निजाम रूपी काल सर्प के हाथों मृत्यु के भेंट चढना—

कालौ जिम छपियै कसण फिरियौ फुण षग फेर
तिण वेला सैदां तणा ढाहि किया दल ढेर ।
ढाहि किया दळ ढेर सैदांना वज्जिया
थया दिल्ली थंम विरुद भुजां तो छज्जिया
धाड़ निजामलमुल्क घाड़ मुगलां षड़ौ
षाय दिलावर भीम गजण नै रिण षड़ौ ॥

(छन्द—८२)

वीर का वीरगति में अटूट विश्वास ही कर्तव्यपरायणता की चरम सीमा—

मरै न सूरा मौत बिन कायर अमर न कोय
काची काया कारणै मत भूलौ जिन कोय ।
मत भूलौ जिन कोय क काया काच सी
राषी जतन न रहै भवस जद भाजसी
सूर धरै विसवास रहसी रिण सुथिर
कायर लांछण लाय मरेसी जाय घर ॥

(छन्द—६३)

ओलै पौह वृत आपणा देतौ कज माराथ
सीस समापै सीलियौ सारौ हेकण साथ ।
सारौ हेकण साथ क सीस दे सीलियौ
सोहड़ां सांम सनाह विरद सांचौ कियौ
राषीजै रजपूत राड़ दिन वासतै
मर सिर दे रिण मांह क सूर सज मतै (लै) ॥

(छन्द—७४)

क्षात्र-धर्म की आदर्शोन्मुख अभिव्यक्ति भी देखिये—

षत्री वंस षित रस लियै सेवै प्रजा सरब्ब
मरणा देणा मारणा करड़ौ घणौ किसब्ब ।

करड़ो घणो किसड्य मरण अर दियण री
जुध अवसर जुड़ियांह थाग दन मन धरो
सांच सील साहंस सत संग लेविये
अथी भुगतण हार परम अंस पेखिये ॥

(छन्द—८०)

इस प्रकार इस समूचे काव्य में बड़े साधे हुए ढंग से वस्तु-वर्णन करते हुए कवि ने अनावश्यक कथा विस्तार न कर कविता को इतिवृत्तात्मकता से बचा लिया है। परन्तु साथ ही उसने अपने काव्य-कौशल में डिंगल की वीर-काव्य परम्परा की पूरी जानकारी का परिचय भी स्थल-स्थल पर दिया है और कहीं-कहीं मौलिक सूझबूझ का भी प्रयोग किया है।

इस कृति की एक ही प्रति हमारे संस्थान के ग्रंथांक ९७२२ में लिपिबद्ध है। कृति के साथ लेखक का नाम अंकित नहीं है परन्तु भदोरा ग्राम (जिला नागौर) के श्री नारायणसिंह सांदू के मारफत यह जानकारी उनके वयोवृद्ध पितामह हेमदानजी से मिली कि इसके रचयिता सबलजी सांदू हैं। उन्हें इस कृति के अनेक छंद तथा अन्य घटनाओं के गीत भी याद हैं। कवि सांदुओं की रामावत शाखा का चारण था और नागौर परगने के शिव ग्राम का निवासी था। उसने जिस संतुलित ढंग से घटनाओं का वर्णन किया है इससे वह इन्द्रसिंह नागौर का समकालीन भी समझा जा सकता है। कवि के अभिव्यक्ति-कौशल को देखते हुए वह अपने समय का एक श्रेष्ठ कवि होना चाहिए।

अलवर री षट रितु झमाल – शिवबक्ष पाल्हावत कृत

राजस्थानी काव्य में जितना विषय-वैविध्य पाया जाता है उससे कहीं अधिक विधा-वैविध्य देखने को मिलता है। डिंगल गीतों के अनेक भेदोपभेदों में झमाळ का अपना महत्त्व है। यह छंद प्राय: वर्णनात्मक विषयों के लिये बड़ा उपयुक्त है। पिंगल में जिस प्रकार छप्पय कवियों का लोकप्रिय छन्द रहा है उसी प्रकार राजस्थानी काव्य में झमाळ और नीसांणी की लोकप्रियता रही है। राव इन्द्रसिंह री झमाळ, राधिकाजी की नखशिख झमाळ, गिरिजा उत्सव झमाळ, जोरजी चांपावत री झमाळ और अलवर री षट्ऋतु झमाळ यहाँ के काव्य-प्रेमी समाज को आकर्षित करते रहे हैं।

राजस्थानी काव्य में जहाँ वीरता, नीति, भक्ति, शृंगार आदि विषयों को लेकर अपार साहित्य-सर्जना हुई वहाँ प्रकृति वर्णन सर्वथा उपेक्षित रह गया हो ऐसी बात नहीं है। व्रज भाषा में षट्ऋतु वर्णन और बारह मासा की एक लम्बी परम्परा रही है। इस परम्परा का निर्वाह किसी न किसी रूप में राजस्थानी में भी हुआ है और वह भी स्थानीय प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में, चाहे वह वेलि कृष्ण रुकमणी जैसे अलंकृत काव्य में हो, चाहे ढोला मारू जैसे लौकिक उदात्त काव्य में या नवोढा विरहिनी की स्वतन्त्र प्रेम-पाती में। अलवर की षट्ऋतु झमाळ की अपनी एक विशेषता यह है कि उसमें परम्परागत विरह वर्णन आदि तो नाम मात्र का ही है पर नारी सौन्दर्य और प्रकृति की सुरम्यता का वर्णन बड़ी तन्मयता के साथ किया गया है। साथ ही प्रत्येक ऋतु में पड़ने वाले सांस्कृतिक पर्वों और उत्सवों का सजीव चित्रण भी इसकी अपनी विशेषता है। इन वर्णनों के बहाने कवि ने यहाँ की संस्कृति और विभिन्न मान्यताओं का जीता-जागता चित्रण प्रस्तुत किया है जो पाठक की कल्पना को अपने साथ बहा ले जाता है। ऐसे कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं:—

संवणी तीज—

ऊंचा अंब सोभा अधिक रेसम री तणियांह
झोटा दे दे झूलवै त्यां चढि तीजणियांह।
त्यां चढि तीजणियांह मिळै भिड़ आम झूम सूं
आंब तोड़ उण वार ले आवै लूंब सूं······

(छन्द—४५)

दशहरा—

आवै दिन दसमी विजय आरंर इन्द्र विमाण
कारण वध दसकंध रै डारण नड़ दइवांण।
डारण नड़ दइवांण आंण हुय एकठा
घोड़ा घण घमसांण जांण घणहर घटा······
(छन्द—५३)

होली—

गोटा रंग गुलाब भरया बहु भांत सूं
होयै सर निज हाथ सेल इण खांत सूं।
पिचकारी हिम री प्रथम निजकर झाल नरेस
हरखै गुमटां ऊपरै बरसै रंग विसेस······
(छन्द—७८)

गोरी पूजन—

मास चैत्र ऊतसव गहा हव गणगोर हंगाम
हुवै धमळ मंगळ हरख तिण वर सहर तमाम।
तिण वर सहर तमाम पारवति पूजवै
गावै गिरजा गीत गहर सुर गूंजवै······
(छन्द—८४)

ऋतु परिवर्तन के बहाने कवि ने एक ओर जहां प्रकृति की विभिन्न छटाओं का वर्णन किया है वहां अलवर के उन विकट पहाड़ों और जंगलों में पाये जाने वाले शेर व सूअर के शिकार का वर्णन भी बड़े उत्साह के साथ किया है। वीर रस यहां के कवियों की रग-रग में समाया हुआ रहा है। परन्तु जिस समय इस झमाळ का निर्माण हुआ है उस समय यहां अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण मध्यकालीन वीरता-प्रदर्शन के प्रसंग लुप्त से हो गये थे अतः कवि ने उस परम्परा का निर्वाह करने के लिये सूअर और शेर की शिकार के प्रसंगों में वीरत्व की जीवंत झांकी प्रस्तुत की है जो यहां की संस्कृति के भी सर्वथा अनुकूल है। शेर और शेरनी तथा सूअर और सूअरनी के वार्तालाप वास्तव में वीर पुरुष और नारी के वार्तालाप से लगते हैं। कवि ने ये चित्र बड़ी सफलता के साथ अंकित किये हैं क्योंकि वह इन घटनाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा रहा है।

शेर की निर्भीकता और चेष्टाओं का वर्णन देखते ही बनता है:—

इसा वचन सुणि ऊठियो अंग मोड़ै असलाक
बाघ कहै सुण बाघणी तजणो सेत तलाक।
तजणो सेत तलाक कहाऊं केहरी
सहों गरज नंहि सीस मायं मेह री
मरण तणो भय मानि भोमि तज भागवै
बाघ जनम बेकाज लाज कुल लाजवै॥
(छन्द—११७)

कवि ने प्रकृति के परिवर्तित वेश के साथ वहाँ के पहाड़ों, घाटियों और नदियों का भी बड़ा मोहक वर्णन किया है :—

अरबुद अक आडावळो जोड़ न पूगै जास
तर गिरवर अलवर तणा किनां बियो कैलास।
किनां बियो कैलास अनड़ इण भांत रा
बारह मास बणाव बणै बरसात रा
पाहण पाहण पूर झरै गिर नीझरां
खोह खोह खरळाट सरित पूगै सरां॥
(छन्द—९७)

कवि ने प्रकृति की छटा के बीच राजमहलों की भव्यता और वैभव के वर्णन का भी एकाध अवसर निकाल लिया है जिससे उस समय के रहन-सहन रुचि आदि का भी पता चलता है :—

जरीतास जरदोज रा पड़दा अतलस पाट
हेम हल्लबी काम हुय काचां बणै कपाट।
काचां बणै कपाट भली छबि भार री
दीपे दर दीवार क जोति जुहार री
झळमळ झाड़ गिलास बिचै पड़ि वत्तियां
समै दिवाळी साज रहै सब रत्तियां॥

पनघट का वर्णन करने के बहाने से तो कवि ने उस स्थल को बड़ी कुशलता के साथ नारी सौन्दर्य का मिलन स्थल बना दिया है जो सौन्दर्य-प्रेमियों के हृदय पर अमिट छाप अंकित करने में सक्षम है। राजस्थानी गहनों में सजी पनिहारी की छवि देखिये : —

कंबु कंठ कर कमळ सम मंहदी रची मझार
बिथरी जांण सरोज बिच इन्द वधू अणपार।
इन्द वधू अणपार क वारिज वित्थरी
मूंगफली समतूळ क अंगुळी हत्थ री
वंगड़ी बाजूबंद चौळ रंग चूड़ला
फबी पहुँची हथफूल छाप मुंदड़ी छला॥
(छन्द—२०)

ऋतुओं का वर्णन क्रमबद्ध रूप में करते हुए भी कवि एक जगह चूक गया है। शरद के बाद हेमन्त का वर्णन न कर उसने शिशिर का वर्णन प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु कवि प्रकृति-वर्णन की परम्परा और उनकी बारीकियों से भली भांति परिचित है इसका अनुमान उसके द्वारा किये गये वसंत वर्णन से ही हो जाता है:—

महकै श्रंब मोरावल्यां, डहकै राग श्रग डार
नहकै कुसमां जुत लता, गहकै भ्रमर गुंजार।
गहकै भ्रमर गुंजार क उपमा राग सी
मनहु रिझावत मदन बजावत बैण सी
उचरै पिक आलाप सरस ऊँचे सुरां
गायण रीझ गुलाब करै चिटकी करां॥

(छन्द—७४)

इस प्रकार प्रकृति का आलंबन तथा उद्दीपन रूप प्रस्तुत करके प्रकृति-प्रेम और सहृदयता का परिचय तो दिया ही है साथ ही कवि प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में विभिन्न मनोभावों को प्रकट करने में भी कुशल है।

कवि ने इन भावों को प्रकट करने में जिस अभिव्यक्ति-कौशल का सहारा लिया है उसे समझने के लिये उसके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न अलंकारों का अध्ययन भी आवश्यक है जो कि उसकी कल्पना-शक्ति, सौंदर्य-बोध और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय देते हैं।

इस दृष्टि से कुछ अर्थालंकार अवलोकनीय हैं—

उत्प्रेक्षा—

जुलम जुलफ नागणि जणी वणी बिहै छवि वंक।
पीवा अधर पीयूस रस मानहु चढ़ी मयंक॥

× ×

उरज उतंगां ऊपरै तंग कंचुकी तांण।
कंचन रस भरिया कळस जरकस ढकिया जांण॥

× ×

पन्नग रदन प्रमांण परम छै पेंडियां।
नरम मनहु नवनीत अरुण रंग श्रेडियां॥

× ×

दृष्टान्त—

सरल सचिक्कण स्यांम कच मुकता मांग मझार।
नरख्यां जमुना मधि तलि, धसी सुरसरी धार॥

× ×

चपल चलाक चुटैल दियै दिलदार का।
नैण झलूका नेह झलूका सार का॥

गह भरिया गजराज खंभा रा खुल्लिया।
पावासर री पाज हंस थकि हल्लिया॥

उपमा—

उमड़ि घटा पड़ि अहर कहर बिरखा किसी।
उठै लहर तन आय जहर बासंक जिसी।

× ×

जोरावर अरजुण जिसो सत्रां उर उर साल।
सुपह प्रथू ज्यों सरसवै इन्तजाम इकबाल॥

रूपक—

सिणगारी भूखण सिलह अति छवि धारी आज
प्यारी किण ऊपर प्रगट सजै सिकारी साज।
सजै सिकारी साज किण ऊपरै
मारण कारण म्रग क रसिया रूप रै॥

यमक—

इण पणघट पर आवियां, ज्यांरौ पणघट जाय।

विभावना—

महलायत उन्नति महा अति सुथरी आरास।
करि विस्वकरमा बिना सजै इसी सुख रास॥

गूढ़ोक्ति—

म्रग मद वेंदी भाळ मझ जाय कही छवि जोन।
निस अष्टम सनि रो नखित भयौ उदै ससि भौन॥

कवि के अलंकार-विधान को देखने से पता चलता है कि उसकी कल्पना में मौलिकता और प्रौढ़ता है परन्तु कहीं-कहीं पूर्ववर्ती कवियों की कल्पना का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है—

कच वेणी गूंथी कुसम लपेटा लागणी।
सांपड़ि खीर समंद क निकसी नागणी॥

(अलवर री झमाळ, छंद—१६)

सित कुसमां गूंथी सुखद वेणी सहियां व्रन्द।
नागणि जांणे नीसरी सांपड़ि खीर समंद॥

(राधिकाजी री झमाळ—वांकीदास)

ब्रज की तथाकथित प्रकृति कविता शृंगार की उद्दीपक बनकर नायिकाओं को सिर्फ भावना तक सीमित न रहकर वह उनकी विरहावस्थाओं के साथ इस प्रकार ग्रथित हो गई थी कि न केवल उसका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त प्रायः हो गया था अपितु वह निर्जीव सी लगने लग गई थी। बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि कवियों की कल्पना नायिका के रूपात्मक वातावरण से इतनी अभिभूत है कि प्रकृति की स्वाभाविक रमणीयता उसके भार में कुम्हलाती हुई प्रतीत होती है। परन्तु इस झमाल में यह बात नहीं, उसका वर्णन परम्परागत तौर-तरीके के निकट होते हुए भी बहुत कुछ स्वछंद और ऐसी ताजगी लिए है जो उस काल की कम कविताओं में देखने को मिलती है, इसीलिए इस कविता का राजस्थानी काव्य में अपना विशेष स्थान है।

कवि परिचय—

इस काव्यकृति का रचयिता कवि शिवबक्स पाल्हावत अलवर नरेश मंगलसिंह का आश्रित था। इनका जन्म जयपुर राज्यांतर्गत हणूतिया ग्राम में संवत १९०१ चैत्र शुक्ला ११ को चारणों के पाल्हावत कुटुंब में हुआ था। इनके पिता रामसुखजी का स्वर्गवास इनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था, तब इनके जेष्ठ भ्राता रघुनाथजी ने इनका पालन-पोषण किया। इनका ननिहाल 'द्रोपदी विनय' नामक काव्य के रचयिता रामनाथ कविया के यहां था। अलवर नरेश बख्तावरसिंहजी ने इनके पिता को गजूकी और भयापुरा की जागीर प्रदान की थी। रामनाथजी के प्रयत्न से थाना ठिकाने के ठाकुर हनुवंतसिंहजी का बचपन में इन्हें आश्रय प्राप्त हुआ था और उन्होंने ही इन्हें पढ़ाया लिखाया। मंगलसिंह जब थाना ठिकाने से अलवर की गद्दी पर गोद आये तो ये भी उनके अंतरंग मित्र की तरह वहां रहने लगे। अलवर नरेश मंगलसिंहजी बड़े विनोदी थे। एक बार कवि से कुछ ऐसा विनोद कर बैठे कि उसे वह असह्य हो उठा और वे अलवर से वृंदावन चले गये। मंगलसिंह की मृत्यु के बाद इन्होंने वृंदावन शतक की रचना की। इन्होंने अलवर का इतिहास भी खड़ी बोली में लिखा। आषाढ़ शुक्ला ११ संवत् १९५६ में थाना की हवेली में इनका देहान्त हुआ। इन्होंने अलवर नरेश से बड़ा सम्मान पाया था। गजूकी ग्राम में इन्होंने बहुत बड़ी हवेली भी बनवाई थी।

महाराजा मंगलसिंह का शासनकाल सन् १८७४ से सन् १८९२ तक रहा।[1] इसी काल में इस झमाल का निर्माण भी होना चाहिये।

जहां तक राजस्थानी काव्य में इस कृति के महत्व का प्रश्न है, इस काव्य-परम्परा में इस प्रकार की काव्य-रचना की पद्धति उस समय राजस्थान के अन्य भागों में भी थी, इसके स्फुट उदाहरण तो मिलते ही हैं पर उदयपुर की गिरजा उत्सव झमाल की तुलना सहज ही इसके साथ की जा सकती है, जिसमें इस प्रकार के कई प्रसंग उभरे हैं।

---

1. Treaties engagements and sanads relating to states, in Rajputana, by C. U. Aitchison, Vol. iii, page 318-19.

यहाँ के राजाओं को शिकार का प्राचीन काल से ही शौक रहा है। उदयपुर के महाराणा फतहसिंह तो सर्दी के दिनों में प्रति वर्ष नियमित रूप से ३-४ महीने पूरे राज्य में शिकार का कार्यक्रम रखते थे। इससे यह भी लाभ होता था कि स्थानीय लोगों से मेलजोल के अलावा प्रजा की वास्तविक स्थिति भी वे गांवों में घूमकर देख सकते थे और राजकीय औपचारिकताओं से मुक्त वातावरण में जनता से सम्पर्क करने की सुविधा भी मिलती थी। शिकार के इन लम्बे कार्यक्रमों में कवि, गुणिजन आदि भी साथ रहते थे। इस प्रकार कवियों को इस काल में जहाँ प्रकृति निरीक्षण का अच्छा अवसर मिलता था वहाँ प्रति वर्ष इस प्रकार के अभियान से उकता कर महाराणा फतहसिंहजी के एक कवि को यह कह कर इस चाकरी से माफी भी मांगनी पड़ी :— .

भंमणी अबखै भाखरां महळां पीहर मेल।
राण फतै री चाकरी खरा खरी रौ खेल॥

कई लोगों को ऐसी गलतफहमी है कि पूर्वी राजस्थानी और पश्चिमी राजस्थानी मे बड़ा अन्तर है। पर इस झमाल् को देखने से यह वास्तविकता भली-भांति सामने आ जाती है कि दोनों भागों की टकसाली काव्य-भाषा में आंचलिक शब्दों के अलावा अन्य कोई अंतर नहीं है जैसा कि इसके पूर्ववर्ती कवि सूर्यमल्ल और बांकीदास की भाषा में भी हम देखते हैं।

राजस्थानी दोहों में शृंगार

तेरहवीं शताब्दी के लगभग जब आधुनिक भारतीय भाषाएँ अपभ्रंश से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों में ग्रहण करने लगीं तभी से राजस्थानी भाषा भी विकसित होने लगी। अपभ्रंश की कितनी ही विशेषताओं को विरासत के तौर पर राजस्थानी अपने में आत्मसात करने लगी, जिनमें शृंगार रस की परम्परा का विशेष महत्व है। अपभ्रंश का प्रमुख छन्द दोहा, राजस्थानी में भी अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति-क्षमता के कारण उस रसधारा का वाहक बन कर आया है।

समय के साथ जैसे-जैसे राजस्थानी साहित्य अनेक विधाओं में प्रस्फुटित हुआ, वैसे-वैसे शृंगार रसात्मक-काव्यधारा को भी विस्तार मिला। यह साहित्य आज कई रूपों में उपलब्ध होता है जिनमें प्रबंध-काव्य, बातें (प्रेम-गाथाएँ), स्फुट छंद और लोकगीत प्रमुख हैं। इन काव्यों के माध्यम से विभिन्न कवियों ने अपनी शैली और अनुभूति के अनुकूल प्रेम-भावना को अत्यन्त हृदयग्राही शैली में व्यंजित किया है। पर छन्द की दृष्टि से इन सब में दोहे का प्रमुख स्थान है। ढोलामारू जैसा रसपूर्ण प्रेम-काव्य प्रबन्ध होते हुए भी दोहों में ही है यद्यपि अन्य छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसी प्रकार स्फुट छन्दों में भी दोहों की संख्या बहुत बड़ी है और लोकगीतों का भावात्मक सौन्दर्य भी इनके प्रयोग से दुगुना निखरा है।

पिछली शताब्दियों में जहाँ यह साहित्य रचा गया है उस प्रान्त की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अत्यन्त संघर्षपूर्ण थीं। बहुत लम्बे समय तक पहले मुगलों और बाद में मरहठों के साथ तो राजस्थान को भीषण संघर्ष करना ही पड़ा था पर इसके अतिरिक्त घरेलू कलह और शासकों के आपसी झगड़ों का भी अन्त नहीं आया। आये दिन युद्ध और लूट-खसोट में हजारों आदमियों का मारा जाना साधारण सी बात थी। घुड़सवारों के जत्थे सदैव इस धरती को रौंदने को तत्पर रहते थे। जहाँ तोपों और बन्दूकों के धुएँ से आकाश आच्छादित रहता था वहाँ के लोगों के हृदय सदा आशंकाओं से घिरे रहते थे। जीवन का कोई भरोसा नहीं था। कितने ही प्रेमियों को प्रथम मिलन के पश्चात् ही सीधा मौत से साक्षात्कार करना पड़ता था; कई युवकों की नवोदित प्रेम-भावनाएँ तलवारों की चकाचौंध में अकस्मात् ही विलीन हो जाती थीं। धर्म के साये में सामाजिक रीति-नीति और जातीयता अपनी सीमाओं को सम्हालने का निरन्तर प्रयत्न

करती थी। इस उथल-पुथल और सामाजिक ऊहापोह के बीच भी मानव की सहज रागात्मक वृत्ति और प्रेम-भावनाएँ सौन्दर्यानुभूति से रंजित हृदयों को रस-स्नात करती रही हैं और उसी रस में जो एक प्रेम-प्रसून प्रस्फुटित हुआ है उसकी रंगीनी और सौरभ इस प्रेम-काव्य के रूप में सुरक्षित है।

इसलिए यह काव्य कुछ अपवादों को छोड़ कर विलासिता के क्षणों में रंगीन कल्पना लोक में विचरने वाले कवियों की वासनाजन्य काव्योक्तियों का संकलन मात्र नहीं है। इसमें राधा और कृष्ण की अलौकिक प्रेम-लीलाओं को स्मरण करने के बहाने अपनी विषय-लालसाओं को कविता का आकर्षक आवरण पहना कर समाज को भ्रमित करने की प्रवृत्ति भी नहीं है और न यह नायक-नायिकाओं के सूक्ष्म लक्षणों का कैटेलाग प्रस्तुत करने में लगाये जाने वाले पांडित्यपूर्ण श्रम का ही प्रतिफलन है। इस प्रेम-काव्य के पीछे उनका अपना सहज भौतिक आधार एवं सामाजिक संघर्ष है। आज उसका प्रचलित कलात्मक रूप चाहे जो भी हो पर उसके मूल में पैठी हुई सामाजिक सत्य की महत्ता और मानव हृदय की सहज वृत्तियों की शाश्वतता को स्वीकार करना होगा। कितने ही प्रेम-काव्यों के नायकों के जीवन-संघर्ष को देखा जा सकता है जिन्होंने अपने प्रेम-निर्वाह के लिए बड़े से बड़े संकटों का सामना किया है, बादशाहों की सेनाओं से टक्कर ली है और दुश्मनों के खड्ग-प्रहारों को अपने सिर पर झेला है। सोरठ को बचाने के लिए गिरनार के राव खेंगार ने गुजरात के बादशाह से आखिरी दम तक भयंकर युद्ध किया। ढोला और मारवणि को ऊमर सूमरा के बाणों की वर्षा में से निकलना पड़ा है। आभल की वजह से खींवजी को झालों से संघर्ष लेना पड़ा। सैणी का हाथ पकड़ने के लिए बींजाणंद को वन-वन की खाक छाननी पड़ी। जलाल ने मौत के दामन पर पैर रख कर बूबना से मिलने के कितने ही प्रयत्न किये। नागजी ने नागवंती को न पाकर प्राणों से मोह छोड़ दिया। इसके बदले में नायिकाओं ने उनसे बढ़ कर त्याग और दृढ़ता का परिचय दिया है। इसलिए इनकी प्रेम-भावना, त्याग और महान मानवोचित गुणों के प्रतीक के रूप में भी व्यक्त हुई है।

नारी या पुरुष का असाधारण सौन्दर्य और गुण विशेष ही प्रायः प्रेम का प्रारंभिक कारण रहा है पर वह निरन्तर संघर्ष और त्याग में से गुजरता हुआ भौतिक धरातल से ऊपर उठता गया है तथा धीरे-धीरे दैहिक आकर्षण को बहुत पीछे छोड़ दिया है जिससे अन्त में प्रेम की विशुद्ध सत्ता कायम हुई है। प्रेम-सम्बन्धों का यह विकास-क्रम एक ऐसा आदर्श स्थापित करने में सफल हुआ है जो भारतीय संस्कृति में विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है। प्रेमी अपने प्रियजन को प्राप्त न कर सकने पर भी निराश नहीं होते और पुनर्जन्म में भी मिलने की कामना करते हैं। उनके प्रेम की इस सच्चाई और दृढ़ता को कवियों ने इस बहाने से दर्शाने का प्रयत्न किया है कि नायक अथवा नायिका की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर शिव-पार्वती की कृपा से वे पुनः जी-उठते हैं और उनका सुखद मिलन सम्भव हो जाता है। इन अलौकिक घटनाओं का प्रयोग सही माने में प्रेम की क्षमता को प्रमाणित करने के लिए ही किया गया है क्योंकि यदि प्रेम जिन्दा है तो

प्रेमी कभी मर नहीं सकते, चाहे इनका भौतिक शरीर नष्ट हो जाय। इस प्रकार विशुद्ध प्रेम-भावना के माध्यम से मनुष्य की आत्मा में निहित अपार शक्ति का जो प्रमाण हमें इन प्रेम-काव्यों में मिलता है वह अन्यथा दुर्लभ है।

इस सम्पूर्ण साहित्य को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है पर यहां उसके साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक स्वरूप को ही लेते हैं। इन दोहों को पढ़ते समय रीतिकालीन हिन्दी कविता का ध्यान आये बिना नहीं रहता। रीतिकालीन कविता या तो नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद बताने के लिए रची गई या ऋतु-वर्णन की बंधी-बंधाई परिपाटी में चलने का प्रयत्न करती रही या फिर अलंकारों के चमत्कारपूर्ण उदाहरणों को प्रस्तुत करने में निःशेष हो गई। नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद, अनेकानेक अलंकारों का सफल प्रयोग तथा प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन प्रस्तुत काव्य में भी मिलेगा। पर रीतिकालीन कविता जहां प्रयत्न साध्य होकर लक्षण के काव्य की ओर चली है वहां यह कविता सहज प्रेम-भावनाओं से उद्भूत होकर काव्य से लक्षणों की ओर बढ़ी है। अतः रीतिकाव्य में कविता साधन और लक्षण साध्य हो गया है। जहां प्रस्तुत कविता में काव्यत्व (और उससे व्यक्त होने वाली प्रेम-भावनाएँ) साध्य तथा रीति केवल साधन मात्र है जिसका प्रयोग भी अनजाने ही हुआ है। उसने कहीं पूर्ण शास्त्रीयता का रूप धारण करने का प्रयत्न नहीं किया। कुछ एक छन्दशास्त्र सम्बन्धी लाक्षणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इस तरह की रीतिकालीन काव्य परम्परा का प्रचलन यहां नहीं रहा इसलिए कुछ अपवादों को छोड़कर यह काव्य अवांछित कृत्रिमताओं से बच गया है।

उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं तथा रूपकों के माध्यम से प्रकृति के सूक्ष्म कार्य-व्यापारों तथा उसके अलौकिक सौन्दर्य को काव्य-रूप प्रदान किया गया है जिसमें स्थानीय विशेषताएँ सहज ही झलक उठी हैं। मरुप्रदेश में उमड़ने वाली काळी कांठळ, बिजली, वर्षा और हरियाली में मयूरों का मदोन्मत्त होकर नाचना, पपीहे की पुकार, दादुरों की कामोत्तेजक ध्वनि, पक्षियों का कलरव, घोड़ों की हिनहिनाहट, प्रेमियों को दूर रखने वाले हरे-भरे पर्वत और उनके बीच बहने वाली भरपूर नदियों का भावना-सुलभ प्रयोग कितने ही रूपों में किया गया है जिससे सरस उद्दीपन विभावों की बहुत सुन्दर सृष्टि सृजित हुई है।

नल़ नदियां बीजल़ तिसा, गिणै न जल़ थल़ बाट।
आवै राजिद प्रीत वस, वाजिद खड़ियां वाट॥
ढोलै जांण्यो बीजल़ी, मारू जांण्यो मेह।
च्यार आंख अेकठ हुई, सैणां बंध्यो सनेह॥
ज्यूं सादूरां सरवरां, ज्यूं धरती सूं मेह।
चम्पक वरणी वाल्हमी, चंदमुखी सूं नेह॥
घण घोरां जोरां घटा, लोरां बरसत लाय।
बीज न मावै बादलां, रसिया तीज रमाय॥
मोर सिखर ऊंचा मिलै, नाचै हुआ निहाल।
पिक टहकै झरणा पड़ै, हरियै डूंगर हाल॥

मुख सोभा दै मयंक ज्यूं, मुलकै मंद सु मंद ।
पट घूंघट री ओट में, चोर लियौ घण चंद ॥

विरह-व्याकुल नायिकाओं का प्रकृति से प्रेम-निवेदन तथा कभी कभी उसके प्रति शिकायत का भाव भी अत्यंत सहज रूप में व्यक्त हुआ है—जहाँ वह पक्षियों और बादलों से अपना प्रेम-संदेश ले जाने की कामना करती है वहाँ वह असह्य विरहाग्नि को प्रज्वलित करने वाले उपकरणों को कोसती भी है। उसका यह व्यवहार पाठक के हृदय पर विरहिनी की मजबूरी, प्रेम की गहनता और स्त्रियोचित भोलेपन का अमिट प्रभाव छोड़ता है।

थूं क्यूं बोल्यौ मोरिया, ऊँचौ चढ़े खिजूर।
थारै मेह नजीक है, म्हारै साजन दूर॥
पिऊ पिऊ करण री, बुरी पपीहा बांण।
थारौ सहज सुभाव औ, म्हारै लागै बांण॥
बीजलियां नीलज्जियां, जळहर तूंही लज्ज।
सूनी सेज विदेस पिव, मुधरौ मुधरौ गज्ज॥

प्रेम की गहनता को जहाँ निर्वैयक्तिक रूप से व्यक्त किया है वहाँ प्रकृति के अनेकानेक उपकरणों का मानवीकरण प्रतीकात्मक शैली के द्वारा हुआ है। इस अभिव्यक्ति की अपनी सहजता और काल्पनिक सजीवता निर्जीव प्रकृति के उपकरणों के बीच वार्तालाप करवाने से द्विगुणित हो गई है। हंस और सरोवर, भ्रमर और भ्रमरी, राग और मृग, वेल तथा करहा, पानी और काठ के आपसी वार्तालाप इस काव्य की चरम उत्कृष्टता के प्रमाण हैं।

हंसा कहै रे सरवरा, लांबी छौल् न देय।
आपै ही उड जावसां, पंख संवारण देय॥
सरवर हंस मनायले, बेगा थका जु मोड़।
ज्यांसूं दीसै फूटरौ, वांसूं नेह न तोड़॥
जावतड़ां वर्जूं नहीं, रैवौ तौ आ ठौड़।
हंसां नै सरवर घणा, सरवर हंस किरोड़॥
और घणाई आवसी, चिड़ी कमेड़ी काग।
हसा फेर न आवसी, सुण सरवर मंद भाग॥

इसी प्रकार के अन्य प्रतीकात्मक दोहों की अथाह भावात्मक गहराई और हृदय को मुग्ध करने वाली अपूर्व क्षमता अभिव्यक्ति के लाक्षणिक वैविध्य में समाई हुई है।

इस काव्य की प्रसिद्धि और सहजता का बहुत बड़ा रहस्य इसमें प्रयुक्त होने वाले दोहा छंद में भी है। दोहा अपभ्रंश से राजस्थानी को विरासत के रूप में मिला है और कालान्तर में उसने हमारे साहित्य में प्रमुख स्थान बना लिया है। इसका मुख्य कारण इस छंद का अपना लाघव कई भेदोपभेद और संक्षेप में बड़ी से बड़ी बात को व्यक्त कर सकने

भी सकता है। छोटा छंद होने से इसे याद करने में भी बहुत सहूलियत होती है। अतः कहीं के अनपढ़ लोगों की जबान से भी आप मार्मिक दोहे सुन सकते हैं। स्मृति के साथ इसका इतना सहज और सीधा लगाव होने के कारण ही यह युगों तक जीवित रह सका है। मौखिक परम्परा में लोक गीतों के साथ साथ दोहे ने भी यात्रा की है। कितने ही प्राचीन दोहे थोड़े बहुत हेरफेर के साथ आज भी लोगों को याद हैं। वास्तव में राजस्थानी जन-जीवन का अन्तर्मी मर्म जितना इस छन्द के माध्यम से व्यक्त हुआ है उतना अन्य किसी छन्द के माध्यम से नहीं। छन्द शास्त्रों से लेकर लोकोक्तियों तक में दोहे का प्रयोग मिलेगा। कोई रस और कोई विषय शायद ही इससे अछूता रहा हो। प्राचीन कवियों ने इसलिए दोहे का बड़ा गुणगान किया है और आधुनिक कवियों ने भी इसे निःसंकोच अपनाया है—

> दूहो दसमो वेद, समझै तेनै सालै।
> चोपातल नी चेण्यु, वांझण की जांणै॥
> दूहो चित चकित करै, दूहो चित रो चैन।
> दूहो दरद उपावहि, दूहो दारू श्रेन॥
> सोरठियो दूहो भलो, भल मरवण री वात।
> जोबन छाई धण भली, तारां छाई रात॥
> सोरठियो दूहो भलो, कपड़ो भलो सपेत।
> ठाकरियो दाता भलो, घोड़ो भलो कुमेत॥

इस संग्रह के अधिकांश दोहे मौखिक परम्परा से चली आने वाली प्रेम-गाथाओं में से लिए गए हैं जो कहीं-कहीं भिन्न रूपों में भी उपलब्ध होते हैं। ढोला-मारू के दोहों का प्राचीन रूप और आधुनिक रूप देखने से यह परिलक्षित होता है कि इनकी भाषा भी कालान्तर में सहज से सहजतर होती गई है।

दोहों की गेयता इनका बहुत बड़ा गुण है। यहां की गाने वाली जातियां सोरठ के दोहे सोरठ रागिनी में, जलाल के दोहे काफी रागिनी में और ढोला-मारू के दोहे मारू व माड रागिनी में बड़ी ही खूबी के साथ गाते हैं। अतः ये दोहे संगीत और काव्य के ऐसे संगम-स्थल हैं जहां दोनों की सत्ताएँ अपनी पूर्णता को प्राप्त कर एक अलौकिक समा बांध देती हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इन दोहों का महत्व असाधारण है। मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय में विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न अनेक घात-प्रतिघात होते रहते हैं। प्रेमी और प्रेमिका के रागात्मक सम्बन्धों का सूत्र भी कितनी ही भाव-लहरियों और विचारों से झंकृत होता रहता है। उन झंकारों को व्यक्त करने की क्षमता जिस काव्य में जितनी अधिक है उतना ही सफल काव्य कहा जा सकता है। इन दोहों में भी स्थान-स्थान पर अत्यन्त सूक्ष्म भावों और मानसिक आवेगों को खूबी के साथ व्यंजित किया गया है। प्रेमियों की उत्सुकता, मिलन-सुख, दुविधा, वियोग, सामाजिक बन्धन, आत्म-समर्पण और नारी के अन्तरतम के भाव में न जाने कितनी भाव-निधियों का संसार कलरव करता है।

इस काव्य के सामाजिक महत्व के दो पहलू हैं। एक तो तत्कालीन समाज-सम्बन्धी जानकारी के साधन रूप में और दूसरा आधुनिक समाज को उनकी उपादेयता के रूप में। प्रत्येक काव्य में अपने समय की बहुत सी बातें परोक्ष अपरोक्ष रूप में स्थान पाती ही हैं। इस काव्य में भी नारी की सामाजिक स्थिति, जाति-प्रथा, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ, धार्मिक मान्यताएँ और इनके अन्तर्गत आने वाले कितने ही छोटे-बड़े कार्य-व्यापारों के संकेत हमें मिलते हैं। पुरुष और नारी के प्रेम-सम्बन्ध, उनकी सौन्दर्य-चेतना औ इनसे सम्बन्धित आदर्शों का विस्तृत वर्णन इनमें उपलब्ध होता है। नारी के नखशिख-वर्णन के साथ-साथ उस समय के आभूषणों, वस्त्रों और साज-सज्जा का भी सजीव चित्रण देखने को मिलता है। नायिका के रंग-रूप और अंग-उपांगों की शोभा बढ़ाने वाले अलंकारों का भी सांगोपांग वर्णन कहीं कहीं तो इस खूबी और बारीकी से किया है कि उसका काव्य-चित्र हमारे कल्पना लोक में अपना स्थायी स्थान बना लेता है। मन की आँखें उस चित्र को देख कर मुग्ध हो जाती हैं तो कान उसकी नूपुर ध्वनि को सुने बिना ही सुन लेते हैं।

सोरठ रंग में सांवळी, सोपारी रै रंग।
सींचांणै री पांख ज्यूं, उड उड लागै अंग॥
सोरठ गढ़ सूं ऊतरी, पायल री झणकार।
धूजै गढ़ रा कांगरा, धूजै गढ़ गिरनार॥
सुहप सीस गुंथाय कर, चंदै दिस मत जोय।
कदेक चंदौ ढह पड़ै, रैण अधारी होय॥
जिण संचै सोरठ घड़ी, घड़ियौ राव खेंगार।
कै तौ संचौ गळ गयौ, कै लाद बुहा लवार॥

लज्जा जिस तरह नारी का आभूषण है उसी तरह मान उसका अधिकार है। लज्जा नारी के रूप और कार्यकलापों में एक अद्भुत सौन्दर्य ले आती है तो मान उसके हृदय-स्थित अनुराग में एक विशिष्ट आकर्षणभरी वक्रता ले आता है। लज्जा जितनी उसके बाह्य सौन्दर्य को व्यक्त करती है, मान उतना ही उसके आंतरिक सौन्दर्य को प्रकट करता है। इस आन्तरिक सौन्दर्य का आभास हमें कुछ नायिकाओं के चरित्र से मिलता है। रूठी राणी ऊमा और सुहप का राशि-राशि सौन्दर्य उनके मान की वजह से ही निखरा है—

सुहप इतौज मांन कर, जितरौ आटै लूण।
घड़ी घड़ी रै रूसणै, तूझ मनासी कूण॥
मांण रखै तौ पीव तज, पीव रखै तज मांण।
दो दो गयंद न बंधहि, हेके कंबू ठांण॥

आधुनिक समाज के लिए भी इन प्रेम-काव्यों का विशिष्ट महत्व और उपयोग है। समाज के विभिन्न सम्बन्धों में प्रेम-सम्बन्ध भी एक है। प्रेम के कई स्वरूप होते हैं जैसे पिता पुत्र का प्रेम, भाई भाई का प्रेम, बहन भाई का प्रेम, मित्र मित्र का प्रेम और पति पत्नी का प्रेम। यहाँ पर पति पत्नी का प्रेम अर्थात् दाम्पत्य प्रेम ही काव्य का विषय है। इस दाम्पत्य प्रेम-भावना को गहन और दृढ़ बनाने में ही इनकी उपयोगिता निहित है। पर एक प्रश्न अवश्य उठता है कि इन काव्यों में जहाँ नायक-नायिकाएँ सामाजिक मान्यताओं को खण्डित कर प्रेम की एकान्तिकता में नैतिक सीमाओं तक को चुनौती देती हुई प्रतीत होती हैं तो वहाँ क्या सामाजिक दुष्परिणामों के बढ़ने की आशंका नहीं होती?

इस तरह की घटनाओं को ऊपरी सतह पर देखने से तो ऐसा ही लगता है कि प्रेम अपने सामाजिक कर्त्तव्य से च्युत हो गया है, जो अनुचित है। पर समूचे काव्य की गहराई में पैठ कर देखें तो अनुभव होगा कि इन सबके पीछे मानव हृदय खो जाता है, घटनाएँ ऊपर ही ऊपर रह जाती हैं। इसीलिए जिस समय ये घटनाएँ घटीं उस समय समाज में उन्हें बुरी दृष्टि से भले ही देखा गया हो पर समय के अंधकार ने अब ऐसा पर्दा डाल दिया है कि उन घटनाओं में से विकीर्ण होने वाली सच्चे प्रेम की शाश्वत ज्योति ही हमें दिखाई पड़ती है। और उसी के प्रकाश को हमें ग्रहण करना चाहिए। मानव की सौन्दर्यानुभूति और रागात्मक वृत्तियों का परिष्कार हो तथा वह अधिक सहिष्णु और शक्तिवान होता चला जाए यह एक सुन्दर संस्कृति की सब से बड़ी आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति में इन प्रेम-काव्यों से मिलने वाले योग का बहुत बड़ा मूल्य है। यही इनकी सामाजिक महत्ता है।
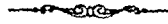
प्रेमगाथा – जेठवे रा सोरठा

अति प्राचीन काल में जब समाज की आवश्यकताएँ और उसके कार्यकलाप बहुत सीमित थे, मानव के रागात्मक सम्बन्धों एवं मान्यताओं की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम पद्य ही था। समाज की उस अविकसित अवस्था में छापेखाने व गद्य के अभाव के कारण सामाजिक प्रतिक्रियाओं और मान्यताओं की सहज अभिव्यक्ति को जनता तक पहुंचाने, तथा उससे सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए लयात्मक छन्दोबद्ध भाषा ही उपयुक्त थी, क्योंकि मानव-स्मृति के साथ उसका विशिष्ट लगाव रहता है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक सामग्री को भी पद्य में ही स्थान मिलना स्वाभाविक था। जब से बड़े साम्राज्यों की स्थापना हुई, शासक वर्ग के चरित्रों और उनके आपसी संघर्षों को काव्य में प्रमुख रूप से स्थान मिलने लगा। काव्य के माध्यम से उनकी विरुदावलियाँ गाने वाली एक जाति-विशेष (Bards) समाज में मान्य हुई और उसने बहुत बड़ी तादाद में वीर काव्यों की रचना की। इसलिए प्रत्येक जाति के साहित्य-इतिहास में वीर काव्य का स्थान अवश्य रहा है।

इतिहास को आधार मान कर लिखे गये शास्त्र-सम्मत काव्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो वे काव्य जो कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं या आश्रयदाताओं के पूर्वजों की प्रशस्ति के रूप में लिखे गये हैं। ऐसे काव्यों में ऐतिहासिक घटनाओं के अतिरंजनापूर्ण वर्णन की ही प्रधानता है और वही उन कवियों का लक्ष्य भी था। वीरगाथा-कालीन महाकाव्यों, खंड-काव्यों और वीर गीतों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। इन काव्यों में शास्त्रीय परिपाटी के निर्वाह के लिए, विभिन्न छन्दों में प्रकृति, सैन्य-संचालन, युद्ध, शौर्य, सौन्दर्य, विरह-मिलन आदि का वर्णन अवश्य मिलता है पर वह उतना मौलिक एवं अनुभूतिजन्य नहीं जितना रूढ़िबद्ध और साहित्य परिपाटी के निर्वाह के लिए है। राजस्थानी एवं हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के कितने ही ग्रन्थ रासो, रूपक, प्रकाश और विलास के नाम से मिलते हैं जिनको देखने से इस बात की पुष्टि होती है। हाँ इनमें कुछ काव्य ऐसे अवश्य हैं जिनमें स्थान-स्थान पर कुछ प्रतिभा वाले कवियों ने उक्ति-चमत्कार के द्वारा या अपने वर्णन-कौशल की विविधता के माध्यम से उन रचनाओं को आकर्षक बनाने का प्रयत्न भी किया है। इन काव्यों का स्थान साहित्य के इतिहास एवं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अवश्य महत्वपूर्ण है पर विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से नहीं।

दूसरे ऐसे काव्य मिलते हैं जिनमें इतिहास का आधार केवल एक बहाना है। कथा या सूत्र ऐतिहासिक होते हुए भी इतना सूक्ष्म है कि वह आदि से अन्त तक काव्य-स्रोत की तह में ही खोया रहता है। कवि की कल्पना, रसोद्वेग और मौलिक सूझ-बूझ से आवृत ऐतिहासिक तत्व उनमें सदैव गौण रहता है। ऐसे काव्य पहली कोटि के काव्यों से संख्या में बहुत थोड़े हैं, क्योंकि उनकी रचना अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की लेखनी से ही संभव होती है। मेघदूत, रामचरित मानस, वेलिक्रिसन रुक्मणी री, कामायनी आदि काव्य इसी श्रेणी के हैं।

यह तो हुई शास्त्र-सम्मत काव्यों की बात। इनके अतिरिक्त जन-साहित्य में एक काव्यधारा निरंतर प्रचलित रही जिसमें ऐतिहासिक तत्व प्रचुर मात्रा में स्थान पाता रहा है। इनमें वीर-गाथाएँ भी हैं और प्रेम-गाथाएँ भी। समाज में घटने वाली सहस्रों घटनाओं के बीच कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी घटती हैं जिनमें किसी आदर्शपूर्ण शाश्वत सत्य का रहस्योद्घाटन होता है, और उसे समाज अपने हृदय में सँजो कर रखना चाहता है। ऐसे तथ्य सहज ही जन-मानस में उद्वेलित होकर काव्य के रूप में फूट पड़ते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा के आधार से वे समय की दूरी को तय करते रहते हैं। उनमें निहित शाश्वत सत्य की सहज अभिव्यक्ति संगीत का अथक संबल पाकर कितनी ही सामाजिक क्रांतियों के बीच से भी अपनी ताजगी और प्रभावोत्पादकता को बनाए रखती है। मानव-परम्परा के साथ उसका कहीं भी बिलगाव होना सहज नहीं।

इनमें प्रेमगाथाओं की संख्या भी बड़ी है। प्रत्येक प्रेमगाथा के पीछे कोई न कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है और किसी न किसी रूप में उस घटना पर आधारित कथा भी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ जनता में अवश्य प्रचलित रहती है। पर जब काव्य में उन घटनाओं के ऐतिहासिक तथ्य की ओर केवल संकेत मात्र मिलता है, कभी-कभी तो उतना भी नहीं मिलता, केवल ध्यानपूर्वक देखने पर प्रचलित घटना का आभास मात्र होता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार के जन-काव्यों में ऐतिहासिक तथ्य अत्यन्त गौण होता है और प्रमुखता होती है उस तथ्य से व्यंजित सत्य की जिसको जनता के हृदय ने जाने-अनजाने ग्रहण कर लिया है।

ज्यों-ज्यों इन प्रेमगाथाओं का प्रचलन अधिक होता है और जनमानस में वे अधिक घुल-मिल जाती हैं तो जनता के औसत भावों के साथ वे इस अविच्छेद्य रूप से जुड़ जाती हैं कि कथा के नायक और नायिका प्रेमी और प्रेमिका के प्रतीकों का रूप धारण कर लेते हैं और प्रेमी-प्रेमिका को लहला-मजनूं के नाम से पुकारा जाने लगता है। यह प्रतीकात्मकता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती—नायक-नायिकाओं को लेकर रचे गये काव्य में प्रेमी-प्रेमिका अपने भावों का प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं, और कई बार तो उन प्रेमियों का भावोद्वेग प्रचलित काव्य में अपने अनुभवों की शृंखला भी जोड़ देता है। ढोला-मारू, रतन-रांणा, मेंढर, बाबजी, बींझरा, मूमल, काछबो, निहालदे, जेठवा, नागजी आदि प्रेम-गाथाएँ ऐसी ही हैं जिनमें युगों-युगों से जन-मानस अपनी प्रेम-जन्य अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब देखता आया है और भविष्य में भी इनकी यह विशिष्टता बनी रहेगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि शास्त्र-सम्मत साहित्य की रचनाएँ चाहे जितनी साहित्यिक और महत्वपूर्ण क्यों न हों, जन-मानस में जितनी ये लोक-गाथाएँ घुल-मिल सकी हैं उतनी साहित्यिक रचनाएँ नहीं। यहाँ दी गई ऊजळी की प्रेमगाथा का 'शकुन्तला' के साथ कई बातों में साम्य है और शकुन्तला पर कालिदास जैसे महाकवि ने कलम उठाई है, फिर भी राजस्थान के जन-मानस में ऊजळी और जेठवा की गाथा जितनी घुल-मिल सकी है उस रूप में शकुन्तला की भी नहीं। फिर शकुन्तला की कथा तो सर्वमान्य पौराणिक कथा है पर ऊजळी एक अत्यन्त साधारण स्त्री है। वास्तव में देखा जाय तो जन-मानस में जो स्थान आज ऊजळी (और इसी प्रकार की अन्य नायिकाओं) का है वह बड़ी से बड़ी रानी का भी नहीं।

राजस्थान के देहातों में जहाँ इस प्रकार की प्रेमगाथाएँ खेत में खड़ा किसान, पांणत करने वाला पांणतिया, साँझ के समय खेत से लौटने वाली स्त्रियाँ, भेड़ें चराने वाला गडरिया और रात की निस्तब्धता में रास्ता तय करने वाला बटाऊ (राहगीर) अपनी-अपनी मस्ती में गाकर श्रम की थकान को भुलाते हैं, वहाँ दूसरी ओर राजस्थान के हर वर्ग में शादी-विवाह या प्रीति-भोजों के अवसर पर इनकी गीतात्मकता श्रोताओं को एक प्रेमपूर्ण मधुर कल्पना-लोक में पहुंचा देती है। कहने का मतलब यह है कि क्या श्रम में और क्या फुरसत में, इन प्रेमगाथाओं का रस मानव-हृदय पूर्ण उल्लास और भावुकता के साथ लेता है, शताब्दियों से लेता आया है। महलों में विशेष साज-सज्जा के साथ इनका आनन्द लिया जाता है तो झोंपड़ियों में निर्विकार मस्ती इनके सम पर झूम उठती है। इनसे कोई वर्ग अछूता नहीं, क्योंकि हृदय सब में है और हर हृदय में प्रेम की भावना चिरकाल से व्याप्त है। यह सब कुछ होने पर भी इन प्रेम-गाथाओं के पीछे ऐतिहासिक तथ्य क्या है, इससे बहुत थोड़े लोग वाकिफ हैं—वाकिफ होने की उन्होंने कभी ऐसी आवश्यकता भी महसूस नहीं की; क्योंकि दरअसल इनमें निहित ऐतिहासिक सत्य उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि उन गीतों के माध्यम से व्यंजित होने वाले प्रेम-सम्बन्ध हैं। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके पीछे प्रचलित कथाओं को जान लेने से कथा के नायक-नायिकाओं की चारित्रिक रेखाएँ कल्पना में अपनी खूबी के साथ उभर आती हैं जिससे उनके साथ श्रोता का विशिष्ट रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है और प्रेमगाथा के प्रभाव के लिए एक निश्चित भूमिका बन जाती है। पर यह विचारणीय है कि इस प्रकार की प्रेमगाथाओं के पीछे प्रचलित कथाओं में ऐतिहासिक सत्य कितना है? प्रत्येक प्रेमगाथा के कथा-तत्व में कुछ बातें ऐसी होती हैं जो दरअसल में घटित हुई हैं, पर समय के दौरान में उस ऐतिहासिक सत्य के चारों ओर काल्पनिक आवरण बढ़ता जाता है और इस प्रवृत्ति ने गाथाओं में निरन्तर प्रक्षिप्त अंशों की वृद्धि भी की है, जिससे मूल गाथा कहाँ से कहाँ पहुंच गई है। इन गाथाओं के अधिकांश नायक एवं नायिकाएँ ऐसी हैं जिनका जिक्र इतिहास में भी कहीं नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में वास्तविक तथ्य और कल्पना को अलग करने के लिए कोई प्रामाणिक आधार ढूँढ़ना भी व्यर्थ है। सच पूछा जाय तो प्रचलित कथाओं का कल्पना वाला अंश भी मस्तिष्क में इतना असर कर गया है कि वह आज सत्य ज्ञात होने लगा है। उसे उसी रूप में स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं। और साधारण जनता तो उसे पूर्ण ऐतिहासिक सत्य के रूप में ही ग्रहण करती आई है। क्योंकि उसे इन प्रेम-गाथाओं के निर्माण की प्रक्रिया का पूरा ज्ञान नहीं।

इस तरह की गाथाओं में कौनसा अंश प्रक्षिप्त है यह मालूम करना भी अत्यन्त कठिन है। शास्त्रसम्मत काव्यों की प्रामाणिकता निश्चित करते समय इतिहास से बहुत सी सहायता मिल जाती है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन गाथाओं की पृष्ठ-भूमि में तो ऐतिहासिक कथाएँ भी कई रूपों में प्रचलित रहती हैं और उनके इन भिन्न रूपों को युगों से मान्यता मिलती आई है। जेठवा-ऊजळी की कथा को ही ले लीजिए—इसके सम्बन्ध में छोटी-बड़ी घटनाओं को लेकर कई मतभेद प्रचलित हैं। यहां तक कि कई लोग ऊजळी और जेठवा का दुबारा मिलन होना ही नहीं मानते, जहां दूसरी ओर दोनों के कई बार मिलने की बात भी प्रचलित है और अंत में जेठवा के महल तक जाकर ऊजळी उसे शाप देती है, ऐसा भी अधिकांश लोग मानते हैं। कहने का मतलब यह कि प्रचलित जन-श्रुतियों के आधार पर काव्य की प्रामाणिकता पर निश्चित विचार प्रकट नहीं कर सकते। गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो यह भी आवश्यक नहीं जान पड़ता की ऊजळी ने जेठवा के विरह में कुछ सोरठे कहे ही होंगे। यहां तक कि पहले पहल जिस कवि ने कथा से अनुभूति ग्रहण की है उसने भी शायद २-४ सोरठे ही कहे हों और कालान्तर में भावुक जन-कवियों ने उनकी संख्या में मौका पाकर वृद्धि कर दी हो। पर इतना तो निश्चित है कि जो सोरठे अनुभूति की गहराई से उद्भूत हुए हैं वे ही समय की दूरी को तय कर सके हैं और आज हम तक पहुंच पाये हैं। शिथिल अभिव्यक्ति वाला काव्य कभी जनता के कंठों में जीवित नहीं रह सकता।

यह सब कुछ होते हुए भी मुक्तकों से निर्मित प्रेम-गाथाओं में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। नागजी, बावजी, बींजरा, सोरठ, ऊजळी आदि की प्रेम-गाथाएँ दोहों-सोरठों में निर्मित हुई हैं। प्रत्येक छन्द में प्रेमी या प्रेमिका का प्रायः नाम मिलता है। जेठवा के सोरठों में तो प्रत्येक सोरठे के अंत में जेठवा (या मेहउत) शब्द आया है। अतः जेठवा के नाम से प्रचलित सोरठों को सहज ही में इस प्रेम-गाथा के साथ जोड़ा जा सकता है, पर यहां कुछ सतर्कता अवश्य अपेक्षित है। उक्त कथा के नायक का पूरा नाम मेह-जेठवा है। अन्य किसी जेटवे के नाम का प्रचलित सोरठा एकाएक इस कथा के साथ नहीं जोड़ लेना चाहिए। जैसे एक सोरठा हालामण जेठवा के नाम से भी प्रचलित है जिसको प्रायः लोग जेठवा के सोरठों के साथ मिला लेते हैं—

गांधी थारी हाट, दोय वसत हूँ वीसरी ,
एक गळे रो हार, दूजो हालामण जेठवो ।

यह हालामण जेठवा, जेठवा राजाओं की पीढियों में कोई अन्य राजा हुआ है जिसका प्रेम सोन नाम की लड़की के साथ बताया जाता है।

सम्पादित सोरठो में से कई एक सोरठों के अंत में जेठवा के लिए मेहउत शब्द आया है। यह शब्द यहां मेह के वंशज के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किसी प्रसिद्ध पूर्वज के नाम के आगे उत, सुत या सुतन शब्द लगा कर, 'वंशज' अर्थ की अभिव्यक्ति देना राजस्थानी शैली की विशेषता रही है। 'मेह' नाम के एक और राजा जेठवों की पीढियों में कथा के नायक

मेह से भी पहले हो चुके हैं[1] इसलिए यहां मेहउत शब्द सार्थक जान पड़ता है। इस प्रकार की कुछ शैलीगत विशेषताओं को समझ कर ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अब देखना यह है कि इस प्रकार की प्रेम-गाथाओं पर शोध कार्य करते समय किन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है और उनकी उपादेयता क्या है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की खोजबीन करने के लिए बहुत बेचैन होना या तरह-तरह की अटकलबाजियां लगाना कोई विशेष लाभदायी नहीं। प्रायः देखा जाता है कि ऐसी शोध करते समय सन-सम्वत और तिथि-तारीख में ही मामला इतना उलझा दिया जाता है कि रचना के वास्तविक मर्म को या उसकी सामाजिक उपादेयता को उतना महत्व नहीं मिल पाता, जैसा कि रासो के बारे में हुआ। फिर आज तो इतिहास को देखने का दृष्टिकोण ही बदल गया है। केवल शासकों की वंशावली और युद्ध-विग्रह का व्यौरा देने वाली पुस्तकों को इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त समाज में बहुत कुछ घटित हुआ है और सच्चे माने में वही इतिहास की मूल सामग्री है। ऐसी स्थिति में इन गाथाओं की पृष्ठ-भूमि में रहने वाली सामाजिक परिस्थितियों और तत्कालीन मान्यताओं को जानने की ओर प्रयत्न होना चाहिए। इनके द्वारा जिस शाश्वत सत्य की ओर संकेत किया गया है उसकी खूबी को किस तरह हृदयंगम कराया जाय, इस सम्बन्ध में विचार होना चाहिए और इनके निर्माण की विशिष्ट परम्परा को बारीकी के साथ समझा और समझाया जाना चाहिए तभी इस प्रकार की गाथाओं के शोध व अध्ययन पर किया जाने वाला श्रम सच्चे माने में सार्थक होगा।

यह प्रेमगाथा राजस्थान में शताब्दियों से प्रचलित है। जेठवा के सोरठे हर काव्य-रसिक की जबान पर रहे हैं और आज भी हैं, पर एक साथ आठ-दस सोरठों से अधिक सोरठे बहुत कम व्यक्तियों को याद हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में भी इन सोरठों का संकलन यदा कदा ही देखने में आता है। ये सोरठे 'परम्परा' पत्रिका में प्रकाशित किये गये हैं जिनका रूपान्तर गुजराती सोरठे में भी मिलता है। झवेरचन्द मेघाणी जैसे कवि इनके कवित्व पर मुग्ध थे। उन्होंने इनका संकलन व प्रकाशन भी किया था।

---

१. स्व. झवेरचन्द मेघाणी, पृष्ठ ८६

उम्मेदसिंह सीसोदिया सम्बन्धी गीत

प्राचीन राजस्थानी काव्य में स्फुट काव्य की प्रधानता है। एक ओर जहां रासो, रूपक, वेलि, रास, चौपाई, विलास, प्रकाश आदि प्रबंधात्मक काव्य-कृतियां पुष्कल परिमाण में रची गई हैं वहां दूसरी ओर दूहा, गीत, भूलना, छप्पय, नीसांणी, कुंडलिया, रसावला आदि छंदों में रची गई अनगिनत स्फुट काव्य-कृतियों से राजस्थानी का साहित्य-भण्डार समृद्ध हुआ है। प्रबन्धात्मक काव्य-कृतियाँ बड़ी होने के कारण बराबर लिपिबद्ध होती रही हैं क्योंकि उनके विस्मृत होने का भय बना रहा है परन्तु स्फुट काव्यकृतियां तो न जाने कितनी बड़ी संख्या में समय के गर्त में लुप्त हो चुकी हैं। लिपिबद्ध होते रहने के कारण बड़ी रचनाओं के रचयिताओं के नाम भी प्राचीन ग्रंथों में प्राय: मिल जाते हैं परन्तु इतने विशाल स्फुट साहित्य का बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसके सृष्टाओं के संबंध में कोई जानकारी शेष नहीं है। यह स्फुट काव्य प्राय: सभी रसों और अनेकानेक विषयों को लेकर लिखा गया है। इतिहास की छोटी-बड़ी घटनाओं से लेकर नीति संबंधी गहन तथ्यों और दार्शनिक चिंतन की गहराइयों तक को इसमें अभिव्यक्ति मिली है। उपरोक्त छंदों में दोहा इस दृष्टि से बड़ा लोकप्रिय छंद रहा है। दोहा राजस्थानी को अपभ्रंश की देन है परन्तु गीत राजस्थानी का अपना विशिष्ट छंद होने के कारण विशेष महत्व रखता है। वह साहित्य के इतिहास में एक नये मोड़ की सूचना देने वाला छंद है। वैसे गीत के माध्यम से सभी रसों को अभिव्यक्ति मिली है परन्तु वीररस उसका प्रधान रस है। अत: इतिहास की दृष्टि से इस छंद में लिखी गई रचनाओं का विशिष्ट महत्व है। अनेकानेक छोटी-बड़ी घटनाओं और प्राणोत्सर्ग करने वाले वीरों के नाम कहीं पर भी इतिहास में देखने को नहीं मिलते परंतु उनको इन गीतों ने सुरक्षित रखा है। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने गीतों के ऐतिहासिक महत्त्व को बराबर स्वीकार किया है तथा श्री झवेरचंद मेघाणी ने इन्हें इतिहास के शुष्क कंकाल को रुधिर मांस से आपूरित कर जीवन प्रदान करने वाला साहित्य कहा है। यद्यपि गीतों के रचयिताओं ने वीरों के कार्य-कलापों के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया है तथापि उस अतिशयोक्ति को नजरअंदाज कर के तथ्य की गवेषणा की जाय तो उनका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है। डॉ. टैसीटरी का कथन इस संबंध में बिलकुल उचित है—

'All the noteworthy events in the life of the chiefs were preserved to memory in the verses of the Charans and the chief had hardly sheathed his sword after an encounter with his enemies that the Charan was ready to welcome him with a song commemorating his bravery. These songs composed immediately after the event which they are intended to record if seen in a true light allowing for all the usual exaggerations and the partiality of the poet are nothing short of historical documents.'

गीत छंद के अनेक भेद होते हैं। यहाँ के छंद-शास्त्रियों ने इनकी संख्या अलग-अलग दी है। छंद-शास्त्रियों के अनुसार गीतों की संख्या और उनके भेदोपभेद में भिन्नता है। करीब एक दर्जन डिंगल के छंद-ग्रंथों में गीतों के लक्षण, उनकी रचना-प्रक्रिया तथा भेदों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। इन छंद-शास्त्रों में रघुवर-जस-प्रकास, रघुनाथरूपक व पिंगल-शिरोमणि प्रसिद्ध हैं। गीतों का नामकरण, उनको पढ़ने का ढंग, जथाओं तथा उक्तों का प्रयोग तथा अन्य अभिज्ञानात्मक उपकरण अपने आप में अध्ययन के विषय हैं, जिन पर यहां प्रकाश डालना अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार के अनेक उपकरणों के प्रयोग से गीत डिंगल की एक विशिष्ट थाती बन गया है। प्राचीन काल में गीत-निर्माण की कला-प्रवीणता को कवि की कसौटी माना जाता था। गीतों में डिंगल का ओजस्वी और प्राणवंत साहित्य प्रस्फुटित हुआ है इसलिए प्रो. नरोत्तमदास स्वामी ने डिंगल गीतों को ही असली डिंगल काव्य कहा है। चारण कवियों ने जहाँ वीरों की विरुदावली अपनी अनुपम काव्य-शक्ति लगा कर प्रकट की है वहाँ एक-एक गीत पर उन्हें पुरस्कार के रूप में लाख पसाव दिए गये हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए जागीरें प्रदान की गई हैं, यथोचित राजकीय सम्मान से विभूषित किया गया है। वीर, वीर-प्रशस्ति और काव्य-पुरस्कार का ऐसा अद्भुत और उदात्त समन्वय अत्यंत दुर्लभ है। कवि लोग अपने आश्रयदाता की वीरता का ही बखान करते रहे हों ऐसी बात भी नहीं है, जहाँ कहीं योद्धा ने पूर्ण साहस और वीरता का परिचय दिया है अन्य राज्य में रहने वाले कवि ने उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उम्मेदसिंह शिशोदिया की वीरता का वर्णन जोधपुर के कविया करणीदान और शेखावाटी के महाकवि हुकमीचंद ने मुक्तकंठ से किया है। इन अनगिनत वीर-प्रशस्तियों का औचित्य उस काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में ही आंका जा सकता है जब कि बाहरी सत्ता से राजस्थान को न केवल राजनैतिक क्षेत्र में अपितु धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में निरंतर संघर्ष करना पड़ा था। यहाँ का अधिकांश वीररसात्मक साहित्य वास्तव में बाहरी शक्तियों की चुनौतियों को दिया जाने वाला पराक्रम का उत्सर्गमय उत्तर है।

मुगलों के अवसान काल में जब दिल्ली की सत्ता बहुत कमजोर हो गई, जगह-जगह शक्तिशाली सूबेदार केन्द्र की अवहेलना कर स्वतंत्र शासक बन बैठे और दक्षिण में मरहठा

Jour A.S. Soc. of Beng. N.S. XIII, 1917 p. 229

शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। सैकड़ों वर्षों से मुगलों के साथ संघर्ष करने वाले राजस्थान की शक्ति भी अब क्षीण हो गई थी। ऐसी स्थिति में मरहठा शक्ति ने उन्हें आ दबाया। स्थानीय शासकों की आपसी फूट और किंकर्तव्य-विमूढ़ता ने उन्हें और भी मौका दिया और महादाजी सिंधिया, मल्हारराव होल्कर, रघूजी आदि की सैन्य-शक्ति यहां की राजनैतिक समस्याओं में निर्णायक शक्ति का काम करने लगी।

ऐसी परिस्थितियों में शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह शीशोदिया ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसके सभी शासक मुखापेक्षी थे और मरहठों को भी उसका लोहा मानना पड़ा था। राजा उम्मेदसिंह ने लंबी उमर पाई थी और अनेक युद्धों में बड़ी कुशलता के साथ उसने भाग लिया था। उज्जैन के अंतिम युद्ध में उदयपुर राज्य की रक्षा के लिए जब लड़ कर उसने वीर गति पाई उस समय उसकी उम्र ७० वर्ष की थी। यहां के कवियों ने उसकी वीरता की प्रशंसा बड़ी मुक्त कंठ से की है। अनेक युद्धों में भाग लेने के कारण और ४ कवियों को लाख-पसाव देने की जनश्रुति के अनुसार उम्मेदसिंह पर काफी बड़े परिमाण में काव्य-रचना हुई होगी परन्तु अद्यावधि इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी रचनाएँ ही उपलब्ध होती हैं जिनका संक्षिप्त अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जाता है।

इन पर लिखे गये गीतों में हुकमीचंद खिड़िया, कृपाराम मेहडू जैसे प्रसिद्ध कवियों के गीतों के अतिरिक्त अनेक अज्ञात कवियों के भी गीत तथा अन्य छंद हैं। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से इन गीतों का अपना महत्व है। डिंगल गीतों की परम्परा से जो लोग परिचित हैं वे सहज ही में काव्य की परम्परागत खूबियों के निर्वाह, भाषागत प्रवाह और मौलिक सूझ-बूझ वाले स्थलों का अनुमान लगा सकते हैं।

उज्जैन के युद्ध पर लिखा गया हुकमीचंद खिड़िया का गीत—'कड़ी बाजतां बरम्मां पीठ पनागां ऊघड़ी केत', डिंगल काव्य में प्रसिद्धि प्राप्त एक रचना है। सुपंखरा जाति का यह गीत पिछले कवियों के लिए युद्ध-वर्णन का एक आदर्श गीत माना जाता रहा है। हुकमीचंद वैसे भी सर्वश्रेष्ठ गीत-रचयिताओं में माने गये हैं। सूर्यमल मिश्रण जैसे महाकवि ने गीत पर हुकमीचंद के अधिकार को स्वीकार किया है—गीत-गीत हुकमीचंद कहगो, हमें गीतड़ी गावी। यद्यपि इस गीत में युद्ध-वर्णन परम्परागत ढंग से ही किया गया है परन्तु इसकी भाषा-गत प्रौढ़ता और शब्द-योजना आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो हुकमीचंद की प्रतिभा का परिचय देती हैं। हुकमीचंद की भाषा में बड़ी चित्रोपमता है। युद्ध वर्णन में अस्त्र-शस्त्रों के घात-प्रतिघात का एक चित्र देखिये—

> बांणां ओक मोक घोख हजारां सणका वजै
> तोक भालां हजारां रणंका वज्जै तास
> तुजीहां हजारां भणंका छणंका तीरां
> वीरां थू हजारां वजै खणंका वांणास।

कहीं-कहीं विराट और मौलिक उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग कवि ने किया है। तोपों के वड़े-वड़े गोले इस प्रकार गिर रहे हैं मानो सुमेरु पर्वत के चारों ओर अनेक सूर्य चक्कर खा कर गिर रहे हों—

बंका भूप चौगिड़द्दां गोळा गज्र बांण धम्मै ।
भम्मैं मेर दोळा जांणै भू भड़ंदा भांण ॥

युद्ध में अग्रसर होती हुई हाथियों की शुभ्र दंत-पक्ति की उपमा एक स्थल पर कवि ने वगुलों की पंक्ति से दी है जो वास्तव में वड़ी सुंदर है—

पामिया मौड़ सामंत कयलपुरै ।
मग वणै दंत पंथ माला ॥

युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाला व्यक्ति स्वर्ग का अधिकारी होता है, इस आदर्श में विश्वास रखने वाले कवि ने पवित्र क्षिप्रा के तट पर होने वाले युद्ध को अश्वमेघ यज्ञ और महान पर्व का रूप दिया है जो यहाँ के कवियों की निराली सूझ का परिचायक है—

सफरां असनांन खाग धारां सिर
उतरा रवि क्रम-कम असमेद
जुध में भड़ां चाहिजे जितरा
अतरा प्रव पांमिया ऊम्मेद

कहीं-कहीं संवादात्मक शैली का भी वड़ा भावपूर्ण और सफल प्रयोग किया गया है जो युद्ध की विभीषिका को कल्पना-लोक के कई रंगों से रंजित कर देता है—

पंथी कोई वात उजीण तणी पढ़
जिण दिन भारथ जागा
दिखणी दळां रांण छ़ळ डारण
विजड़े कुण कुण वागा ।

उम्मेदसिंह की शक्ति और देश-भक्ति को चांवडदान ने वड़े शक्तिशाली ढंग से एक स्थल पर व्यक्त किया है। महाराणा के मुख से ये शब्द कितने औचित्यपूर्ण और परिस्थिति के अनुकूल लगते हैं—

हिंदवाण नाथ हैता हिंदवाण द्रोही व्हैता
जधांण आंवेर सोही पालटै जे वार
दाखियौ दीवांण राज मौ थंभै न कोही दूजौ
भारथ रा महावीर तो ही भुजां भार ॥

कहीं-कही काव्य ने सुंदर लोकोक्ति का रूप धारण कर लिया है। उस समय की चिंतन-धारा को इस प्रकार सूत्र रूप में प्रकट कर दिया है—

सकल् कहै जावैं सूतां री
धूतां री किम जाय धरा।

रूपक द्वारा युद्ध-वर्णन करना डिंगल वीर-काव्य की एक बड़ी विशेषता रही है। अनूपराम कविया ने गंगवाणा के युद्ध में उम्मेदसिंह को गरुड़ का रूप दे कर इस प्रकार की वर्णन-परम्परा का निर्वाह करने का अच्छा प्रयास किया है।

गीतों के अतिरिक्त स्फुट छंदों में भी इस प्रकार की अनेक काव्यगत विशेषताएँ निहित हैं। इस दृष्टि से ये दोहे देखिए—

समदर पूछै सपफरां, आज रतम्बर काय।
भारत तरणै उमेदसी, छाग भकोली माय॥
काल् नदी बहसी किता, बीदग कहसी वत्त।
भारत तणो उमेदसी, रहसी राणावत्त॥

इस प्रकार उम्मेदसिंह सम्बन्धी इस छोटे-से काव्य-संग्रह में काव्य, इतिहास और सांस्कृतिक तथ्यों की दृष्टि से अनेक उपकरण विचारणीय हैं।

मुगल सत्ता के अवसान और नवीन शक्तियों के उदय के संधिकाल में उम्मेदसिंह का प्रादुर्भाव हुआ था और उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों और नवीन परिवर्तनों के अध्ययन की दृष्टि से इस संकलन की विशेष उपादेयता है।

राजस्थान के इतिहास में उम्मेदसिंह जैसे अनेक वीर हुए हैं जिन्होंने अपने युग की ऐतिहासिक घटनाओं पर अपनी छाप अंकित की तथा घटनाओं को नया मोड़ दिया है। यदि उनसे सम्बन्धित काव्य का इसी प्रकार संकलन कर अध्ययन किया जाय तो अनेक नवीन तथ्य प्रकट हो सकते हैं और उस काल के मानस को भी सहायता मिल सकती है।

रूपक हुकमीचन्द

डिंगल-गीत साहित्य की परम्परा को समृद्ध करने वाले कवियों की संख्या बहुत बड़ी है। उनमें हर श्रेणी के कवियों की रचनाएँ देखने को मिलती हैं। पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिनका गीत-रचना पर असाधारण अधिकार दृष्टिगोचर होता है और वे रचनाएँ आज क्लासिक दर्जे की मानी जा सकती हैं। उनके अध्ययन से डिंगल गीतों का परम्परागत विशिष्ट युग बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रकट किया जा सकता है। हुकमीचन्दजी खिड़िया भी उनमें से एक हैं। भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से उनके गीत प्रथम श्रेणी में रखे जा सकते हैं। उनके गीतों की श्रेष्ठता सर्वमान्य रही है, इसलिए किसी कवि ने कहा है:—

> अूप कवित्त नरहरि छप्पय, सूरजमल के छन्द।
> गहरी झमक गणेस री, रूपक[1] हुकमीचन्द ॥

हुकमीचन्द जयपुर राज्य के निवासी थे। महाराजा की तरफ से बनेड़िया नामक गांव उनको जागीर में मिला हुआ था। जोधपुर के महाराजा विजयसिंह, जयपुर के महाराजा माधोसिंह व प्रतापसिंह तथा शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह के ये समकालीन माने जाते हैं। इनके गीतों से राजस्थान के सभी शासक बड़े प्रभावित थे। अपने समकालीन राजाओं व योद्धाओं पर इनके बहुत से गीत उपलब्ध होते हैं। शायद ही उस समय में कोई राजा हुआ हो जिसने हुकमीचन्द के गीतों की रचना से प्रभावित होकर उनका सम्मान न किया हो। इसलिए ये 'राजडंडी' कवियों की श्रेणी में भी आते हैं। इनके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। हुकमीचन्द एक बार जोधपुर राज्य के खराड़ी गांव में से चले जा रहे थे। एक जाटनी ने सहसा प्रश्न किया, तुम कौन हो? हुकमीचन्द ने अपने नाम व जाति का परिचय दिया, तो जाटनी ने फिर पूछा—'अड़क हो कि सड़क?' हुकमीचन्द सकपका गये। बात उनके कुछ समझ में नहीं आई। जाटनी ने पूछने पर बताया कि अड़क तो वे जिनका इस गांव (खराड़ी) में कोई हिस्सा नहीं और सड़क वे जिनका हिस्सा इस गांव में है। पुराने संस्कारों के अनुसार हुकमीचन्द को यह बात चुभी। वे सीधे जोधपुर के महाराजा विजयसिंह जी के दरबार में पहुंचे और एक उच्चकोटि का

---

१. रूपक से तात्पर्य गीत का ही है। मध्यकाल में गीत विधा के लिये रूपक शब्द का पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

डिंगल-गीत कह सुनाया। महाराजा पहिले से ही उनकी प्रतिभा से परिचित थे, यह गीत सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें पुरस्कार दिया तो हुकमीचन्द जी ने मांग की कि उनका हिस्सा खराड़ी गांव में अवश्य होना चाहिए। महाराजा बड़ी दुविधा में पड़ गये। क्योंकि उक्त गांव पहले से ही चारणों के अधिकार में था। कई दिनों तक समस्या का हल नहीं निकल सका। अन्त में खराड़ी के एक कामदार को युक्ति सूझी। उसने हुकमीचन्द जी से कहा कि यदि आप अपने गांव में से हमें हिस्सा दे दें तो हमें भी हिस्सा देने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस पर हुकमीचन्द जी चुप हो गये। इस प्रकार की बातों से पता लगता है कि तत्कालीन समाज में उनका अच्छा प्रभाव था।

हुकमीचन्द जी की प्रमुख रचना डिंगल-गीत ही हैं। गीतों के अतिरिक्त उनका कोई बड़ा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि इनकी लिखी नीशानियें भी मिलती हैं। गीतों में भी सुपंखरा गीत कहने में ये विशेष निपुण थे। इसीलिए उन्होंने सुपंखरे गीत ही अधिक रचे हैं।

इनके गीत प्रमुखतया वीर-रसात्मक हैं। हाथियों और सिंहों की लड़ाई पर भी इन्होंने अच्छे गीत कहे हैं। गीतों में मौलिक उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं व रूपकों का प्रयोग अत्यन्त सुन्दर हुआ है। परम्परा से प्रयुक्त होने वाली बहुत सी उपमाओं का प्रयोग भी इन्होंने समुचित ढंग से अनुभूति की गहराई के साथ किया है। वयण-सगाई अलंकार का निर्वाह तो अत्यन्त ही स्वाभाविक रूप से हुआ है। जथाओं और उक्तों के प्रयोग में भी पूरी सतर्कता बरती गई है। भाषा अत्यन्त प्रौढ़ तथा ओजपूर्ण है। इनकी भाषा में डिंगल के अतिरिक्त संस्कृत तथा प्राकृत आदि के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। गीत में आदि से अन्त तक भाषा का एक ही स्तर तथा सहज प्रभाव बनाए रखने में बहुत कम कवि उनकी बराबरी कर सकते हैं। उनके एक प्रसिद्ध वीर-रसात्मक गीत के कुछ द्वाले उदाहरण के लिए उद्धृत किये जाते हैं। यह गीत शाहपुरा के राव उम्मेदसिंह की युद्ध वीरता पर है। यह विकट युद्ध उसने मेवाड़ की रक्षार्थ संवत् १८२५ में मरहठों से किया था।

> कड़ी वागतां वरम्मां पीठ पनागां अघड़ी केत,
> मगां काल् घड़ी देत पेंडा आसमेद।
> छड़ालां अमागां लागां अड़ी असमान छायो,
> ऊपड़ी वाजंदां वागां यूं आयो 'ऊमेद'॥
> कोडी डाढ़ा फुणी भाट मोड़तो कमट्ठां कंध,
> पव्वैराट सिंघ विछोड़तो भोम पाट।
> थंभ जंगां बोम वांट जोड़तो रातंगां थाट
> तोड़तो मातंगां ठाट रोड़तो त्रंवाट॥
> वाय रो वज्रङ्गी मोड़ चित्तौड़ नाय रो वंधू,
> काली चक्र हाय रो आरोध लीवां क्रोध।
> दुस्सासेण माय क्रतांत रोघ धायो इठ,
> जेठी पाराथ रो किनां भारत रो जोध॥

इनके कुछ प्रसिद्ध गीतों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

(१) गीत देवी करणजी रो प्रथम पंक्ति :—
वेदां वरन्नी आलोका भेदां तुलज्या तरणी वाला ।

(२) गीत शाहपुरा उम्मेदसिंह जी रो :—
लियां भूप उम्मेद गजगाह लढ़ां लोहड़ां भागियो ।

(३) गीत शाहपुरा रा राजा भीमसिंहजी रो :—
जोहां घातरै त्रिवैण रै गणा धीस जेहो ।

(४) गीत शाहपुरा माधोसिंहजी रो :—
सवल् थयो सीसोद आथांण गढ सायपुर ।

(५) गीत आसोप ठाकुर महेसदास रो :—
पती नागरा फैण सचोगणा आगराई पीथा ।

(६) गीत महाराजा विजयसिंहजी रो ।

(७) गीत महाराजा बहादुरसिंहजी किशनगढ रो ।

(८) गीत हाथियों री लड़ाई रो ।

(९) गीत महाराजा माधोसिंहजी जयपुर रो ।

(१०) गीत राघौदास जी भाला रो ।

उनकी गीत–रचना की शैली से तत्कालीन कवि बड़े प्रभावित हुए थे । उनके पश्चात् भी बहुत से कवियों ने उनकी शैली पर कविता करने का प्रयत्न किया, पर वे हुकमीचन्द की समता नहीं कर सके । कई कवि तो उन्हीं के गीतों को उलटफेर करके सुनाने लगे । महादान मेहड़ू के गीतों पर भी किसी विद्वान् ने यही आरोप लगाया है :—

'हुकमीचन्द तणा कहिया थका,
फेरवां गीत महादान फंके ।'

इससे स्पष्ट है कि उनकी गीत–रचना की शैली से बहुत समय तक कवि प्रभावित होते रहे । हुकमीचन्द के गीतों की श्रेष्ठता को सूर्यमल्ल मिश्रण जैसे विद्वान् कवियों ने भी स्वीकार किया है । वे मुक्त कंठ से उन्हें गीतों का श्रेष्ठ रचयिता मानते हैं । उनकी एक उक्ति बहुत प्रचलित है :—

'गीत–गीत हुकमीचन्द कहग्यो हमें तो गीतड़ी गावो'

अर्थात् गीतों की रचना तो हुकमीचन्द कर गया, अब तो केवल गीत–रचना की लीक पीटते रहो ।

हुकमीचन्द के गीतों का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से बड़ा महत्व है । उनकी रचनाएँ उस समय के मानस को पहिचानने में बड़ी सहायक हो सकती हैं । तत्कालीन राजस्थान के प्रमुख वीरों तथा शासकों की मनोदशा के साथ-साथ चारण समाज का उन परिस्थितियों में उनके साथ क्या सम्बन्ध था इसका अनुमान भी उनके गीतों से सहज ही लग जाता है । ●

सूर्यमल्ल मिश्रण पर पुनर्विचार

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद मरहठा शक्ति का राजस्थान की राजनीति में विशेष दखल होने लगा। शताब्दियों के संघर्ष से जर्जरित राजस्थान के रजवाड़े तब अपना प्राचीन वर्चस्व खोकर आपसी संघर्ष और गृह-कलह में उलझ रहे थे। रजवाड़ों के आपसी संघर्ष के कारण चाहे जो रहे हों उन्होने सदा बाहरी शक्तियों को यहां हस्तक्षेप करने का अवसर ही नहीं दिया अपितु अपने स्वतंत्र अस्तित्व और शांति के मूल्य को भी नजरअंदाज कर दिया। मरहठों के हस्तक्षेप के सबसे गंभीर परिणाम आर्थिक संकट (साथ में दुर्भिक्ष) और गृह-कलह को बढ़ावा देने के रूप में प्रकट हुए। ऐसी परिस्थितियों में यहां के शासक उनसे राहत पाने का रास्ता ढूंढने को बड़े बेचैन थे। उन्होंने आपसी भेदभाव को भुलाकर मरहठों के चंगुल से मुक्ति पाने की बात भी सोची परन्तु वे इतने किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो चुके थे कि उसे व्यावहारिक रूप में परिणत न कर सके।[1] इन परिस्थितियों से संतप्त शासकों को मुक्ति का एक ही मार्ग दिखाई दिया और वह था अंग्रेजों की नई हुकूमत का सहारा। अंग्रेज इन समस्त परिस्थितियों से भली-भांति परिचित थे और उन्होंने उपयुक्त समय की पहिचान कर १६ वीं शताब्दी [ईस्वी] के प्रारम्भ में एक-एक करके सभी रियासतों से संधि करली और अपना राजनैतिक वर्चस्व कायम किया। मरहठों की सेना से पदाक्रान्त राजस्थान को कुछ राहत मिली और रियासतों के आपसी सम्बन्ध भी ठीक होने लगे। अंग्रेज अपनी राजनैतिक दूरदर्शिता और प्रशासन-पटुता के आधार पर कई एक समस्याओं का समाधान ढूंढने की ओर तत्पर हुए और कानूनी व्यवस्था को प्राथमिकता देकर शांति स्थापित करने लगे, जिससे उनके शासन की नींव दृढ़ हो और वे जनता तथा सामंतों का विश्वास अर्जित कर सकें।

बूंदी रियासत के कवि सूर्यमल्ल के बचपन ने इन परिस्थितियों को देखा और सुना था और तभी राजस्थान के सुदीर्घ संघर्षमय इतिहास के परिपेक्ष्य में उस बालकवि की अनेक आकांक्षाएँ मँडरने लगीं। साथ ही वह बड़ा भाग्यशाली था कि उसे अपने समय के माने हुए विद्वानों से अनेक कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर भी मिल गया।

---

1. राजस्थान के बड़े शासकों ने संवत १७९१ में हुरडा नामक स्थान पर शामिल होकर मरहठों का सम्मिलित रूप से मुकाबला करने का निश्चय किया था।

—जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. ६३५

सूर्यमल्ल के कृतित्व को समझने का दृष्टिकोण उसके व्यक्तित्व को भली-भांति परखे विना प्राप्त नहीं किया जा सकता। सूर्यमल्ल का सामंती वातावरण और अनिश्चित राजनैतिक परिस्थितियों में लालन-पालन हुआ था। उसे अनेक विद्याओं में परम्परागत ढंग से निपुण किया गया था जिससे वह किसी शासक का कृपा-भाजन बन कर राज्याश्रय प्राप्त कर सके और प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर सके। कवि बड़ा भाग्यशाली था कि उसे बूंदी के रावराजा रामसिंह जैसा आश्रयदाता मिला जिसने न केवल आर्थिक दृष्टि से अपितु सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी कवि को वड़े से बड़ा सम्मान दिया और जीवन भर उसने उस सम्मान को स्वच्छन्दतापूर्वक भोगा। अनेक विद्याओं में निष्णात् कवि को राजपूतों के इतिहास और संस्कृति की बड़ी विस्तृत जानकारी थी। वह राजपूतों के चरित्र का बड़ा गहन अध्येता था। उसे उनकी परम्पराओं, मान्यताओं, आदर्शों और कमजोरियों का पूर्ण अनुभव था और साथ ही वदलती हुई परिस्थितियों में उनकी स्थिति से भी भली-भांति परिचित था। अतः उसने राज-समाज और सामन्त वर्ग में अपना गर्वीला स्थान बनाने में सहज ही सफलता प्राप्त कर ली। उसे यह भली भांति ज्ञात था कि युग पलट रहा है इसलिए शासक-वर्ग से परम्परागत सम्बन्ध रखते हुए भी उसने उनके लिए ऐसा कोई जोखिम उठाने का कार्य नहीं किया जो उसकी सुख-सुविधाओं में बाधक बने, जैसा कि उसके पूर्वज अवसर आने पर अपने आश्रयदाता के लिए करते थे। दूसरे शब्दों में उसने वाणी की साधना तो की और भरपूर की पर वह उसी ढंग से कर्मरत न हो सका। उसने अपने समसामयिक शासकों और समाज को जागरण और संघर्ष का सन्देश तो बड़े अलंकारिक और ओजस्वी ढंग से दिया पर स्वयं कहीं अगुवा नहीं बना। उसने राजस्थान के वीरों की मर्यादा के अनुकूल रणांगण में प्राण-त्याग की प्रशंसा तो की पर स्वयं किसी युद्ध में शामिल नहीं हुआ; यद्यपि वह कवि होने के साथ ही बूंदी राज्य के बड़े सामन्तों की श्रेणी की जागीर का भोक्ता था।

वाणी और कर्म के असामंजस्य का ऐसा उदाहरण प्राचीन चारण कवियों में कम मिलेगा।

यह सब कुछ होते हुए भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह राजपूत संस्कृति का बड़ा पुजारी था और स्वतंत्रता का प्रेमी होने के साथ-साथ प्राचीन जीवन-मूल्यों को वह बड़ा महत्व देता था। उसका समस्त काव्य, भले ही वह वीर सतसई हो या वंश भास्कर, स्फुट छप्पय हों या गीत, इन्हीं संस्कारों से अनुप्राणित है। वंश भास्कर में इतिहास और पाण्डित्य उसके काव्य पर हावी होते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि राजस्थान के अस्त होते हुए गौरव को उसने एक बार अपने इस ग्रन्थ में फिर से समुज्ज्वलित कर दिया।

'वीर सतसई' उसका अद्भुत भावपूर्ण ग्रंथ है। चाहे उसके अनेक दोहों में ईसरदास जैसे महाकवियों और प्राकृत के प्राचीन सुभाषितों की छाया दृष्टिगोचर होती हो परन्तु कुल मिला कर कवि ने अपनी हृदय की मुक्तावस्था को जिस खूबी और बुलन्दी से व्यक्त किया

है वह न केवल राजस्थानी साहित्य के लिए अपितु समस्त भारतीय वाङ्मय के लिए गौरव की वस्तु है।

सूर्यमल्ल का नवीन मूल्यांकन चाहे जिन दृष्टियों से आज किया जाय परन्तु वह निश्चय ही अपने समय में अपने ढंग का एक ही कवि था और उसने अपना पूरा जीवन काव्य-साधना को समर्पित किया। वह असाधारण प्रतिभा और अद्भुत स्मरण-शक्ति का धनी था।

राजस्थानी काव्य के अध्ययन में मुहता नैणसी के ग्रन्थों का योगदान

राजस्थानी साहित्य का यहाँ के इतिहास के साथ वहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। मुगल कालीन इतिहास की शायद ही कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना राजस्थान में घटित हुई हो जिस पर साहित्य-रचना न हुई हो। यद्यपि मौखिक परम्परा पर जीवित रहने के कारण इस प्रकार का वहुत सा साहित्य सामाजिक और राजनैतिक उलट-फेर में लुप्त हो चुका है, परन्तु जो भी साहित्य शेष रहा है उसको देखने से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। यह वात जहाँ इस प्रान्त की एक सांस्कृतिक विशेषता कही जा सकती है वहाँ इस तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि संघर्ष के वीच सर्जन की ऐसी महान् शक्ति रखने वाले उस समाज का मानस किस स्तर का रहा होगा ? वैसे वीर-रसात्मक रचनाओं की भारतीय साहित्य में कमी नहीं है परन्तु यह लक्ष्य करने की वात है कि वह साहित्य प्राय: शासकों, बड़े सामन्तों और शाही व्यक्तियों की प्रशंसा में ही अधिक लिखा गया है। राजस्थान के वीर-रसात्मक साहित्य को देखने से पता लगता है कि यहाँ के कवियों की दृष्टि में प्रत्येक वीर का महत्व है। इसलिए इन अल्पज्ञात एवं अज्ञात हजारों वीरों पर दोहों, गीतों और छप्पयों आदि स्फुट छंदों में रचनाएँ हुई हैं। इतना ही नहीं इतिहास की वड़ी घटनाओं पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में जहाँ काव्यनायक की उपलब्धियों और नाना कार्य-कलापों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है वहाँ विभिन्न राजपूत जातियों और शाखाओं के अनेक वीरों का वखान भी मुक्त कंठ से किया गया है। इससे यह अनुमान भलीभांति लगाया जा सकता है कि आजादी की रक्षा और कर्त्तव्य-पालन करने में संघर्परत वीरों के प्रति समाज का वड़ा आदर-भाव था। यही कारण है कि कवियों ने तो काव्य-रचना कर अपना कार्य कर दिया परन्तु समाज ने उस साहित्य को न केवल ग्रन्थों में अपितु अपने कंठों में भी सहेज कर रखने का प्रयास किया और पीढ़ी दर पीढ़ी काव्य-प्रतिभाओं को भी प्रेरित किया। आज हम भारतीय संस्कृति में जो उदात्त तत्व देखते हैं उसका काफी श्रेय इस साहित्य को है। आधुनिक युग की यांत्रिक चकाचौंध और भौतिक उपलब्धियों की होड़ में इस साहित्य का सही मूल्यांकन कर पाना वड़ा कठिन कार्य है, परन्तु विकट परिस्थितियों मे भी जिन असाधारण जीवन-मूल्यों का रक्षण और संवर्द्धन इस साहित्य ने किया है, उसका वास्तविक मूल्य भारतीय समाज किसी दिन अवश्य आंकेगा।

उनका प्रमुख कारण यह है कि इस साहित्य में वे तत्व मौजूद हैं जो किसी जाति की स्वाधीनचेता आत्मशक्ति को दृढ़ करते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है इस साहित्य का सीधा सम्वन्ध यहाँ के इतिहास से है। परन्तु अभी तक राजस्थान के जो भी इतिहास लिखे गये हैं वे केवल शासकों व सामन्तों की राजनैतिक उपलब्धियों की अपूर्ण रूपरेखा मात्र हैं। उन में समाज व संस्कृति का वह विस्तृत और विविधतामय स्वरूप समाहित नहीं हो सका है जिसे यहाँ का वास्तविक इतिहास कहा जाना चाहिए। इतिहास की यह सामग्री वास्तव में राजस्थानी भाषा में लिखी गई, यहाँ की वातों और ख्यातों में सुरक्षित है जिनमें तिथि-संवतों की खामियां हो सकती हैं परन्तु समाज की वास्तविक स्थिति को समझने में उनसे बढ़ कर दूसरा साधन शायद ही मिलेगा। अत: जब तक इन साधनों का सर्वांगीण अध्ययन नहीं किया जाता, यहाँ के साहित्य की अंतश्चेतना को भलीभांति नहीं समझा जा सकता। यह प्रसन्नता की बात है कि कुछ विद्वान् व संस्थाओं का ध्यान इस मूल्यवान सामग्री की ओर गया है, जिसके फलस्वरूप कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। इन ग्रन्थों में 'मुहता नैणसी री ख्यात' और 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' का विशिष्ट महत्व है। ये ग्रंथ न केवल प्राचीनता की दृष्टि से अपितु उनमें समाविष्ट विशिष्ट प्रकार की प्रामाणिक सामग्री की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

ख्यात में राजस्थान के राजवंशों के इतिहास के अलावा अनेक राजपूत और उनके साथ रहने वाले अन्य वीरों तथा इतिहास की गौण घटनाओं तक का भी विवरण है। राजस्थानी साहित्य के जो इतिहासपरक बड़े ग्रन्थ जैसे राठौड़ रतनसिंह री वचनिका, रतनरासो, विन्है रासो, राजविलास, वीरमायण, सोढ़ायण, गजगुणरूपक, राणा रासो आदि लिखे गये हैं। उनकी घटनाओं को सत्यापित करने व उनमें उल्लेखित व्यक्तियों की सही जानकारी प्राप्त करने के अलावा उनकी पृष्ठभूमि की तह तक पहुंचने में इन ग्रंथों से बहुत दूर तक सहायता मिलती है। इसी प्रकार हजारों वीरों की स्मृति में जो स्फुट साहित्य लिखा गया है उनमें से अनेक वीरों सम्बन्धी जानकारी इन ग्रंथों में होने के कारण उन पर रचित इस साहित्य की ऐतिहासिकता को ठीक से परखने में बड़ी सहायता मिलती है। इतना ही नहीं इस भू-भाग में श्रद्धा के साथ आज भी स्मरण किये जाने वाले लोक-देवताओं सम्बन्धी जानकारी भी इस ग्रंथ में यत्र-तत्र मिलती है। उनसे संबंधित घटनाओं के पीछे जो राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रेरक-शक्तियां रही हैं उनके संकेत भी इस ग्रंथ में बड़े रोचक ढंग से दिये गये हैं। राजस्थानी साहित्य की अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ ऐसी हैं कि जिनके महत्व को स्पष्ट करने में 'नैणसी की ख्यात' की विशेष उपादेयता रही है। उदाहरणार्थ हम महाकवि ईसरदास रचित 'हलाझालां रा कुण्डलिया' को ले सकते हैं। जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को नैणसी ने बखूबी स्पष्ट किया है। नैणसी द्वारा दी गई बात का कुछ अंश यहाँ अवलोकनीय है—

बात १ झाला रायसिंह मानसिंघोत नै जाड़ेचा जसा ववलोत नै जाड़ेचा सायव हमीरोत बेढ़ हुई तिणरी—

.........यूं कहिने रायसिंह धोळहर नजीक आयो। नगारो दियो। धोळहर डेरो कियो। जसानूं आदमी मेलनै कहाड़ियौ—हूं आयो छूं। राज तयार हुय रहीजै। आंपै परभात वेढ़ करस्यां। जसो पण आपरा साथ सूं तयार हुवो छै। बीजो दिन हुवो तद रायसिंघ आपरा साथ सूं चढ़ आयो। जसो पण आपरा साथ सूं चढ़ आयो। गांवरा मुंहडा आगै तळाव छै, तिणरै पाछै मैदान छै। तठै बेऊं कांनीरो साथ आय चढ़ियौ छै। अणी मिळिया छै। वेढ़ भली भांतसूं हुवै छै। वेऊं कानीरो साथ पागड़ा छाड़िया पाळो थको विढ़ै छै। तिण मांहे जसो असवार २०० सूं आपरै साथ मांहे चढ़ियो ऊभो जोवे छै। तरै रायसिंघ दीठो—जू म्हारो साथ थोड़ो नै जसारो साथ घणो, जु काय घात करूं।

रायसिंघ आदमी मेलनै जसारी खबर कराई—जु कठै छै, किसी अणी मांहे छै? सु आदमी खबर ले पाछो आयो। कह्यो—पैली कांनी सानै (छानै) साथ चढ़ियो ऊभो छै तठे छै।

तरै रायसिंघ आपरा साथ मांहै भलो राजपूत, भलो घोड़ो थो त्यां मांहै टाळनै असवार ४०० लेनै जसो ऊभो थो तठे जसा ऊपर तूट पड़ियो। जसो निपट ससवो मुंवो। जसारो साथ भागो। अठै जसा रायसिंघरो घणो साथ कांम आयो। खेत रायसिंघ रे हाथ आयो।"[1]

नैणसी स्वयं कवि था और देश-दीवान होने के नाते उसे मारवाड़ के प्रमुख चारण कवियों के सम्पर्क में आने की सुविधा थी। इसलिए अनेक चारणों से सुन-सुन कर न केवल उन वातों का उपयोग उसने अपनी ख्यात में किया परन्तु उन वातों के प्रमाण स्वरूप प्राचीन काव्य का संकलन भी उसने किया। इसलिए अपनी ख्यात में अनेक ऐतिहासिक महत्व के पद्यांश उसने यथा-स्थान उधृत किये हैं[2] जो राजस्थानी साहित्य की एक मूल्यवान धरोहर हैं और जिनके सहारे अनेक अन्य रचनाओं के प्रसंगों का उद्घाटन किया जा सकता है। कुछ एक महत्वपूर्ण पद्यांशों के नाम इस प्रकार हैं:—

१. कवित्त छप्पय सिरोही रा टिकायतां रा।[3]
२. कवित्त रांमसिंघ सिरोहिये रा।[4]
३. कवित्त चावड़े पाटण भोगवी तिण री साख रो।[5]
४. इतरां पाटण भोगवी तिण साख री कवित्त।[6]
५. पाटण वाघेलां भोगवी तिण साख री कवित्त।[7]

---

१. द्रष्टव्य—मुहता नैणसी री ख्यात, भाग २, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित पृष्ठ २४७-४८।
२. इनमें कुछ पद्य तो ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते।
३. मुहता नैणसी री ख्यात, भाग १ पृ. १८०।
४. ,, ,, ,, ,, पृ. १९१।
५. ,, ,, ,, ,, पृ. २५६।
६. ,, ,, ,, ,, पृ. २६०।
७. ,, ,, ,, ,, पृ. २६१।

६. कवित्त सिद्धराज जैसिंघदे रै देहुरै रा लल्लभाट रा कह्या ।[1]
७. वंशावली रा गीत—भवनो रतनूं कहै ।[2]
८. कवित्त भाटी सालवाहण रा ।[3]
९. गीत कुंवर जेहा भारावत री ।[4]
१०. छंद बेअक्खरी—राठौड़ रामदेव रा कहिया ।[5]
११. दूहा—चारण चांपै सांमोर रा कह्या ।[6]
१२. दूहा पीढ़ियां री विगत रा ।[7]

साहित्य में विशेष रुचि होने के कारण ही उसने कुछ कवियों के बारे में विशिष्ट संकेत भी दिये हैं। इन संकेतों में न केवल उन चारण कवियों के बारे में ही जानकारी मिलती है अपितु चारणों की कई शाखाओं और उनका राजपूतों की विशिष्ट शाखाओं के साथ सम्बन्ध भी उद्घाटित होता है। उदाहरणार्थ सांवळसुंध बारहठ के सम्बन्ध में ख्यात का अंश उद्धृत किया जाता है।[8]

"लाखा फूलांणी कनै सांवळसुध कवि रहै। लाखो वडो दातार छै। तिण ऊनड़रै मन आई जु किणहेक वडै पात्रनूं गोज दीजै। तरै सांवळनूं आप कनै सांमई तेड़ियो। तठै आयो तरै सांवळरो घणो आदर कियो।

पछै वेळा २ तथा ३ मुजरै आयो तरै कयो "क्यूं जस करो।" तरै लाखा रो जस करणो मांडियो। तरै पूरो (दै) सुहावै नहीं। तरै चौथे दिन आयो, तरै कयो—"क्यूं जस करो।" तरै सांवळ कयो—"म्हे लाखारो जस करां, सु राज नुं सुहावै नहीं। लाखा जिसो और कुण छै?" तरै ऊनड़ कयो—'लाखो किसो दातार छै? पूतळो सोनारो वाढे छै दांन दै छै। मड़ो घर मांहि राखै छै। सूतग लागै। दातार होय तो एकण किणीनूं परो दै नहीं तरै?" तरै सांवळ कयो—"राज तो आऊठ कोड़-वंभणवाड़रा धणी छो। उणरै इतरी विलायत दे सको नहीं। तो सत वोलै छै—राज आऊठकोड़-वंभणवाड़ एकण किणी नूं दातार छो तो परो दो।" ऊनड़ बात दिल मांहै राखनै परधांनां नूं कयो—"फलांणी ठौड़ राजलोक और लोकांरी वसी मूधा जात जास्यां। तयारी करो।" सिगळां तयारी की। पछै भलो दिन जोय, दीवाण वणाय सारा उमराव तेड़नै सांवळसुध कविनूं डेराथी तेड़ायनै आपरै तखत वैसांणनै आऊठ-लाख सांमई रो महापसाव करनै आप गाडो जोतराय समदरै बैठ कराई गयो।"

---

१. मुहता नैणसी री ख्यात भाग १ पृ. २७७।
२. ,, ,, ,, भाग २ पृ. १४।
३. ,, ,, ,, ,, पृ. ३७।
४. ,, ,, ,, ,, पृ. २१५।
५. ,, ,, ,, भाग ३ पृ. १६७।
६. ,, ,, ,, ,, पृ. १६८।
७. ,, ,, ,, ,, पृ. १६६।
८. ,, ,, ,, भाग २ पृ० २३६।

नैणसी का दूसरा ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' है जो कि ख्यात जितना ही वड़ा ग्रन्थ है। यह अभी तक ख्यात की तरह प्रसिद्ध नहीं हो पाया था, क्योंकि उसका प्रकाशन हाल ही में हुआ है। परन्तु यह ग्रन्थ मारवाड़ की ऐतिहासिक जानकारी के साथ-साथ भौगोलिक राजस्व-व्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था के अध्ययन के लिए बड़ा ही उपयोगी साधन है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रत्येक परगने के गांवों का वृत्तांत होने से ख्यात में वर्णित काव्य-नायकों के अनेक गांवों, उनकी स्थिति और भौगोलिक ज्ञान के साथ ही आमदनी आदि की जानकारी भी इसमें मिलती है। नैणसी ने इस ग्रन्थ में प्रत्येक परगने के गांवों के विवरण के अन्त में चारणों को सांसण के रूप में दिये गये गांवों का अलग से हाल लिखा है। अन्य गांवों के सम्बन्ध में जो सामान्य जानकारी नैणसी ने दी है उसमें भी विशेष इन गांवों की जानकारी देने का प्रयास किया है। उसने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि अमुक गांव फलां शासक ने फलां चारण को दिया था और उसके (नैणसी के) समय में गांव के भोक्ता फलां व्यक्ति मोजूद हैं। इसके अलावा कहीं-कहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह गांव कौनसे संवत में और किस कारण से किसी चारण को दिया गया। उदाहरणार्थ सांसण के एक गांव का विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।[1]

गांव नापावस :—सोभत था कोस ९ आथण था जीवणो। दत्त राजा श्री सूरजसिंघजी री दधवाड़िया माधवदास चूंडावत नुं। संवत् १६५४ दीयौ। हिमें दधवाड़ियौ सूरजदास नै मोवणदास माधोदासोत नै विसनदास सांमदामोत छै। जाट बसै। धरती हळवा २० बाजरी मोठ हुवै छै। तळाव मास ४ पांणी मीठौ। पछै मांगीयों पांणी पीवै। वाहळौ १ छै।

इस प्रकार ऐसे अनेक चारण कवियों का प्रामाणिक विवरण इस ग्रन्थ में मिल जाता है जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार के विवरण से न केवल कवि को आश्रय देने वाले शासक और गाँव आदि की जानकारी मिलती है अपितु उस कवि का समय और उसके वंशजों आदि का भी कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है जो कि राजस्थानी साहित्य की खोज की दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध चारण कवियों सम्बन्धी जानकारी इस प्रकार है—

१. किसना दुरसावत आढ़ा को हिंगोला खुरद जोधपुर परगने का ग्राम राजा गजसिंह ने प्रदान किया।[2]
२. केशोदास सनवोत गाडण को सोभड़ावास सोजत परगने का ग्राम राजा गजसिंह ने दिया।[3]
३. दुरसा मेहावत आढ़ा को लूंगियो तथा दागरो ग्राम क्रमशः मेड़ता और जैतारण परगने के सुरतान जैमलोत और राजा सगतसिंह उदयसिंघोत ने दिये।[4]

---

१. मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग–१ पृ० ४८७।
२. विगत भाग १ पृष्ठ २६२।
३. ,, ,, १ ,, ४८६
४. ,, ,, २ ,, २१२ तथा विगत भाग १ पृष्ठ ५५०।

४. दुरसा मेहावत व किशना दुरसावत को पांचो गांव टियसोजत परगने का महाराजा गजसिंह ने प्रदान किया।[1]

५. माला उदावत सांदु को खुडालो व गुदीसर खुरद क्रमशः जोधपुर व मेड़ता परगने के ग्राम मोटा राजा उदयसिंह तथा राजा सूरसिंह ने दिये।[2]

६. लखा नादणोत बारठ को ऊंचीहेड़ा व रहेनड़ो ग्राम क्रमशः मेड़ता व सोजत परगने के ग्राम राजा सूरसिंह ने दिये।[3]

चारणों के शासन सम्बन्धी ये जो विवरण दिये गये हैं इनसे यह भी पता चलता है कि चारणों की स्त्रियों को भी सांसण दिया जा सकता था। सोजत परगने के सांसणों की विगत में राजा सूरजसिंघ द्वारा आढ़ी देवलिगा को सांसण प्रदान करने का उल्लेख है।[4] इन प्रमुख जानकारियों के अलावा इस जाति के सम्बन्ध में कुछ एक ऐसे विशिष्ट उल्लेख भी सप्रमाण मिलते हैं जिससे इस जाति के राजपूतों के साथ घनिष्ट संबंध और अनेक प्रकार की परम्परागत सामाजिक धारणायें भी उनसे प्रकट होती हैं। चारणों के सांसण आदि प्रायः पीढ़ी दर पीढ़ी चलते थे और कुछ विशिष्ट राजनैतिक कारणों से ही जब्त किये जाते थे। सांसण जब्त किये जाने पर यह लोग उसका प्रतिरोध भी किया करते थे जिसका उल्लेख राव मालदेव और मोटा राजा उदयसिंह के शासन-काल में आया है। इसके अतिरिक्त कुछ परगनों के वृत्तान्तों से यह भी पता लगता है कि चारणों को केवल श्रेष्ठ काव्य-रचना करने पर ही ग्राम सांसण में दिया जाता हो ऐसी बात नहीं, क्योंकि कई ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जहां उन्हें तीर्थ-यात्रा के अवसर पर दान स्वरूप भी ग्राम दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट सेवा के लिए भी ग्राम या भूमि आदि प्रदान की जाती थी। सांसण सम्बन्धी चारणों के विभिन्न अधिकारों का संकेत भी इस प्रकार के गांवों के विवरण में मिल जाता है, जैसे गोद लेने का अधिकार, सांसण की जमीन में से दान देने या बेचने का अधिकार, अपने नाम से प्राप्त भूमि में गांव का नाम रखने का अधिकार, राज्य के बाहर अन्य राज्य में भी सांसण प्राप्त करने का अधिकार आदि।

यहां यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि राजस्थान के प्राचीन साहित्य की विपुल परिमाण में रचना करने वाली उस जाति की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों और मनोदशाओं का अनुमान लगाने में ये तथ्य बड़े ही उपयोगी हैं और यहां के साहित्य का गहन अनुसंधान करने वालों को अनेक प्रकार से बहुत उपयोगी सहायता पहुंचाते हैं।

चारण कवियों के अतिरिक्त यहां पर कई भाट व ब्राह्मण भी संस्कृत व बृज भाषा के अच्छे कवि हो गये हैं। इनमें से कई एक को सांसण भी मिले हुए थे, अतः प्रत्येक परगने में चारणों के साथ-साथ इनके सांसण आदि का भी जो विवरण दिया गया है वह चारणों की तरह ही उनके अध्ययन के लिए भी किसी हद तक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विगत का महत्व भी ख्यात की तरह साहित्य के अनुसंधान के लिये बड़ा उपादेय है।

---

१. विगत, भाग १ पृष्ठ २८३।
२. ,, ,, १ ,, ३४६ तथा विगत भाग २ पृष्ठ १६७।
३. विगत, भाग १ ,, १४० तथा विगत, भाग २ पृष्ठ ४८७।
४. विगत, भाग १ ,, ४८७।

कवि डूंगरसी रतनू का वीर काव्य

प्रत्येक देश के आदिकालीन साहित्य में वीर गाथाओं की प्रधानता रही है। हमारे हिन्दी साहित्य के आदिकाल को शुक्लजी ने वीर गाथा काल की संज्ञा दी है परन्तु राजस्थानी साहित्य की परम्परा इसका एक अपवाद ही है क्योंकि जैसा डा० मोतीलाल मेनारिया का मानना है—राजस्थानी में आदिकाल से लेकर १९ वीं शताब्दी तक वीर रसात्मक काव्य अबाध गति से प्रवाहित होता रहा। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि राजस्थान निरन्तर संघर्षरत तो रहा ही है परन्तु उन संघर्षशील परिस्थितियों में उसने अपने दायित्व को बराबर पहिचाना और उसे क्रियान्वित किया है। यद्यपि अन्य रसों में भी उच्च कोटि का साहित्य निरंतर लिखा गया है परन्तु वीर रस की ओजस्विनी धारा बराबर प्रवहमान होती रही है, यह इस साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता है।

सही मायने में इस साहित्य का समाज-सापेक्ष मूल्यांकन नहीं हुआ है और इसे सामन्तों की प्रशस्ति का तगमा देकर हमेशा एक तरफ टांक दिया गया। मध्यकाल में जब मुगलों ने उत्तरी भारत पर एकछत्र राज्य कायम कर लिया था और हमारी संस्कृति को बड़ा खतरा पैदा हो गया था तब भक्त कवियों ने जहाँ अनेक प्रकार से ईश्वर के नाना अवतारों का गुणगान कर आत्मबल प्राप्त करने की कोशिश की थी वहां यह तथ्य भी किसी भी हालत में छिपाया नहीं जा सकता कि उस निरीह समाज को वास्तविकता से पलायन करने में इस भावधारा ने योग दिया। उस समय राजस्थान का कवि ईश्वर में आस्था रखकर भी कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुआ और कर्त्तव्यरत योद्धा भी मन्दिरों, गायों, ब्राह्मणों और अन्यान्य सांस्कृतिक उपकरणों की रक्षा हेतु मरने को मंगल मान कर युद्ध के लिए सदा सन्नद्ध रहे।

मध्यकालीन राजस्थानी साहित्य का जो बहुत बड़ा दाय वीर रस के रूप में है उसके सर्जक कवियों के पास काव्य–प्रतिभा के अलावा जीवन में गहरी आस्था तथा अटूट धैर्य का संबल भी रहा है। इसकी गहराई में जाने से पता चलता है कि उस समय के लोग केवल भूमि या धन के लोभ के लिए ही नहीं जीते थे परन्तु परम्परा से चले आए सिद्धान्तों की रक्षा करना और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करना भी उनका प्रमुख उद्देश्य था। परना स्त्री के सम्मान और अपनी आनवान के लिए वे पग पग पर मृत्यु का आलिंगन

नहीं करते और सच बात तो यह है कि यदि इन वीरों ने मर कर और कवियों ने उन्हें अमर करके यह अद्भुत वातावरण न बनाया होता तो आज हमारे देश का सांस्कृतिक ताना-बाना कुछ और ही होता।

आज की परिस्थितियों में हमारा राजनैतिक और तद्नुसार राष्ट्रीय चरित्र द्वैत भावना से आच्छादित है। हमारी चिन्तन-परम्परा वास्तविकता से दूर हट कर या तो फैशन परस्त होती जा रही है और या जानते हुए भी अनजान बने रहने की कला हासिल करने को ही बहुत बड़ी सफलता समझती है। इसलिए हमारे चिंतन, कथन और कर्म में दिनों दिन अन्तर बढ़ता जा रहा है और इसलिए एक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं हो पा रहा है जो कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति के लिए ही नहीं उसके अस्तित्व के लिए भी बहुत आवश्यक है। राष्ट्रीय जीवन की इस दुविधापूर्ण स्थिति का ही यह परिणाम है कि आज का साहित्य जिस भोगे हुए यथार्थ और सामाजिक संघर्ष की बात करता है वह अत्यन्त बौना और क्लीव प्रतीत होता है। फलस्वरूप उसकी उपयोगिता के सामने हर दशक के बाद एक बड़ा प्रश्न चिन्ह अपने आप उभर कर खड़ा हो जाता है।

इस प्रसंग में यह बात इसलिए कहनी पड़ी है कि हम आज हमारे सम-सामयिक साहित्य को भी सन्तुलित दृष्टि से नहीं देख पाते हैं तब हमारे प्राचीन साहित्य को देखने का नजरिया तो पूर्वाग्रहों के चश्मे से दूर हटता ही नहीं है। राजस्थान के मध्यकालीन वीरकाव्य की अपनी सीमाएँ हो सकती हैं परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय के कवि, समाज और काव्य-नायक का लक्ष्य स्पष्ट था। इसलिए उस साहित्य में प्रेरणा की जो सच्चाई और अभिव्यक्ति में जो वजन है वह सामाजिक संघर्ष को एक विश्वसनीय भूमिका देता है और इसीलिए उसने हमारी संस्कृति में काव्य, संगीत व कला के ऐसे रंग भरे हैं जिनकी आब आज भी ताजा है और उनकी प्रभावोत्पादकता सहृदयों के लिए कभी कम न होगी।

मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ वीर रसात्मक कवियों में दुरसा आढा, जाडा मेहडू, राठौड़ पृथ्वीराज, डूंगरसी रतनू, माला सांदू, शंकर बारहठ आदि का विशिष्ट स्थान माना गया है। इनमें से अधिकांश कवियों की रचनाएँ किसी न किसी रूप में प्रकाश में आई हैं और उनकी महत्ता का गुणगान भी इतिहासकारों ने किया है। इन प्रथम श्रेणी के कवियों की पंक्ति में अपना स्थान रखने वाले कवि डूंगरसी रतनू की कृतियां अभी तक अज्ञात-सी ही थीं। इसके चाहे जो कारण रहे हों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यकाल के उस संघर्षशील वातावरण में इस कवि ने जो सर्जनधर्मिता निभाई है वह इस काल के किसी भी कवि से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इन कवियों के काव्य की गहराई में जाने पर प्रतीत होता है कि ये कवि अनन्त धैर्य और आस्था के कवि हैं। वीरता, मान-मर्यादा की रक्षा, स्वतन्त्रता व वचनबद्धता उनके संस्कारों के अभिन्न अंग हैं जो कि उस काल के योद्धाओं को बड़ी से बड़ी आपत्ति झेलने की शक्ति प्रदान करते थे और धरती छूट जाने पर भी अपने सांस्कृतिक धर्म पर

कायम रहते थे। अपने पौरुष पर इतना विश्वास कायम रख सकने की प्रेरणा देने वाली कविता हमारे राष्ट्र की एक असाधारण धरोहर है। छल-कपट, प्रपंच, चाटुकारिता, झूठ, फरेब आदि उस जमाने में भी थे परन्तु उनको साहित्यकारों ने कभी जीवन का आधार नहीं माना और न उनके द्वारा अर्जित सफलता को कभी सराहा और यही कारण है कि विदेशी शक्तियों के इतने प्रबल झंझावात के बावजूद हमारा सांस्कृतिक धरातल तब कलुषित नहीं हुआ।

साहित्याचार्यो ने अपनी अपनी मति के अनुसार कभी शृंगार को सर्वश्रेष्ठ रस बताया है तो कभी करुणा और भक्ति को, परन्तु राजस्थान का कवि आदि से अन्त तक वीर रस की धारा में ही बहता हुआ नजर आता है। और इस धारा में ही वह अन्य रसों का आलिंगन करता हुआ भी चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके जीवन का दर्शन ही ओज है और ओजहीन जीवन को वह जीवन नहीं मानता। ओज के ताप में पक कर जो जीवन के रत्न को हासिल करते हैं, उनकी आब उनके लिए ही नहीं पूरे समाज के लिए मूल्यवान है, क्योंकि वे ऐसे गुणों की परम्परा कायम करते हैं जो जीवन में सामूहिक चेतना भरने के साथ जाति और राष्ट्र के गौरव को आने वाली पीढ़ियों के लिए दीप्तिमान करते हैं। इस संवेदना की वाहक शक्ति जिन कवियों ने साधी है उनमें डूंगरसी रतनू एक अन्यतम कवि हैं। उनका काव्य कूंपा मेहराजोत, पृथ्वीराज जैतावत, जयमल मेड़तिया, चन्द्रसेन, सुरताण देवड़ा आदि ऐसे वीरों पर लिखा हुआ साहित्य है जिनकी मिसाल मध्यकालीन भारत में वे स्वयं ही हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन वीरों ने जिस वीरता और पराक्रम के साथ बेलाग संघर्ष और बलिदान किया, उसने आने वाली पीढ़ियों में ऐसी स्फूर्ति और दम भरा कि वे औरंगजेब जैसे क्रूर शासक की चढ़ाइयों, छलाघातों और प्रलोभनों को निरस्त कर एक लक्ष्य की ओर राष्ट्र का पथ प्रशस्त कर सके।

अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा की गुलामी में पली हमारे देश की मनीषा का आज यह दुर्भाग्य है कि हम हमारे इतिहास को केवल घटनाओं के घात-प्रतिघात तक ही सीमित कर के देखने के आदी हो गए हैं और उसमें जो हमारे देश की आत्मा की अकुलाहट और जीवन की स्फीति रही है उसे पहिचानने का बिल्कुल प्रयास नहीं करते। यही बात साहित्य के मूल्यांकन के बारे में भी है कि या तो हमारी नाप-जोख रस और अलंकार तक ही सीमित रह जाती है या उसे वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है या देश-काल के भौतिक ऊहापोह को ही लक्ष्य बना लिया जाता है। पर उस पूरे साहित्य में जो स्पिरिट विद्यमान है उसकी समाज-सापेक्ष समझ सामने रखने का दायित्व वहन करने का कष्ट कोई नहीं उठाना चाहता। यही कारण है कि हमारा बहुत सा मूल्यवान साहित्य पाठकों को निरर्थक लगने लगा है। आज के वैज्ञानिक युग में यह समस्या दिनों दिन और भी अधिक बढ़ती जा रही है क्योंकि हमारा दृष्टिकोण जीवन को एक संकुचित दायरे में देखने का हामी हो गया है और वह राष्ट्रीय जीवन-धारा से अलगाव के खतरे को पहिचानने की चेतना खो चुका है। जब हम डूंगरसी रतनू जैसे कवियों की रचनाओं को देखते हैं तो पता चलता है कि उस काल की समग्र जीवन-चेतना का कितना अद्भुत लावण्य उनकी वाणी में उल्लसित हुआ है।

यदि हमें विज्ञान की तार्किक शुष्कता और भौतिक उपलब्धियों की होड़ तथा उच्च कोटि के सांस्कृतिक मूल्यों के बीच तालमेल बैठाना है तो निश्चय ही हमें इस प्रकार के साहित्य को प्रकाश में लाना होगा, उसका पूर्वाग्रहों से मुक्त मूल्यांकन करना होगा और उससे पुष्पित होने वाले शाश्वत जीवन-मूल्यों की सौरभ फिर से घुटन भरे समाज में बांटनी होगी कि वह अपने पौरुष के बल बूते पर अपना खोया हुआ आत्मबल अर्जित कर हमारे देश की महान् सांस्कृतिक विरासत में सोद्देश्य मुक्त जीवन जी सके और भारत पूरे विश्व में जिस ज्ञान, दर्शन और कर्म के लिए विख्यात रहा है उसकी यथार्थता को जीवन में उतार सके।

इस महाकवि की काव्यकृतियों की काव्यशास्त्रीय विशेषताओं पर प्रकाश डालना मेरा उद्देश्य नही है। साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान उसकी रसधारा में पैठ कर अपनी समझ के अनुसार अवगाहन करेंगे। परन्तु इस कवि के बारे में इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि इस कवि की कारयित्री प्रतिभा और रचना-कौशल एक क्लासिक स्तर का तो है ही साथ ही उसने बड़े दूहे की अत्यन्त सफल रचना करके उस युग की भाव-धारा और रचना शिल्प की श्रेष्ठता का असाधारण परिचय भी दिया है। डिंगल में बड़ा दूहा लिखना सामान्य कवि के वश की बात नहीं रही है और इस कवि ने टकसाली भाषा की परम्परागत शक्ति के सहारे इस छन्द के माध्यम से उदात्त ओजस्विता की स्थायी कसक अपनी इस रचना में अंकित करने का जो सफल प्रयास किया है उसे डिंगल की समूची काव्य-परम्परा को समझने वाले पाठक भली भांति सराह सकेंगे।[1]

---

1. कवि की रचनाओं का सम्पादन श्री सौभाग्यसिंह ने 'डूंगरसी रतनू ग्रन्थावली' के अन्तर्गत किया है।

गद्य अनुशीलन

राजस्थानी बात साहित्य

राजस्थानी साहित्य के उद्भव तथा विकास पर विचार करते समय विद्वानों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं की परम्परा में उसे यथोचित महत्व दिया है। पर यह विचार प्राय: प्राचीन राजस्थानी काव्य की विशेषताओं के आधार पर ही होता रहा है। क्योंकि वीर, शृंगार एवम् भक्ति-रस की सृष्टि करने वाले कुछ प्रसिद्ध काव्य–ग्रन्थों का जो सम्पादन एवम् साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन यथेष्ट श्रम और सूझ–बूझ के साथ किया गया, उससे राजस्थानी काव्य–सौष्ठव में निहित रूप तथा तत्वगत विशेषताओं को ही बारीकी से हृदयंगम करने का अवसर मिला।

पर इस विपुल काव्य–निधि के अतिरिक्त राजस्थानी गद्य साहित्य की भी बहुत प्राचीन और समृद्ध परम्परा रही है। उसका प्रकाशन तथा समुचित अध्ययन अभी नहीं हो सका, जिसके फलस्वरूप यह गलत धारणा बन गई कि इस भाषा का गद्य-साहित्य नगण्य अथवा गौण है।

प्राचीन राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और उसके विस्तृत अध्ययन से पता लगता है कि इस भाषा का गद्य साहित्य भी उतना ही प्राचीन और विविधतापूर्ण है जैसा कि अन्य कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध होता है।

राजस्थानी गद्य में यहाँ के समाज की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक मान्यताओं को युगों–युगों से कलात्मक अभिव्यक्ति मिलती रही है। बात, ख्यात, पीढी, वंशावली, टीका, वचनिका, हाल, पट्टा, बही, शिलालेख, खत आदि के माध्यम से समाज के संघर्षपूर्ण तत्वों, सौन्दर्य-भावनाओं, सृजनात्मक प्रवृत्तियों तथा अन्य कितने ही कार्य-व्यापारों का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त स्थानीय राज्यों में राजकीय कार्यों के लिए भी बहुत समय तक इसी भाषा का प्रयोग होता रहा है जिससे हमें भाषा की जीवन्त शक्ति और समाजसापेक्ष अभिव्यक्ति-क्षमता का सहज ही अनुमान हो सकता है।

इस विविधतापूर्ण गद्य साहित्य में बातों का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। कीट-पतंग और पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधों से लेकर महान् ऐतिहासिक घटनाओं, इतिहास प्रसिद्ध पात्रों, प्रेम-गाथाओं तथा पौराणिक आख्यानों तक को इन बातों में स्थान मिला है।

ऐसी हजारों छोटी-बड़ी बातें उपलब्ध हो सकती हैं, जिनमें कई बहुत छोटी और कई इतनी बड़ी कि उनका लिपिबद्ध रूप सैकड़ों पृष्ठों में जाकर समाप्त हो। बातों के इस विशाल साहित्य को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे बातें जिनका लिपिबद्ध स्वरूप बन गया है और जिनकी भाषा-शैली में स्थायी रूपगत विशिष्टता प्रकट होती है। दूसरी बहुत बड़ी संख्या उन बातों अथवा लोक-कथाओं की है जिनका कोई एक शैलीगत रूप लिपिबद्ध नहीं हो सका, पर वे अभी तक लोगों की जबान पर ही हैं।

स्थानीय प्रभावों के कारण उनमें अधिक विभेद पाया जाता है और लिपिबद्ध बातों में जहां घटनाओं का एक रूढ़ रूप परिपाटी से चला आया है वहाँ इन बातों में परिवर्तन के लिए सदैव गुंजाइश रहती है। बातों की रचना-प्रणाली पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

लिपिबद्ध बातों का यही स्वरूप प्रारंभिक स्वरूप नहीं था। प्रारम्भ में इनका स्वरूप भी मौखिक ही रहा होगा, जैसा कि अन्य कितनी ही बातों का मिलता है। पर कालांतर में याद करने की सुविधा तथा संरक्षण के लिए प्रसिद्ध बातों को लिपिबद्ध रूप मिलता चला गया। लिपिबद्ध होने के पहले तो उनमें कई परिवर्तन हुए ही, पर लिपिबद्ध होने के पश्चात् भी समय-समय पर उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। इन बातों के इस रूप तक पहुंचने में कई कथा कहने वालों की सूझ-बूझ तथा वर्णन-रुचि का सम्मिश्रण है। कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिलता है कि किसी एक बात की घटनाओं का किसी अन्य बात के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। यहाँ तक कि ढोला-मारू की कथा के साथ नल-दमयंती का कथा तत्व भी कई प्रतियों में मिलता है। कथाओं के मूल रूप में इसी प्रकार की कई घटनाओं और पात्रों का संयोग असंभव नहीं जिनके सम्मिश्रण से अंततः बातों का उपलब्ध रूप बन सका और यही रूप अब समाज में मान्य हो गया है। ये बातें समाज की छोटी-बड़ी घटनाओं पर भी आधारित हैं, कपोल-कल्पित भी हैं और कई पौराणिक कथाओं के सहारे भी चली हैं। इन बातों की प्राचीनता के कारण अब यह कहना बहुत कठिन है कि किस बात में कितना मिश्रण हो जाने से उसका यह रूप बना। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली बातों का गम्भीर अध्ययन करने पर इस रचना-प्रणाली का आभास अवश्य मिल सकता है क्योंकि इतिहास की कसौटी पर आने से इनमें निहित सत्य और कल्पना के अंश को परखा जा सकता है।

इन बातों का विषयगत वर्गीकरण मोटे तौर पर निम्न लिखित रूप में किया जा सकता है—

१—पौराणिक
२—ऐतिहासिक
३—वर्णनात्मक
४—सामाजिक

५—वीर भावात्मक
६—शृंगारिक और प्रेम सम्बन्धी
७—नीति सम्बन्धी
८—धर्म, व्रत तथा देवी-देवताओं सम्बन्धी

वात साहित्य इतना विस्तृत तथा विविधतापूर्ण है कि उसका पूर्ण वैज्ञानिक वर्गीकरण करना संभव नहीं। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक वात की प्रमुख विशेषता को ध्यान में रख कर ही उसे वर्ग–विशेष के अंतर्गत लिया जा सकता है। वैसे शृंगारिक वातों में भी प्राय: वीरता का पुट, वर्णन की खूबी तथा अन्य कई नीतिपरक विवेचन मिल सकते हैं। प्रस्तुत संग्रह की 'ढोला मारू' वात को पढ़ने से यह तथ्य स्पष्ट हो सकता है।

इन वातों की कुछ सामान्य विशेषताओं पर विचार करते समय सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि मूल रूप से इन वातों का निर्माण कहे जाने के लिए हुआ है। इसलिए लिपिवद्ध होने के वावजूद भी उनकी वह शैलीगत विशेषता आदि से अंत तक देखने को मिलेगी। वर्णनों की अधिकता, भाषागत प्रवाह, वार्तालापों में निहित नाटकीयता और पद्यवद्धता आदि तत्वों का निर्वाह इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है।

वात का प्रारम्भ भी विशेष ढंग से किया जाता है। कथा कहने वाला एका–एक कथा प्रारम्भ न करके पहले-पहल उसकी भूमिका कुछ पद्यों के माध्यम से बाँधता है। ये पद्य प्राय: उस देश की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं के बारे में होते हैं जिसके साथ नायक–नायिका का सम्बन्ध होता है, या फिर वात की प्रशंसा में ही कुछ पद्य कहे जाते हैं—

वात भली दिन पाधरा, पैंडे पाकी बोर।
घर मोंडळ घोड़ा जणै, लाडू मारै चोर॥

*

कोई नर सूता, कोई नर जागै।
सूतोड़ां री पागड़ियां, जागता ले भागै॥

*

सार बावा सार, माता सा धोड़ला।
दूबळा सा टार॥

*

वातां हन्दा मामला, दरियां हन्दा फेर।
नदियां वहै उतावळी, फिर घिर घालै घेर॥

*

वात में हुंकारो, फौज में नगारो।
जीवै वात रो कहणवाळ, जीवै हुंकारा रो देणवाळ॥

फिर कहेंगे—रामजी घणा दिन दे, उज्जीण नगरी में देवसरमा नामे बिरामण रहे आदि-आदि।

कई हस्तलिखित वातों की प्रतियों में ये प्रारम्भिक अंश लिखे हुए नहीं मिलते क्योंकि उनका प्रयोग प्रायः बात कहने वाले की अपनी रुचि पर निर्भर करता था। पर वातों के शिल्प को पूरी तरह समझने के लिए इन अंशों को जानना आवश्यक है।

इन वातों में वर्णनों की खूबी बहुधा पाई जाती है। अधिकांश वातों का प्रारम्भ भी वर्णन से ही होता है चाहे वह पद्य में हो या गद्य में। वातों के बीच में तो जहाँ भी अवसर मिला है वहीं प्रकृति की अनुपम छटा, नगर की विशालता एवं संपन्नता, दुर्ग की अभेद्यता, युद्ध की भयंकरता, वीरों का रण-कौशल, हाथी-घोड़ों के लक्षण, नायिका का राशि-राशि सौन्दर्य, उसके शृंगारिक उपकरण, विरह की सुकोमल भावनाओं का उद्वेलन और मिलन की सुखद घड़ियों का वर्णन अलंकृत शैली में जम कर किया गया है। ये वर्णन इतने सजीव और मार्मिक हैं कि पाठक के कल्पना-पटल पर सजीव चित्र उपस्थित कर देते हैं। इसीसे अपेक्षित वातावरण की सृष्टि होती है जिससे हमारी भावनाओं का तादात्म्य सहज ही उस काल के साथ हो जाता है। वर्णनों का आधिक्य कथा की प्रगति में अवश्य शिथिलता ला देता है पर उनकी सजीवता ही पाठक अथवा श्रोता को ऊबने नहीं देती।

इन वर्णनों में उपमाओं, दृष्टांतों और उत्प्रेक्षाओं एवं अतिशयोक्तियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपमाओं में रूढ़ उपमानों के अलावा कितने ही मौलिक उपमान भी प्रयुक्त हुए हैं जिनमें स्थानीय विशिष्टताओं की खूबी (Local Colour) अद्भुत नवीनता और ताजगी के साथ प्रकट हुई है।

वार्तालापों में भी गद्य के साथ पद्य का प्रयोग मिलता है। कई कल्पित कथाएँ तो पूरी की पूरी पद्य में ही मिलती हैं। ये पद्यांश वर्णनात्मक भी हैं और भावनात्मक भी जिसमें दूहा, सोरठा, गाथा, सवैया, चंद्रायण, गीत आदि छंदों का प्रयोग अधिक हुआ है। इनका काव्य-सौष्ठव, वयणसगाई के निर्वाह, अलंकारों की खूबी और भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ मौलिक सूक्तियों से निखर उठा है। किसी एक वात के कुछ पद्यांश थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ किसी अन्य वात में भी दिखाई दे जाते हैं, यह इनकी परिवर्तनशील रचना-प्रणाली के ही कारण है। गद्य और पद्य का यह मिश्रण एक दूसरे के पूरक के रूप में दिखाई पड़ता है। कई वातों में तो यह पद्य वाला भाग भी इतना पूर्ण और प्रभावोत्पादक है कि यदि इनके सूत्र को हटा लिया जाय तो पूरी वात विच्छिन्न गद्य-खंडों के रूप में रह जाएगी।

सभी वातों के कथानक तत्कालीन समाज की भित्ति पर चित्रित हुए हैं इसलिए इनमें देशकाल का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। विभिन्न प्रकार और समय की वातों के अध्ययन से तत्कालीन समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों की जो महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है वह तथाकथित लिखित इतिहासों में उपलब्ध नहीं होती। प्रदेश का सामाजिक इतिहास

लिखने में इस सामग्री से मिलने वाली सहायता का महत्व असंदिग्ध है। मध्यकालीन राजस्थान के बहुत बड़े समाज का चित्रण इन बातों में हुआ है। यहाँ की शासन-प्रणाली, जागीर-प्रथा, जातीय-व्यवस्था, कलात्मक सृजन, साहित्यिक वातावरण, आमोद-प्रमोद, नैतिक मूल्य, भाग्यवादिता, रूढ़ि-निर्वाह और जीवन-सिद्धांतों का बड़ा वैविध्यपूर्ण और सर्वांगीण चित्र इन बातों के माध्यम से अंकित हुआ है।

सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका में ही अपेक्षित सत्य की सांकेतिकता अपने जीवन्त और पूर्ण रूप में प्रकट हो सकी है जिससे कथानक के शिल्प में देशकाल की विशेषताएँ अपने पूर्ण औचित्य के साथ प्रकट होती हुई प्रतीत होती हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन बातों की शैली में लम्बे समय से परिवर्तन और परिवर्द्धन होते आए हैं, फिर भी उनकी अपनी निश्चित शैलीगत विशेषताएँ अवश्य हैं।

आधुनिक कथा-साहित्य की शैली से इनकी शैली में बहुत भिन्नता है। आधुनिक कहानी के विकसित रूप में जो लेखक के व्यक्तित्व की निहिति, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जीवन-यथार्थ का उद्घाटन करने वाला शिल्प-नैपुण्य और कथा तत्व की गतिशीलता आदि गुण दिखाई देते हैं—वे चाहे इन बातों में न हों पर वर्णनों की सजीवता, औत्सुक्य का निर्वाह, लयात्मक भाषा में काव्य का-सा आनन्द और सामाजिक सत्य की सहज अभिव्यक्ति आदि कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण सैकड़ों वर्षों से इन कथाओं का समाज में महत्व रहा है।

इन बातों की कथा के विकास में स्थान-स्थान पर ऐसी घटनाओं का आगमन हुआ है जिससे नायक अथवा नायिका की उद्देश्य-प्राप्ति में निरन्तर विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। एक विघ्न के हटने पर जब कुछ आशा बंधती है तो दूसरा विघ्न उपस्थित हो जाता है। विघ्न उपस्थित करने वाली इन घटनाओं का आगमन इस तरह करवाया जाता है कि औत्सुक्य का निर्वाह बराबर होता रहता है।

इन घटनाओं व पात्रों की अवतारणा में भूत-प्रेत, शकुन, स्वप्न, देवी-देवता, जादू-टोना आदि कितनी ही अलौकिक बातों का समावेश मिलता है। स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधे भी पात्रों के रूप में उपस्थित हुए हैं जिनके साथ वार्तालाप हुए हैं। पक्षियों के साथ तो पूर्ण विश्वास करके नायिकाओं ने अपनी प्रेम-विह्वल वाणी में प्रिय को सन्देश भेजे हैं। कोकिल, कीर, भ्रमर और बादल के अतिरिक्त कुरजां ने भी विरहणी की पीड़ा को पहचान कर उसका कार्य किया है। अपने पंखों पर पाती तक लिख डालने की स्वीकृति दी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन बातों में मानव-हृदय का शेष सृष्टि के साथ बहुत सहज रूप में तादात्म्य स्थापित हुआ है। प्रकृति के साथ मानव-भावनाओं का सीधा आदान-प्रदान एक बहुत बड़ी विशेषता है जिससे भावानुभूतियों को अधिक विस्तार मिल सका है।

बातों में नाटकीयता लाने के लिए कथोपकथनों का प्रयोग हुआ है। कई कथोपकथन बहुत छोटे हैं तो कई बहुत बड़े। गद्य और पद्य दोनों के माध्यम से इनका प्रयोग हुआ है। पद्य में प्रायः वे कथोपकथन मिलेंगे जिनमें भाव-पूर्ण निवेदन अथवा व्यंग होगा। इनसे पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन में तथा कथा-सूत्र की प्रगति में सहयोग मिलता रहा है तथा कथा में रोचकता, सजीवता और भाव-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता आ गई है।

जहाँ तक कथा-तत्व का सम्बन्ध है, इनमें मुख्य कथा के अतिरिक्त छोटी-बड़ी अन्य सहायक कथाओं का भी प्रयोग मिलता है। प्रासंगिक कथा में भी कई बार दूसरी कथा आ जाती है और कई कथाओं का क्रम तो एक दूसरी कथा में से निकलता ही चला जाता है। राजा भोज से सम्बन्ध रखने वाली कई कथाओं में इस तरह का तारतम्य मिलेगा। ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कई कथाओं में छोटी-बड़ी कथाएँ जिनका एक दूसरी से विशेष सम्बन्ध नहीं है, मिल कर नायक की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं।

उपरोक्त शैलीगत विवेचन में यह बात भी ध्यान देने की है कि कथानक के कई स्थलों पर पद्य में कही हुई बात श्रोताओं अथवा पाठकों की सुविधा के लिए फिर से गद्य में दोहराई जाती है पर वर्णन-शैली की रोचकता के कारण पुनरावृत्ति दोष दिखाई नहीं पड़ता।

इन बातों की भाषा पुरानी राजस्थानी है पर समय के दौरान में भाषा का रूप निरन्तर बदलता गया है। इन में प्रयुक्त भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी सहजता और सजीवता है। वर्णनात्मक स्थलों पर इतनी सशक्त भाषा का प्रयोग हुआ है कि सहज ही में चित्र उपस्थित हो जाता है। वार्तालापों में प्रायः पात्रों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग मिलता है। यहाँ तक कि कई बातों में तो मुसलमान पात्रों के मुँह से उर्दू अथवा फारसी मिश्रित भाषा प्रयुक्त हुई है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन बातों की मूल प्रकृति कहे जाने की है, अतः भाषा में भी उनके अनुरूप लयात्मकता, रवानगी और सहजता है। भाव और वस्तु-वर्णन दोनों ही में भाषा की यह अभिव्यक्ति-क्षमता अपने औचित्य के साथ दृष्टिगोचर होती है। जन-मानस के साथ इन बातों का बहुत नजदीक का सम्बन्ध है इसलिए जन-मानस की भाव-निधि को वहन करने की क्षमता इनकी सहज विशेषता है। डिंगल अथवा राजस्थानी के अतिरिक्त शुद्ध संस्कृत तथा अरबी फारसी के शब्दों का भी सम्मिश्रण हुआ है। मध्यकालीन राजस्थान पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव रहने से विदेशी भाषा का यह प्रभाव स्वाभाविक ही है। अरबी फारसी के कुछ शब्द तो राजस्थानी में घुलमिल कर एक हो गए हैं और उनका आज भी प्रयोग होता है।

इन बातों की समाज को बहुत बड़ी देन रही है। प्राचीन काल में जब शिक्षा और ज्ञान अर्जित करने के लिए आज की सी व्यवस्था न थी तो समाज को बहुधा

आवश्यक ज्ञान इन्हीं बातों के माध्यम से दिया जाता था। जनता तथा शासक वर्ग के संस्कारों का निर्माण करने में इन बातों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। प्राय: कथा कहने वाले सन्ध्या के समय कामकाज से निवृत्त होकर जब कथा कहने बैठते थे तो धीरे-धीरे श्रोतागण एक कल्पना लोक में खो जाते और जहाँ बीच-बीच में रोचक वर्णन अथवा काव्य की पंक्ति आती वहाँ वाह-वाह की झड़ी लग जाती और कथा कहने वाला दूने जोश से कथा कहने लगता। इससे श्रोताओं का मनोरंजन तो होता ही था पर जाने-अनजाने वे कितने ही जीवन मूल्यों को भी ग्रहण करते थे। ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से इतिहास के ज्ञान के साथ-साथ आदर्श पुरुषों की चारित्रिक विशेषताओं का परिचय होता था। नीति संबंधी बातों से व्यवहारिक ज्ञान और प्रेम-संबंधी बातों से प्रेम का अलौकिक आदर्श ग्रहण होता था। पौराणिक बातों से आध्यात्मिक उन्नति के तत्व ग्रहण किये जाते थे। पौराणिक बातों से आध्यात्मिक उन्नति के तत्व ग्रहण किये जाते थे। इस प्रकार ये बातें युगों-युगों से अपने नाना रूपों में जन-मानस को ज्ञान की गरिमा से विभूषित करती रही हैं।

अलौकिक तत्वों का प्रवेश व अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन देख कर इन्हें कोरी कपोल-कल्पित गप्पें समझ कर टाल देना बहुत बड़ी भूल होगी। इन बातों का सामाजिक मूल्यांकन करते समय इनसे व्यंजित होने वाले सत्य को ही ग्रहण करने की आवश्यकता है, क्योंकि वही इनकी उपादेयता है और इसी में इनकी सार्थकता भी निहित है। यहाँ के मानव की परिवर्तनशील सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं को जानने का बहुत बड़ा साधन तो यह साहित्य है ही, इसके अतिरिक्त शाश्वत सत्य का उद्घाटन करने वाली कथाओं का सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक प्रभाव सदैव बना रहेगा, इसमें भी कोई संदेह नहीं।

सुन्दर अक्षरों में लिपिबद्ध की हुई और रंगीन कपड़ों की जिल्दों में बंधी हुई प्रेम-कथाओं को कितने प्रेमियों ने विरह के एकान्त क्षणों में पढ़ा होगा? ढोला और मरवण के वार्तालाप कितनी प्रेमजन्य सुकोमल भावनाओं को उद्वेलित कर सके होंगे? विकराल काल के चिर पाश में बंधे हुए मानव ने इनकी अलौकिक कल्पना में खोकर कितनी बार उन्मुक्तता की सांस ली होगी? इस पर विचार करें तो बातों की अद्भुत महत्ता का आभास सहज ही हो सकता है।

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि शताब्दियों से समाज की नानारूपेण प्रवृत्तियों और समस्याओं का इतना बृहत् तथा जीवंत चित्र प्रस्तुत करने वाली बातों के साहित्यिक महत्व पर अभी तक गम्भीरता से विचार नहीं किया गया। राजस्थानी गद्य की विविधता और उसके विकास को समझने के लिए इनसे बढ़ कर अन्य साधन शायद ही उपलब्ध हो। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्व असंदिग्ध है। राजस्थानी काव्य के शोध कार्य में भी इनसे यथोचित सहायता मिल सकती है। क्योंकि कितनी ही काव्य-रूढ़ियों के साथ परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप में इनका संबंध जुड़ा हुआ है। भारतीय कथा-साहित्य के आपसी संबंधों को जोड़ने वाले सूत्रों एवं प्रभावों को भी इनके माध्यम से सहज ही ग्रहण

लिया जा सकता है, क्योंकि कई बातों के विभिन्न स्वरूप अलग-अलग प्रांतों में भी उपलब्ध होते हैं।

आधुनिक राजस्थानी साहित्य के नव-निर्माण में जहां कविता अपनी नवीन अभिव्यक्ति-क्षमता ग्रहण कर चुकी है वहां कथा साहित्य के क्षेत्र में भी प्रयोग होने लगे हैं। पर आधुनिक गद्य-रचना में मौलिकता और सहज साहित्यिक गांभीर्य लाने के लिए प्राचीन बात साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन आवश्यक है। ऐसा किए बिना हम अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पोषित शिल्पगत विशेपताओं और भाषागत सशक्त परम्पराओं से लाभ नहीं उठा सकेंगे और जिसके बिना हमारा साहित्य स्थानीय विशेपताओं को आत्मसात कर, विश्वास के साथ आगे नहीं बढ़ पाएगा।

बातों का ऐतिहासिक मूल्य

पिछले दो दशकों में राजस्थानी गद्य की अनेक विधाओं पर प्रकाश पड़ा है। इन विधाओं में बात-साहित्य सबसे विस्तृत व अनेक दृष्टियों से महत्व रखने वाला है।

स्वाधीनता से पहले डॉ० टैसीटरी तथा सूर्यकरण पारीक व रामदेव चोखानी आदि ने इस साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। टैसीटरी ने जोधपुर व बीकानेर के कतिपय ग्रन्थों के सर्वेक्षण में अनेक बातों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये थे। परन्तु स्वाधीनता के पश्चात राजस्थानी शोध-संस्थान, चौपासनी, साहित्य संस्थान, उदयपुर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर और अन्य छोटी-मोटी संस्थाओं व व्यक्तिगत प्रयासों से न केवल अनेक बातें प्रकाश में आई हैं, अपितु हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में सैंकड़ों की संख्या में विविध बातों का संग्रह भी हुआ है।

पहले जहाँ इतिहास की खोज व अध्ययन के लिए केवल राजस्थानी ख्यातें ही महत्वपूर्ण मानी जाती थीं वहाँ अब बात, विगत, हकीकत व रुक्के परवानों आदि का भी महत्व स्वीकार किया जाने लगा है क्योंकि इतिहास केवल शासकों के सन्धि-विग्रह और चढाइयों तक ही सीमित न रह कर समाज की नाना प्रवृत्तियों और उनमें परिवर्तन लाने वाली प्रेरक शक्तियों का परिचय प्राप्त करना भी अपना उद्देश्य समझता है। वास्तव में जनजीवन के समीप पहुँचने और पूरे समाज की गतिविधियों को समझने-जोखने का यही सही रास्ता है।

इस प्रकार बात-साहित्य का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है और इतिहास व साहित्य की खोज व समझ एक दूसरे के पूरक हो गये हैं।

इस विशाल एवं विविधतामय बात-साहित्य में दो प्रकार की बातें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। कुछ बातें तो विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक हैं जिन में इतिहास-पुरुषों अथवा कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तान्त मिलता है। ये बातें वास्तव में यहाँ के राजवंशों को लेकर लिखी गई ख्यातों की पूरक हैं। यद्यपि ख्यातों में शासकों के जन्म, युद्ध-विग्रह, विवाह, सन्तति आदि का विस्तृत व्यौरा संवत आदि सहित अंकित मिलता है परन्तु इसके बावजूद भी उनके जीवन की कई महत्वपूर्ण घटनाओं और चारित्रिक विशेषताओं से

सम्बन्धित वृत्तान्त उनमें नहीं आ पाते हैं और उनके भाई-भतीजों तथा सामन्तों आदि द्वारा उस काल की राजनीति में निभाई गई भूमिका आदि की विस्तृत जानकारी अंकित करने के लिये वहां स्थान नहीं रहता। ऐसे विशिष्ट वृत्तान्त ऐतिहासिक बातों में ही प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से 'परम्परा' में प्रकाशित 'ऐतिहासिक बातां' शीर्षक विशेषांक अवलोकनीय है।

दूसरी बातें सामाजिक कही जा सकती हैं जिनमें मध्यकालीन राजस्थान के समाज की विभिन्न प्रवृत्तियां अपने जीवन्त रूप में चित्रित हैं। इन बातों में प्रेमकथाओं की संख्या बहुत बड़ी है। इनके अतिरिक्त सेठ साहूकारों, बनजारों, गूजरों व किसानों से सम्बन्धित बातें भी मिलती हैं। यह सब बातें मिल कर मध्यकालीन राजस्थान के समाज का एक चित्र प्रस्तुत करती हैं। राजाओं, सामन्तों, वणिकों व निम्न स्तर के समाज की जानकारी हमें इनसे मिलती है।

कथाओं का इतना विस्तृत क्षेत्र होते हुए भी कथाकारों का मन विशेष रूप से वीर गाथाओं और प्रेम गाथाओं में रमा है जो उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियां होने से पद्य-साहित्य में भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं परन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि वीरता और प्रेम उनके प्रमुख विषय होते हुए भी उनमें समाज की अनेक मान्यताएँ स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई हैं। वीर गाथाओं में जहां वीरों की कर्तव्यबद्धता, स्वामिधर्म, गौ-ब्राह्मण, रक्षा, मन्दिरों की रक्षा, धरती का प्रेम और स्त्री के मान की रक्षा आदि सिद्धान्त साकार हो उठे हैं वहां उनके क्रिया-कलापों में अस्त्र-शस्त्रों, अश्व की विशेषताओं, रण-वाद्यों, युद्ध के तौर-तरीकों, दर्पोक्तियों, परम्परागत जातीय मान्यताओं, शौर्य को प्रकट करने वाली काव्योक्तियों आदि की बहुलता भी मिलती है जो उस समाज की जीवन-शक्ति को ही प्रकट नहीं करतीं, हमारी संस्कृति के उत्थान व पतन की अनेक उलझनों पर भी प्रकाश डालती हैं। इन उलझनों में यहां की शासकीय जातियों के आपसी संघर्ष के कारणों पर जहां प्रकाश पड़ता है वहां उनकी मानसिक स्थितियों को समझने का अवसर भी मिलता है, जिनमें उनकी अदूरदर्शिता, पग पग पर नीति को विचलित करने वाली कुलाभिमान की मरोड़ और एक दूसरे को नीचा दिखाने की लालसा आदि घातक प्रवृत्तियाँ भी शामिल हैं। इन संघर्षों में शासकों व सामन्तों के अलावा साधारण राजपूतों व भील, मीणा, गूजर, जाट आदि लड़ाकू जातियों का चरित्र भी अनेक प्रसंगों में व्यक्त हुआ है।

इन बातों में सबसे बड़ी बात यह भी प्रकट होती है कि उस समय का जीवन कितनी अनिश्चितताओं में पलकर भी बाह्य शक्तियों से लोहा लेता रहा और समझौते से अधिक उन्होंने अपनी संस्कार जन्य शक्ति पर भरोसा किया, यही भरोसा आगे जाकर अंग्रेजी शासन काल में ह्रास को प्राप्त हो गया।

जहां तक प्रेम-कथाओं का सम्बन्ध है, वे उस संघर्षशील समाज को रसमय बनाने का साधन रही हैं। एक ओर वीरों ने नारी के शील और मर्यादा की रक्षा के लिये जहाँ हर सम्भव जोखिम उठाया है, वहां उसने उसका जी भरकर उपभोग भी किया है।

संकटापन्न परिस्थितियों में जीवन कितना मूल्यवान और मधु की एक एक बूंद के लिए तृपित हो उठता है उसका जीवन्त प्रमाण हैं ये वातें।

इन में स्त्री-समाज की अनेकविध जानकारी प्राप्त होती है, जैसे—वालविवाह प्रथा, वहुविवाह प्रथा, अनेक पत्नियों में से किसी एक पत्नी से विशेष प्रेम, पर्दा-प्रथा, दहेज, सौतिया डाह, आभूषणों के प्रति मोह, सती प्रथा आदि।

परन्तु इन सामान्य तथ्यों के अलावा नारी की पराधीनता, समाज में उसका एकांगी स्वरूप और रूढ़िवादिता से जकड़ा हुआ उसका भाग्य भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

पुरुष ने नारी सौंदर्य के उपभोग के अनुरूप ही उसके सौंदर्य का बखान भी किया है और उसमें यहां की सौंदर्यगत धारणाओं के साथ स्थानीय उपमाओं और वातावरण का वहुत सुन्दर सामंजस्य हो गया है। इन वातों में सबसे महत्व का तथ्य जो विना किसी लाग-लपेट के प्रकट हुआ है वह यह कि प्रेम की उत्कृष्टता के आगे जाति और समाज के सभी वंधन टूटते हुए नजर आते हैं यहाँ तक कि ऊँच-नीच का भेद भाव भी उनके बीच खड़ा रहने में अपने को असमर्थ पाता है। रूढ़िवादी समाज ने भले ही इस प्रकार की घटनाओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा हो पर वातकारों ने उन्हें इस कलात्मक खूवी के साथ प्रस्तुत किया है कि उनका महत्व इतना समय वीत जाने पर भी वना हुआ है और ये वातें समाज के हर वर्ग में पढ़ी-सुनी जाती रही हैं।

जलाल वूवना, वीरमदे सोनगरा आदि वातों में मुस्लिम समाज की मान्यताओं का भी अच्छा चित्रण हुआ है तथा इन वातों से दोनों संस्कृतियों के एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों व संस्कारों के निर्माण आदि की जानकारी भी पाठकों को होती है।

इन वातों की विषय-वस्तु का चयन केवल राजस्थान तक ही सीमित नहीं है अनेक वातें सिंध, पंजाव, मध्यप्रदेश व गुजरात आदि भू-भागों की घटनाओं से ली गई हैं और वे अव यहाँ के साहित्य और संस्कृति में इतनी घुल मिल गई हैं कि उन्हें अलग करके देखना सम्भव नहीं है। मूमल महेन्दरा, सोनी महीवाल, वींझा सोरठ आदि वातें इसी श्रेणी की हैं। इन वातों में इन प्रान्तों की संस्कृति और भाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं वात-साहित्य का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जाय तो इन में अनेक वातों के सम्वन्ध-सूत्र प्राचीन भारतीय कथा साहित्य से भी जोड़े जा सकते हैं और मध्यकाल में हमारी सांस्कृतिक एकता में इस प्रकार के साहित्य ने जो भूमिका निभाई है उसके वड़े दिलचस्प और उपादेय उदाहरण देखे जा सकते हैं।

वीर-रसात्मक और प्रेम सम्वन्वी वातों के अलावा धार्मिक, नीति सम्वन्वी और पौराणिक कथाओं की भी राजस्थानी में कमी नहीं है और उनका प्रचलन भी जनजीवन में शताब्दियों से रहा है। इस विशाल वात-साहित्य का अध्ययन वड़ी सूझ-वूझ का काम है।

प्रारम्भिक आवश्यकता इस वात की है कि यह समूचा साहित्य प्रकाशित किया जाय, परन्तु ऐसा करते समय संशोधक के लिए यह वात पूर्णतया ध्यान में रखने योग्य है

कि इन वार्तों की प्रतियां अनेक संग्रहालयों में विद्यमान हैं, उनका समुचित प्रयोग कर वार्तों के प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किये जावें और आवश्यकतानुसार पाठान्तर आदि लगाये जावें। कुछ वार्तों के छोटे और बड़े संस्करण भी मिलते हैं उनके अंतर को भी सकारण स्पष्ट किया जाय। इस प्रकार का प्रामाणिक कार्य ही समाजशास्त्रीय अध्ययन और हमारी साहित्य परम्परा के अनुशीलन के लिए आधारभूत सामग्री का काम दे सकता है, वरना इन वार्तों को खण्डित, अस्पष्ट अथवा परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करने से न केवल इस मूल्यवान साहित्य के साथ अन्याय होगा अपितु आगे आने वाली पीढ़ियों को भ्रम में डालकर हमारी संस्कृति के सही मूल्यांकन से उन्हें वंचित करना होगा।
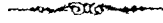
राजस्थानी गद्य रौ विकास

राजस्थानी गद्य री प्राचीनता बाबत अधिकारी विद्वानां में दोय राय कोनी पण चालतै गेले पंचायती करण वाळा लोग केई वार औ वातावरण बणावण री कोसीस करता रह्या है कै राजस्थानी रौ पद्य तो सांवठौ नै सबळौ है पण गद्य साव माड़ो नै बोलचाल चीठी-पत्री तक ही सीमित है। आ बात घणकरी वार हिन्दी सूं राजस्थानी री भणाचावती तुलना कर नै पण कहीजी। राजस्थानी रा सावचेत पाठक इण बात सूं भी अपरिचित कोनी कै राजस्थानी में जूनी बातां, ख्यातां नै विगतां रौ अखूट भंडार है नै ज्यूं ज्यूं पुराणी पोथियां सांमी आवै गद्य रा अेक-अेक सूं नांमी गिरांमी नमूना देखण नै मिळै।

राजस्थानी गद्य री सरूआत १४ वीं शताब्दी सूं ही मानीजै। इण प्राचीनतम गद्य नै संवारण में सिरै नांम जैन विद्वानां रौ आवै। जैन धर्म रै प्रचार खातर अै विद्वान राजस्थान अर गुजरात में बराबर घूमता फिरता रह्या है। इण वखत तक अपभ्रंश नै प्राकृत भासा रौ चलण भी कमजोर होवण लाग्यौ जिण सूं वे आपरा जनभासा में देवता नै पुराण ग्रंथां री टीकावां पण जनभासा में करता। केई लोग संस्कृत रा भी विद्वान हा अर गुरु सिस्य परम्परा सूं वां संस्कृत साहित्य रौ पंडिताऊ ग्यांन भी अंगेजियो। इण कारण वां संस्कृत रा मानीता कवियां री रचनावां री टीकावां भी की। जैसलमेर भंडार में जिकी जूनी पोथ्यां मिळी है वां में इण तरै रा निरा ग्रंथ है। कवि काळीदास रै संकुतळा नाटक रै मंगळाचरण री टीका रौ इणां में एक नमूनौ इण मुजब है—

ईशु भणी महेश्वरो, तेहणी जिच्छइ प्रत्यक्ष सौम्य आह। तनु मूर्ति तो यह करी युष्मा कं अवतु को रक्षतु। की दशा ता अष्ट मूर्तियो। स्रष्टु भणीजइ ब्रह्मा तेह तणीय आध सृष्टि जल रूपिणी। स ईश्वर तणी मूर्ति प्रथम त्रिलोक माहि ब्रह्मा सर्व पदार्थ निर्मापितउ हताउ।

आ टीका १४ वीं शताब्दी री मानीजै।

इण साहित्य रै अलावा इण समै री लघु कथावां ओखाणां वगैरा भी मिळै। इण ओखाणां रै मूळ रूप में जावण सूं मालम पड़ै कै प्राकृत नै अपभ्रंश सूं अै ओखाणां

किण तरै जनजीवण रै गेलै उतर नै आपरो रूप निर्माण करियो। इण रै साथै ही राजस्थानी भासा रै विगसाव री परख नै भी दीठ मिळै।

आ तो हुई राजस्थानी गद्य री धुरापुळ सूं विगसाव री बात। औ विगसाव जनजीवण री जरूरतां मुजब बराबर विस्तार पावतो गयो नै लघु कथावां री ठौड़ बड़ी बातां लिखीजण ढूकी। ओजणां रै साथै भी केई कथावां जुड़ी। १७ वीं शताब्दी तक आवतां आवतां केई प्रेमगाथावां नै वीरगाथावां राजस्थानी में बातां रो रूप लियो जिण में ढोलामारू नै माधवानल काम कंदला जैड़ी बातां समाज में घणी प्रचारित हुई। १८ वीं तथा १९ वीं सदी में तो हितोपदेस नै संस्कृत री केई रचनावां राजस्थानी में घणी प्रचारित हुई जिकां री हजारां प्रतिलिपियां आज भी देखण में आवै। इणां में शुक बहोतरी, वैताल पच्चीसी, सिंघासण बत्तीसी नै छोटी मोटी केई नीति उपदेस री कथावां है। राजस्थानी पद्य रै साथै गद्य रो चलण भी हुयो नै केई चम्पू काव्य लिखीजिया जिका वचनिका रूप में साहित्य रै एक खास अंग रै रूप में आपरी ओळखांण बांधी। इण तरै री रचनावां री अेक खास खूबी आ है कै पद्य में जिकी भाव गरिमा है वा ही गद्य में भी देखण में आवै। गद्य पद्य सूं पिछड़ियोड़ो या कमजोर नीं लखावै।

इण प्राचीन गद्य री विगसाव नै उणरी धरोहर आज केई विधावां में मौजूद है। बात, ख्यात, पीढ़ी, वंसावली, वचनिका, विगत, पटा, हकीकत, रुक्का, परवाना वगैरा केई रूपां में गद्य व्योहार में आयो क्यूंकै अठारै जनजीवण मुजब ही उणरी विगसाव हुयो नै आ ही अठारी मूळ भासा ही। बातां, वचनिकावां नै टीकावां री साहित्यिक महत्व है नै ख्यातां, वंसावळियां, विगतां, परवानां में इतिहास री मोटी आधार है। रुक्का, हाल, अेहवाळ, हकीकत में उण वखत री सामाजिक नै आर्थिक जाणकारी भी मिळै। इण तरै इण ७००-८०० बरस रै गद्य में अठारै समाज री पूरी हलचल रो चित्रांम देखण में आवै। पद्य उण समाज री स्पिरिट री ओळख देवै तो गद्य उण समाज रै व्यवहार री कूंत नै परखण री दीठ देवै।

इण तरै राजस्थान रै अतीत नै सावचेती सूं समझण जोखण नै अंगेजण री जे कोई सही नै सांचो साधन है तो वो राजस्थानी साहित्य ही है नै उण में गद्य नै पद्य दोनां री अेकसी भूमिका है।

राजस्थानी गद्य री प्राचीनता नै उणरै विधागत विगसाव नै देखतां थकां उणरी परम्परा जे दूजी भारतीय भासावां सूं अंजसै तो इण में कोई अणूती बात कोनी।

पण औ अंजसणो जितरो सही है उतरो ही आधुनिक भारतीय भासावां में गद्य रै निरवाळै रूप री जिकी बेल वधी उण राजस्थानी नै कितरी लारै छोड़ दी आ अंगेज नेतां घणो अणखावणो लागै। औ ही सिरै कारण भी है कै आज इतरी सबळ राजस्थानी रो नांम भारत रै संविधान सूं गायब है।

गद्य रै विगसाव में औ अवरोध अंग्रेजी सासन में आयो। इण रो मूळ कारण जठै अंग्रेजां री संस्कृति विरोधी नीति ही उठै ही राजस्थान रा रजवाड़ां री वधती अळगाव नै

गुलामी री ऊंघ में जनचेतरा री कमी लखावै। पण गद्य री धारा सूखगी हुवै जिकी बात कोनी। हाल भी व्यवहार री भासा राजस्थानी ही पण हिंदी रै विगसाव सागै स्कूलां में भणाई पढ़ाई रै माध्यम रूप में हिंदी अपणाईजी। हिंदी रौ प्रवेस खास तौर सूं रिसी दयानन्द रै आंदोलन नै रजवाड़ा री राष्ट्रीय चेतना रै लगावौ सागे हुयौ। अठारा सावचेत सासकां भी उर्दू नै अंग्रेजी री जागा हिन्दी नै प्रसासन में थरपण में आपरी औकात लगाई। पण वांरी सूझबूझ इण सूं आगे जाय नै मातभासा नै अपणावण री ऊंडी अंगेज वां में कोनी आई। इण री अेक कारण हिंदी खड़ी बोली रौ उर्दू सूं नजदीकी संबन्ध है। केई वरसां री इण अैलकारी भासा नै हिंदी में सरलता सूं ढाळी जा सकती ही। पैलपोत हिंदी कचेड़ी री नै मेकमां री भासा ही बणी नै पछै स्कूलां में इण री भणाई होवण सूं इणरी आगे प्रचार हुयौ पण आ जनजीवण री भासा आज दिन भी नहीं बण सकी नै सैरी भासा रै रूप में भी पूरी विगसाव नहीं ले सकी। भणिया पढिया लोग इण में ही साहित्य रचना कर आपरी सिरजण हूंस नै भी इण में ही पूरी करता रह्या नै वाह वाही खातर उत्तर प्रदेस रा पिंडतां कांनी देखता रह्या।

वरसां री गुलांमी रै थांणां में लागोड़ी हीण भांवना री दोबड़ी भी इण रै ओलै बराबर पनपती रही नै जिकै अंग्रेजी में आपरै आंटू रौ जोर नी बता सकता हा वे हिंदी में आपरी औकात बधारता रह्या। इण तरै राष्ट्रभासा रै विगसात में इण अहिंदी प्रांत घणौ थोगो दियौ पण उणरी खुद प्रतिभा रै सही पांण मिळ सकै वा जमीन आंख्यां अदीठ होती रही। गांवाई जनता खेतां रै जावते में लागी रही नै कानून री पोथियां रै पांण रजवाड़ां रा राज चालता रह्या। आजादी रै पछै भी पड़ी रोत टोळीजती रही। राजस्थान रै अेकीकरण पछै एक रै बाद दूजी सरकार राजनीति री आपाधापी री होड में लागी रही। कीं स्कूलां वधगी नै विश्वविद्यालय प्लानां मुजब पसरग्या पण अजोगी सिक्षा ज्यूं ही उणरै माध्यम कांनी न सिरकार ध्यान दियौ न सै'री जनता। क्यूं कै आ खेचल उठावण री जरूरत जद पड़ती जद गांवाई हालतां नै सांचे मन सूं सुधारण री हूक मन में होवती नै आ हूक आतम-निरीक्षण बिना कठा सूं आवती। आ दीठ तौ गांधीजी सागे ही सीख ले ली। जद गांवाई लोग भणीजता भणीजता सै'रां में पूगा नै उणां नै सगळी सिक्षा रै बावजूद आपरी अंगेज विहूणी अटपटाई मैंसूस होवण लागी जद वां आपरी मातभूमी कांनी देखण री कोसीस करी नै आ कोसीस मातभासा री अपणास रौ कारण बणी। नतीजन लारला कीं वरसां में आधुनिक गद्य री सगळी विधावां राजस्थानी में विगसी। कां'णी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, अनुवाद बिना झिझक लिखीजण लागा। प्रकासन री असुविधा रै कारण वां रौ सांवठौ दरसाव हाल सांमी कोनी आयौ पण वां में जनजीवण री जागती छिब मिळै, इण में दोय राय कोनी। भारतीय भासावां नै विदेसां रै उपन्यासां नै कां'णियां रा अनुवाद भी इण भासा रै छेत्र री वढ़ोतरी में बराबर आपरी साझेदारी निभाय रिया है।

आज रा लेखकां रै लेखण में सबळाई दो कारणां सूं ही आसी। अेक तौ अठै रै जनजीवण रौ सांचौ नै सांवठो अनुभव नै दूजौ पुराणी वातां ख्यातां रौ अध्ययन। जन-

जीवरण रै अनुभव सूं उठै ताजगी नै प्रेरणा नै पूठ मिळगी उठै प्राचीन रचनावां रै अध्ययन सूं वांरी कलम में पुनतापांण आसी । आपरी परम्परा नै ओळखियां बिना आगली परम्परा कोनी बण सकै न वरतमान अतीत री नींव माथै खड़ी है आ बात कदेई भुलाई नीं जा सकै ।

आज आंपांरै प्राचीन गद्य री केई नांमी पोथियां प्रकास में आ चुकी है वांनै पुरांणा पोथा केयनै अेक कानी मेलण री आळस आज रै लेखक नै पूंजीहीण बणायदे आ सावचेती बराबर राखणी जरूरी है । कोरी हिंदी री पोथियां पढ नै थोड़ै घणै हेर फेर सूं रचियोड़ी बीजा लेखक रै सिरजण धरम री कदैई ओळख नीं देवै, न अेड़ी रचनावां री साहित्य में कदेई मान वधै ।

कीं लिखारा लोककथावां नै आपरी भासा में मन मुजब बांध नै छपावै सो तो ठीक पण न तो वे आज री मांग नै पूर सकै न मौलिक सिरजण रो हक ही हासिल कर सकै । लोककथावां में लौकिक तत्व री जिको निरवाळी छिब हुवै वा भी इण तरै मगसी पड़ जावै । वांरो महत्व आप तांई आपरै माळै नै सजाणो संवारणो ही है ।

ख्यात नै विगत

राजस्थानी रै प्राचीन गद्य में जठै सामाजिक नै धार्मिक गद्य री अधिकता है उठै ऐतिहासिक गद्य भी घणौ सांवठौ नै केई भांत रौ है। बात, ख्यात, वंशावळी, विगत, हकीकत, प्रस्ताव, वही, हवालो, याददास्त वगैरा केई रूपां में औ गद्य मिळै। इण सगळां में घणौ महताऊ ख्यात नै विगत साहित्य है।

ख्यात शब्द संस्कृत रै ख्याति सब्द री अपभ्रंश रूप मानीजै। किणी राज्य या राजवंस रौ विस्तृत वर्णन इणां में मिळै। मुहणोत नैणसी री ख्यात ख्यातां में घणी चावी नै इतिहास री एक पुखता ग्रंथ मानीजै। औ ग्रंथ मुहता नैणसी जोधपुर रा महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) रै मंत्री पद माथै रैतां थकां लिखियौ। इण ख्यात रै बाद में तो राजस्थान रा रजवाड़ां री न्यारी-न्यारी ख्यातां लिखीजती रही ज्यूं कै—मारवाड़ री ख्यात, दयालदास री बीकानेर री ख्यात, वूंदी री ख्यात, जैसलमेर री ख्यात, भरतपुर री ख्यात आदि। इण रै अलावा केई राजावां री भी छोटी मोटी ख्यातां मिळै जिकां में उण राजा रै राज री घटनावां रौ विस्तार सूं वर्णन मिळै।

केई विद्वानां री आ धारणा है कै बादशाह अकबर जद अकबर-नामै रौ लेखण अबुलफजल सूं करायौ जद सगळा रजवाड़ां सूं भी वांरी तवारीख जांणणी चाही, जिण सूं सगळा रजवाड़ां आपों-आप री ख्यातां तैयार करवाई। पण अकबर रै समै री लिखियोड़ी हाल तक कोई रजवाड़े री ख्यात देखण में नहीं आई। म्हनै लखावै कै पुरांणै जमानै में विधिवत ख्यातां लिखण री रिवाज तो नहीं हो पण वहियां में राज री खास घटनावां जरूर दर्ज होती जिणमें मुसदी नै चारण लोग खास तौर सूं रुची राखता, उणी जूनी वहियां रै आधार माथै नैणसी वगेरा आपरी ख्यातां तैयार करी। इण तरै री वहियां हाल भी मिळै नै उणां में आगे सूं आगे नकल होवण रौ भी हवालौ प्रतिलिपिकार देवै। चावै जिण ढंग सूं अै ख्यातां लिखी गई हुवौ इणां री महत्व इतिहास, संस्कृति नै प्राचीन राजस्थानी गद्य री दीठ सूं महताऊ है, इण में कोई दोय राय कोनी।

अै ख्यातां दो ढंग री कहीजै। प्रो. नरोत्तमदासजी स्वामी इणां रा नाम (क) संलग ख्यात नै (ग) फुटकर ख्यात दिया है।[1] पैली ख्यात री उदाहरण नैणसी री ख्यात

---

१. देखें—बांकीदास री ख्यात, सम्पादकीय भूमिका।

है जिण में किणी राजवंस री वर्णन तरतीबवार दियौ गयौ है। इणां में विस्तार पण मिळै। दूजी ख्यात बांकीदास री है जिण में ऐतिहासिक घटनावां माथै छोटी छोटी टिप्पणियां सी है। अै टिप्पणियां बांकीदास री बातां रै नांव सूं भी केई साहित्यकारां मसहूर कर राखी है पण असल में अै बातां न होनै इतिहास सम्बन्धी कुछ टिप्पा ही है जिके याद राखण नै टीप लिया गया है। म्हारै ख्याल सूं इण तरै री टिप्पणियां नै जिकों में मूलत: कोई क्रम भी कोनी ख्यात नीं कही जाणी चाहीजै क्यूं कै ख्यात री लेखण पद्धति में नै इणां मे घणों फरक है। नै सही मायनै में इणां सूं ख्यात री गरज भी कोनी सरैं। इण खातर म्हारै खयाल सूं इण भांत री सामग्री नै ऐतिहासिक याददास्त ही कही जाणी चाहीजै।

प्रत्येक ख्यात रा न्यारा-न्यारा अध्याय हुवै, जिकां नै बात कयी जावै, जैसे—बूंदी रै धणियां री बात, पारकर रा सोढ़ां री बात, जैसलमेर रा भाटियां री बात आदि। नैणसी री ख्यात में केई ठौड़ विसेस घटनावां व ऐतिहासिक व्यक्तियां नै ले नै भी बात कही गई है जिणां में इतिहास रै सागै पूरी रोचकता भी है। ख्यातां में जठै घटनावां में विक्रम संवत व तिथियां तकात दर्ज रेवै उठै साख रा जूना दूहा कवित्त गीत वगैरा भी दर्ज रेवै जिण सूं उण घटना री पुखतापणी नै सामाजिक छाप री आंकिजणी भी सांमी आवै। इण ख्यातां रै लिखारां जठै जूनी वहियां सूं मदद ली उठै केई चारणां भाटां कनै सूं बातां सुण नै भी ख्यात में दरज करी है। इणी खातर इणां री ऐतिहासिकता में केई जागां घणी निबळाई लखावै क्यूं कै वां में कठेई संवत गळत है तो कठेई पीढ़ियां रै लेखण में गड़बड़ी है तो कठेई घटनाक्रम ऊकचूक व्हैगो है अर घणकरी ख्यातां में राजवंस नै राजावां री तारीफ भी जरूरत सूं ज्यादा मिळै क्यूं कै वांनै रोचक बणावण रै फेर में जागा जागा तथ्य सूं अळगाव कर कल्पना सूं कांम लियौ गयौ है। इणी खातर ओझाजी जैड़ा इतिहास रा प्रकांड पंडितां इण ख्यातां नै इतिहास रो पूरो आधार नीं मानियौ नै उणां री घटनावां नै फारसी ग्रंथां व सिलालेखां वगैरा री कसौटी माथै परखी। पण वांरो कांम इण ख्यातां बिना भी नहीं सर सकियौ। ओझाजी खुद नैणसी री ख्यात नै घणी महताऊ बताई नै आ तकात मंजूर करी कै कर्नल टाड नै जै आ ख्यात मिळ गई होती तो उणां री राजस्थान और तरै री हांवती।

आज रै जुग में जद कै इतिहास सासकां नै सरकार व जुद्ध विग्रह री घटनावां तक ही सीमित कोनी रह्यौ उण वगत री सगळी हलचलां इतिहास री विसय बणगी जिण सूं उण वखत री सामाजिक चितण धारा नै परखण री तकाजी सांमी आयौ जिण सूं इण ख्यातां रै महत्व में उग सूं फेरूं बधोतरी हुई क्यूं कै इणां में उण समै री केई बातां री जाणकारी मिळै। राज समाज रै रैण सैण नै रीत रिवाज रै अलावा उण वखत रै सासन रो ढंग, जुद्ध रा तौर तरीका, खानपान, पैरवास, जातपांत नै वांरा काम धंधा री हवालो भी इण ख्यातां में मिळै। अठा तक कै नारी समाज री हालतां नै मान्यतावां तकात इणां में झांकती निजर आवै।

इण कारणां सूं ख्यातां समाज रै अेक महताऊ दस्तावेज रै रूप में आप री न्यारी ओळखांण राखै, वांनै सासकां री तारीफ रा पोथा कैय नै अेक तरफ राख देवणी बड़ी भूल हुवैला, खास तौर सूं वां लोगां खातर जिकै प्राचीन समाज री जांणकारी चावै नै राजस्थानी गद्य री सवळाई री जूनी साख रा दरसण करणी चावै। नैणसी री ख्यात नै दयाळदास री ख्यात ज्यूं हरएक ख्यात अेक ही लेखक री लिखियोड़ी कम मिळै पण इण सूं वां रै गद्य रौ महत्व कम कोनी हुवै क्यूं कै केई अेड़ी अनाम ख्यातां म्हारै देखण में आई है जिकां रौ गद्य घणौ सवळौ नै अध्ययन जोग है।

नैणसी री ख्यात रौ गद्य टकसाळी मानीजै। नैणसी राजस्थानी नै फारसी वगेरा भासावां रौ आछौ जांणकार हो नै उण समै राजकाज में इण दोनूं भासावां रौ ही बोल-वालो हो जिण सूं उण आपरी कलम सूं राजस्थानी रौ घणौ सधियोड़ौ नै ओपतो गद्य लिखियौ।

वाकी ख्यातां रा लिखारा भी नैणसी री सैली सूं कोई हद तक प्रभावित लागै पण नैणसी री भासा मुवावरैदार है नै उण रौ एक पृष्ठ पढतांई उण समै रौ वातावरण जीवतो-जागतो दीखण लागै। एक उदाहरण सूं ही आ बात स्पष्ट हो जासी—

'सरवहियो जेसो जागियो। ऊठ नै आंख छांटी। घोड़ां रा तंग ले नै घोड़ै चढियौ। वाग वीच आय ऊभौ रह्यौ। चारण सारी बात जेसा नूं कही। जेसे सारी बात सुणी। पछै वीरधवळ नूं पूछियो—'पातसाह किसो? मोनूं ओळखाव' तरै चारण वीर-धवळ जेसा नूं कह्यौ—'औ हाथी चढियौ पातसाह ऊभौ।' तरै जेसे चारण नूं कह्यौ—'तूं पातसाह कनै जाय मोनूं दिखाव दे। कोई थारै मांणस छुडावण रौ साजीवंध कर।"[1]

इण उदाहरण सूं स्पष्ट है कै नैणसी आपरै गद्य में ठेट पश्चिमी राजस्थानी रौ सांवठौ प्रयोग करियौ है। उण री भासा में जठै वाक्य छोटा नै तीखा है उठै वार्तालाप भी प्रभावसाली नै समै सापेख है।

राजस्थानी में ख्यात ज्यूं ही विगत रौ घणौ महत्व है। ख्यात में जठै प्राचीन राजवंसां री विस्तार सूं वर्णन मिळै विगत में किणी वंस अथवा स्थान, गांव, परगने या कोई चीज रौ क्रमवद्ध विवरौ मिळै। उण में विवरण जथातथ्य नै संखेप में हुवै। ख्यातां रै वीच वीच में भी विगत री टीपां मिळै पण स्वतंत्र रूप सूं लिखियोड़ी विगतां भी केई हैं जैसे—गढ कोटां री विगत, पाटण सहर री विगत, ढोलिये कोठार री विगत, पातसाहां री पीढियां री विगत। अै विगतां एक पृष्ठ सूं लेय केई पृष्ठां तक में लिखियोड़ी मिळै।

इण विगत विधा में भी नैणसी री लिखियोड़ी 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' घणी मोटी नै मसहूर है। इण में नैणसी महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) रै वखत रा

---

१. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग २, पृ. २००, सं. बदरीप्रसाद साकरिया।

मारवाड़ रा सात परगनां री विवरी दियौ है। नैणसी घणै लांबै समै तक मारवाड़ री दीवांणगी करी, राज रा राजस्व अधिकार केवटिया परोटिया। इतिहास रै बारै में उण री रुची हीज इण खातर इण विगत में उण प्रत्येक परगने री इतिहास दे नै हर परगने रै गांवां री तफसील खालसै, सांसण नै जागीर रै गांवां मुजब न्यारी-न्यारी कर पछै हर एक गांव री संक्षेप में विवरी दियौ है। केई परगनां में उण परगने में लागण वाळा टैक्स नै लाग-बाग वगेरा री भी सागेड़ी जांणकारी दीवी है। उण गांव री पांच बरसां री आमद भी अंकित है।

गांव री जांणकारी देतां थकां उण हर गांव री कस्बे सूं दूरी नै दिस तकात री उल्लेख कियौ है। गांव में बसण वाळी जातियां गांव एक साखियो कै दो साखियो, गांव में पांणी रा साधन, कोई खास चीज री निपज, नदी नाळा नै किणी खास आदमी री बसी वगेरा री भी वर्णन उण में है।

इण लांठै ग्रंथ में उण वखत री चोहळी नै प्रामाणिक जांणकारी मिळै। उण वखत री सैन्य संचालण पद्धती, जागीर बांटण रा तरीका, राजा नै जागीरदार नै करसां री आपसी सम्बन्ध तौ इण सूं मालम पड़ै ही है पण साथै ही इण रजवाड़ां री दिल्ली रै वादसाह सूं कांई सम्बन्ध सलूक हो औ भी आछी तरै प्रकट हुवै। किण राजा नै सरूपोत में वादशाह सूं कितरी मनसब मिळियौ अर मनसब रै बदणै रै साथै कितरी फौज बधावणी लाजमी ही तथा राजा री कुरब नै हकूक कीयां बधती अै सगळी बातां इण सूं स्पष्ट हुवै जिके बाकी रा प्राचीन ग्रंथां में खुलासै नीं मिळै।

इण विगत री अेक मोटी देण आ है कै इण सूं उण समै री प्रजा री आर्थिक हालत, व्यौपार नै खेती रा तौर तरीकां री भी केई बातां मालम पड़ै। विगत री अेक बानगी प्रस्तुत है जिणमें परगने फळोधी रै गांव आऊ री विवरी है—गांव आऊ।[1]

"फळोधी था कोस १५ ऊगण में। धरती हळवा ४००। थळी रा वडा खेत। बाजरी मोठ कपास तिल री वड़ी नेपै छै। तळाई एक मास ४ पांणी रहै। कोहर २, पुरस ५० पांणी मीठौ। थोड़ी लोग, जाट घर ८१, बीजा लोग वांणिया नै रजपूत बसै।

संवत १७१५	१६	१७	१८	१९
१४०)	२७९९)	२७५०)	४२१५)	१२४७)

मेड़तै री धरती री विगत इण मुजब आंकी है—

"परगने मेड़तै रो चक संमत १६३० कीरोड़ी कर मूळै मापियौ थौ। सु कानूंगै हरखन मंडाई। मेड़ता लारै धरती वीघा लाख २६१२६५६ तिण मांहे वाद रा पहाड़ सोर जंगळ नदी नाळा वीघा २१५४३०। बाकी जराइती लाख...... ।"

---

1. मारवाड़ रा परगनां री विगत भाग २, पृ. १६, सं. डॉ. नारायणसिंह भाटी।

इणी तरै परगने सोजत में वसूल किये जाणै वाळा टेक्स वगेरा री टीप इण मुजब है—सेरीणो, गूवरी, दुमाळो, वळ, रसत, वणियां, अरट, पांन चराई, फरोही, मिलणो, लिखावणी, तलवानो, कणवार, तागीरात आदि ।

इण तरै विगत में उण वगत री प्रसासनिक, राजस्व नै व्यवहार री घणी लूंठी नै सवळ सब्दावळी मिळै नै साथे ही आ बात भी इण सूं प्रमाणित हुवै कै पुराणै जमाने में हर प्रकार रै राजकाज रौ कांम राजस्थानी में पूरी तरै कायदे मुजब होवतौ ।

राजस्थान रा रजवाड़ा उण वखत दिल्ली री सासण व्यवस्था सूं प्रभावित हा । इण कारण अरवी फारसी री सब्दावळी रौ प्रयोग भी विगत में कठै-कठै देखण में आवै जिको स्वाभाविक ही है ।

दूजी तरै रा प्राचीन ग्रंथ तौ भारतीय भासावां में फेर भी मिळ जावै पण इण तरै रो औ ग्रंथ विरलौ ही है नै राजस्थानी खातर आ बात घणी महताऊ है कै आंपां रौ प्राचीन गद्य कितरौ विकसित हौ नै समाज री जरूरतां मुजब विकसित होवतौ रह्यौ है ।

असल में अठै रा राज काज नै समाज री भासा राजस्थानी ही रही जिकी अंग्रेजी सासनकाळ में आय नै पिछड़गी । आज भी उणरी सब्दावळी सासन नै समाज री गतिविधियां नै समझण समझावण में कारगुजार हो सकै है इण में कोई संदेह कोनी । जरूरत केवल अपणी ही चीज री अपणास री है ।

वचनिका नै दवावैत

राजस्थानी में गद्य नै पद्य रै बीचलै रास री रचनावां भी केई लिखीजी ज्यां नै चंपू काव्य भी कह्यौ जा सकै। अै रचनावां लयात्मक नै तुकांत गद्य शैली में लिखी गई है नै इणां में वर्ण्य विषय अलंकृत ढंग सूं पेस कियौ गयौ है। जिण तरै पद्य री रचना नै याद करणो आसान हुवै इणी तरै अैड़ी रचनावां नै भी याद राखण में सहूलियत रेवै नै पद्य री एकरसता तोड़ उण में नवीनता री आभास देवण रौ भी प्रयास वचनिका रै माध्यम सूं करीजै। इणी खातर राजरूपक नै सूरज प्रकास जैड़ा महाकाव्यां में भी वचनिका रा टुकड़ा मिळै।

पण वचनिका रै नांव सूं हीज राजस्थानी में आ न्यारी विधा पनपी नै उण में इण तरै रा गद्य खंडां री प्रमुख स्थान है। सिवदास गाडण कृत अचळदास खीची री वचनिका, जगा खिड़िया कृत रतन महेसदासोत री वचनिका नै जैचंद कृत माताजी री वचनिका इण ढंग री नांमी रचनावां है। इण वचनिकावां रै अध्ययन सूं मालम पड़ै कै कवि पद्य में वर्णन करतौ करतौ उण ठौड़ वचनिका माथै उतर आवै जठै वौ तथ्यगत बातां नै प्रमुखता देवणी चावै—ज्यूं कै वीरां रा नांम, वीरां रा संवाद, सेना री वर्णन, सतियां री वर्णन आदि। इण तरै वचनिका एक तरै सूं कथा नै विस्तार भी देवती चालै नै ठहराव भी। क्यूंकै इण वचनिकावां री प्रमुख विषय वीर रसात्मक है इण खातर इण तरै री शैली गत व्यंजना पाठक रै हियै में एक तरै रो समुद्र आन्दोलित करै नै वचनिका री ओळियां उण में लै'रां ज्यू तरंगित होती लागै। राजस्थानी रै इतरै विसाळ पद्य साहित्य में इणी खातर वचनिकावां री न्यारी निरवाळी नै विसेस स्थान मानीजै नै उपरोक्त वचनिकावां राजस्थानी री पैलै दर्जै री रचनावां में गिणीजै। इणां में कवि आपरै गद्य नै पद्य दोनू ही शैलियां माथै अधिकार नै प्रमाणित कर सकै है नै वस्तु वर्णन री बारीकी भी प्रकट कर सकै है।

जैन वचनिकावां इणां सूं भिन्न मानी जा सकै है क्यूंकै उणां में ओज नै कसावट री मात्रा में कमी लखावै। ज्यादातर जैन लेखकां टीका रै रूप में वचनिका लिखी है वे वचनिकावां मात्र पद्य नै अरथावण खातर है जिण सूं नांम साम्य होतां थकां ही वांरी मकसद नै रचना स्वरूप दोनूं ही भिन्न है। स्वतंत्र मौलिक रचना रै रूप में अैड़ी रचनावां नै स्थान नहीं दियौ जा सकै। भासा री द्रस्टि सूं वांरी अध्ययन उपयोगी हो सकै है।

राजस्थानी री विसाळ साहित्य हाल तक ग्रंथ भंडारां में दवियोड़ौ पड़ियौ है। इण तरै री जो भी रचनावां प्रकास में आई है उणां में तीन वचनिकावां प्रमुख है वांरौ संखेप में परिचय नै विसेसतावां इण भांत है—

अचलदास खीची री वचनिका : गाडण सिवदास रचित

आ वचनिका गागरोन रै खीची सासक अचलदास नै माळवै (मांडू) रै सुलतांन होसंगसाह रै बीच हुयोड़ै जुद्ध माथै लिखी गई है। ओ जुद्ध संवत् १४८० में हुयौ मांनीजै नै इण भयंकर जुद्ध में अचलदास वीरगति प्राप्त करै तथा राणियां सती हुवै। अचलदास मेवाड़ रै रांणै मोकळ रौ बहनोई हुवै नै रांणौ इण विपदा में मदत माथै आवणी चावतां थकां भी नहीं आ सकै इण सूं अचलदास री अेकलापै री स्थिति में थोड़ा-सा वीरां साथै जूंझणौ वतायौ गयो है। वचनिका री साख रै आधार माथै आ बात प्रमाणित मानी जावै कै कवि खुद उण मौके माथै मौजूद हौ नै आपरै स्वामी री कीरत गाथा गावण खातर ही जीवतौ रह्यौ नीतर इण महाजिग में वो आपरा प्राण होम देवतौ। उण इण जुद्ध रौ वर्णन इतरौ जीवंत नै सांगोपांग करियौ है जिण सूं भी आ वात सांच लखावै।

इण रचना में सुल्तांन री फौज रौ विसाळपणौ दरसावतां थकां कवि उण स्थिति नै घणै ओज नै गुमेज सूं चित्रांमी है। उण आपरै वर्णन में वतायौ है कै घणा गढ़ां नै जीतणौ इण सुल्तांन धकै कुण टिक सकै है, किण री मां अैड़ौ 'दूध पियौ है जो इण री तलवार रै पाणी आगै उभ्भौ रह नै झाट झेलै। आज न सातल सोम जैड़ा वीर रह्या न कान्हड़दे जैड़ा वात रा धणी नै न हमीर जैड़ा हठी पण धरती में नास्ती नहीं है क्यूंकै अचलदास खीची जैड़ौ वीरता री वरण करण वाळा गुमेज रा धणी हाल लंका सूं होड लेवणिया गढ़ ढावियां वैठौ है जिण माथै सूं निकळतौ चंद्रमा भी संकै नै ज़िणांरौ छत्री पणौ च्यारूं कूंटा में चावौ है। सुल्तांन री फौज खातर लिखियौ है—

साहण लाख न सार पैदल पार न प्रामियइ
गुड़ियइ गोरि राव-कह मई दळ सवळ अपार

कवि दोनां पखां,रौ संघरस जोर सोर सूं संखेप में वतायौ है पण साथै ही अचलदास नै उणरी रांणी पुरवा रा संवाद उण वखत री वीरतापूर्ण पृस्ठभूमि में हेम रेखां ज्यूं चमकता दीसै। जीवण नै मरण सूं इधकी मान मरजादा नै गढ नी त्यागण री भावना राजपूत समाज री परम्परागत विसेसतावां नै उजागर करै। अचलदास री राणियां रै सिवाय दूजा जोद्धावां री राणियां रौ भी उत्साह वर्णन कवि घणै उत्साह सूं करियौ है। सुल्तांन री विसाळ सेना आगै आखिर अचलदास लड़तौ लड़तौ आखतौ हो जावै जणां मर-जादा री आखरी माठ माथै आय जौहर रौ रूपक वणै जिको राजस्थानी साहित्य में एक विरळौ रूप है। रांणियां री धारणा है कै कथीर साथै सोनो कीयां मिळै, मुगळां रै हाथ में पड़ण सूं तौ प्रांणां नै पवीत्र अगनी में होमणा ही श्रेष्ठ है, औ विचार नै वे जौहर करै। उठी नै किलै रा द्वार खोल वीर केसरिया कर आखरी हाथ वतावण तळेटी में

उणरै नै घमसांण जुद्ध में लोही रा खेंगाळ वेवै। अचलदास नै एक ही चिंता सतावै कै उणरै कुळ री रक्षा खातर उण रा राजकुमार धीरज नै पाल्हणसी इण घमसांण सूं बारै निकळ जावै। इण मौके अचलदास रै हियै री उथल पुथल कवि आपरी सबळ लेखणी सूं आंकी है नै अचलदास री आंन राखतां थकां पाल्हणसी नै जुद्ध सूं विरत कियौ है। इण तरै रा प्रसंगां में एक नाटकीयता री उभार कवि घणी सावचेती नै खूबी सूं कियौ है नै पाल्हणसी रै चरित नै भी उजाळियौ है। इतरौ विध्वंस होतां थकां ही जीवते जीव अचलदास गढ नीं छोडियो—'आपण दुरग न अप्पिअइ जीवत जाइल राइ'। इण तरै जूझता थकां अचलदास प्राण देय अमरता री वरण करियो—

'संसार नांम आतम सरगि अचल वेवि कीधा अचल।'

डिंगल री प्राचीन रचनावां में आ रचना जितरी ओजपूर्ण मानी जावै उतरी ही सहज भाव-व्यंजना री दीठ सूं महत्व राखै। इण कृति में न तौ लांबा रूपक है न लांठा उपमावां रा उछाळा अर न अणूती बात बणाव। इण री भाव-व्यंजना जितरी सीधी उतरी ही गैरी उतरण वाळी नै घणी असरदार है। इण रचना री प्रचार उण समै रा चारण समाज में तौ रह्यौ ही हुवैला पण बाद में भी इण नै एक आदर्स रचना मान कवि प्रभावित होता रह्या है। राजस्थानी री दूजी ऐतिहासिक महत्व री वचनिका, जिकी राठौड़ रतनसिंह माथै घणा बरसां पछै लिखीजी, में भी इण री प्रभाव झळकै। आ रचना प्राचीन चारण सैली री एक अध्ययन जोग उदाहरण है।

राठौड़ रतनसिंह महेसदासोत री वचनिका

आ दूजी वचनिका भारत री घणी महताऊ ऐतिहासिक घटना माथै लिखियोड़ी है। इण री लेखक जगो खिड़ियौ रतलाम राज रै संस्थापक राठौड़ रतनसिंह री आश्रित हौ। साहजहां बादसा री मांदगी जद मोटी असमाव में बदळगी तो उण रा बेटां रै बीच राजगद्दी दाबण री होड माची। औरंगजेब दिखण रै सूबे रौ सासक नै सगळा भायां में राजनीति री मोटो खेलाड़। उण आपरै भाई मुराद नै साथै ले दिल्ली दाबण री मतौ कियौ। अठी नै साहजहां जोधपुर रै महाराजा जसवन्तसिंह नै बुलाय फौज रा प्रधान सेनापति बणाया नै वांनै सतहजारी मनसब देय औरंगजेब रै खिलाफ रवानै किया। उजैन कनै धरमाट नांव री जागा माथै दोनां दळां बीच जुद्ध हुयौ। इण बीच जसवंतसिंह सागै केई राजपूत राजा आप आप री फौजां लेय भेळा हुआ जिकां में राठौड़ रतनसिंह भी एक नांवजद सासक है।

औ जुद्ध घणो भयंकर हुयौ नै इण में दोनूं तरफ रा अणगिणत जोधा काम आया। ऐन वखत माथै जसवंतसिंह री अेक मुगल सेनापति भी औरंगजेब सूं मिळ गयौ जिण सूं हालत बड़ी विकट होगी। जसवंतसिंह इण जुद्ध में मरण री मतौ कर जूंझतौ रह्यौ पण साथियां देख्यौ कै इण मरण में भी सार कोनी, जसवंतसिंह नै बचावणी जरूरी समझ वां घोड़ै री बाग झेल जसवंतसिंह नै घणै हठ सूं रण खेतर बारै काढियौ नै उणां

री जागां जुद्ध रौ भार आपरै माथै लेय मरण रौ मौड़ बांधियौ। रतनसिंह रण सूं नहीं हट'र राजपूत रौ धरम कायम राखियौ। इणी खातर इण घटना नै लेय रतनसिंह अमर होग्यौ। इण अखाड़सिध वीर प्रांण प्रण सूं जूंझणौ नै करतव बांका साथी जोधारां रै सूरापणै रौ इण वचनिका में आंख देख्यौ वर्णन कवि जगै करियौ है।

इण ग्रंथ री कथा वस्तु छोटी-सी है पण इण में केई जोधारां रा नांवठांव नै ऐतिहासिक तथ्यां रौ विवरण सांगोपांग ढंग सूं हुयौ है।

कवि जठै सेनावां री हलचल रौ वर्णन करण में निपुण है उठै ही वीरां री विसेसतावां नै वांरै मुख सूं निकळती वीरोक्तियां रौ वर्णन भी साचमाच उण वातावरण नै जीवतौ कर देवण री खिमता राखै। वातावरण री जीवन्तता खातर अठै दो उदाहरण देवणा ही काफी हुवैला—

जुद्ध वर्णन—

खगां चढ़िधार हुअे वि खंड
पड़े धार हिन्दु मलेछ प्रचंड
रळतळि नीर जिहां रुहिराळ
खळाहळ जाणि कि भाद्रव खाळ ॥

संवाद री सजीवता—

रिण रामाइण जिसो रचावां, लड़ मरां चंद नांव लिखावां
जसवंत अेम बोलियो ज्यांरा, तण महेस अरज की त्यांरां
जोधां धणी घणा दिन जीवौ, दळसिणगार देस चौ दीवौ
दे सोवो पतसाह मूझ दळ, सवळी लाज मरणछळि सव्वळ ॥

सरूपोत सूं लेय आखिर तक कवि ओज रौ अेक सो निर्वाह करियौ है नै डिंगल भाषा री परम्परावां नै आप में अंगेज नै आखरां में उतारतौ रह्यौ है। उण रौ नाद सौंदर्य भी देखण जोग है—

रळतळि नीर जीहां रुहिराळ
खळाहळ जाणि कि भाद्रव खाळ।

इण रचना रौ अंत रतनसिंह री राणियां रै सती होवणै रै प्रसंग सूं हुवै जिको परम्परागत होतां थकां ही ओपतौ लखावै।

भासा भाव अर सैली री भव्यता में आ रचना मध्यकालीन राजस्थानी में वेजोड़ गिणीजै, इणी खातर चारण समाज में इण रौ घणौ प्रचार रह्यौ नै माळवा नै राजस्थान रै कवि समाज इण नै घणै आदर सूं अंगेजी।

आ रचना जठै उण वखत री संस्कृति नै राजनीति नै उजासै, साथै ही डिंगल भाषा रै विकास री गत नै भी ओळखांण देवै ।

माताजी री वचनिका : जयचंद जती कृत

आ रचना किणी ऐतिहासिक घटना सूं सम्बन्ध नीं राखै । इण में शक्ति रै अवतार नै दुर्गापाठ री पृष्ठभूमि में वखाणियो गयो है । इण में आदि शक्ति री प्रभाव समस्त प्रकृति तथा चराचर मायँ बतायो गयो है तथा देवी नै देवतावां री सर्जक नै रक्षक बतायी गई है । इणी खातर देवी रो रूप जितरो भव्य नै समर्थ है उतरो ही आकरसक है । इण रचना री सर्जण जैचंद जती उण बखत में करियो है जद धर्मान्धता रै कारण मुगल साम्राज्य रो पतन होतां थकां ही हिन्दू धर्म माथै मोटी आफत आयोड़ी हो । रोजीना मिंदर ध्वस्त होवता नै गायां खातर वाहर चढती । अेड़ो परिस्थितियां में कवि शक्ति रो चरित बखाण-जनचेतना में आपो संचरण री कोसीस करी है । कवि जैन धर्म सूं संबंधित है पण उण धार्मिक संकीर्णता सूं ऊपर उठ शक्ति रो सांगोपांग काव्यमय वर्णन करियो है ।

इण रचना में मूळ कथा सुंभ रै अत्याचारां सूं देवतावां नै मुक्त करावणो है । देवी इणां दुस्टां री संहार कर देवतावां नै उबारै नै धरती री संकट मेटे । देवी इण संघर्ष री प्रेरणा उण काळ रे धार्मिक संघर्ष रै वातावरण सूं लेवै ।

मांडै असुर मसीत देव भवन छांडै दुरस
पछिम मांडै पारसी अे ही ग्रही अनीत ।

कवि रो गद्य तथा पद्य दोनां पर समान रूप सूं अधिकार है । देवतावां री विनती माथै इन्द्र रा वचन उदाहरण जोग है—'इतरी सांभळ विळकुळतै वदन पुरंदर बोलियो—'जांणै कर उजाळ, अमोलक मोताहळ रा वचन भड़ै । तठै कह्यो—वंधेज री वारता करी, म्हे कहां तिकुं मन धरी । धुरां आदि करतां, पुरस सिस्ट रचना कीधी । तठै जोड़ी पैदास कियां । धरती नै आकास चंद्र नै सूरज, पवन नै पांणी, दिन नै रैण, तो देव नै दांणव पैदास किया ।'

इणी तरै गद्य में देवी री स्तुति भी वड़ी मार्मिक वण पड़ी है—खमा खमा खेचरी, जैत जैत जुग जगणी तूं करता तूं आदि, तूं ही पतितां उधरणी सुणि बोले संकरी, भणीं कारज कुण आतां चितातुरां दुचित, विगत मुख दाखो वातां पुण इंद करग जोड़े प्रमण, कहर कळह किसणा कियां वर जोर सुरां थापै अवन, पांणि न पोहचै किण वियां ।

जुद्ध खातर आवता, रण रसिया सिंभ निसंभ री पौरस भरी वाणी भी पढ़ण जोग है जिण में डिंगल री परम्परागत ओजस्विता री पांण छळकती निजर आवै—

'तो घणा पेटांण मांहे हैवरां नै ताता करि खुरी करावां, रुद्रमाळ रचावां, पहाड़ां नै जळ चढावां, इतरी सांभळी नै संभ तै निसंभ वेऊ भाई वोलिया—उवाह उवाह । अणी रा बींद, रिण में बावळा । वांकी मूछाळा । कळिया वैरां रा वाहरू । दळां री ढाल ।

अमरपति रा साल, भुजां रा भांमणा लीजै, अखियात कीजै । कलहगारी रा हाथ देखीजै ।'

पैली वाळी दो वचनिकावां ज्यूं इण री ऐतिहासिक महत्व नीं होतां थकां ही इण री सामाजिक नै मोटी साहित्यिक महत्व भाव, भासा नै वर्णन री खूबी रै कारण सूं है। इण में जुद्ध वर्णन रै अलावा नारी सौंदर्य नै प्रकृति री भी घणौ ओपतौ वर्णन कियौ गयौ है नै वार्तालाप में सजीवता वण पड़ी है। कवि री सैली सूं आ वात प्रकट हुवै कै वो डिंगल री परम्परा में भी आछी तरै रंगियोड़ौ भिदियोड़ौ है।

यां इणी गिणी वचनिकावां रै उदाहरणां सूं इण विधा री विसेसतावां जठै भाळै पड़ै उठै ही आ वात भी प्रमाणीजै कै आंपां री भासा में पुरांणै वखत में भी वरावर प्रयोग होवता रह्या है नै वे अभिव्यक्ति रा अेक सफळ माध्यम रै रूप में साहित्य में आदर पावता रह्या है।

वचनिका ज्यूं ही राजस्थानी में तुकांत नै लयात्मक गद्य री दूजी विधा दवावेत मानीजै। रघुनाथरूपक में कवि मंछ इण रा दो भेद—पद्यवंध नै गद्यवंध किया है। पहली में 24 मात्रावां री क्रम निवाहिजै नै दूजी में मात्रावां री कोई नेम कोनी। केई पिंडतां दवावेत री उतपत फारसी रै वेत छंद सूं मानी है। दवावेत में उर्दू-फारसी री शब्दावळी री भी प्रभाव घणौ लखावै जिण सूं उण में खड़ी वोली री लैजौ भी आवै।

न्यारा न्यारा ग्रंथ भंडारां में हाल तांई जिकी दवावेतां मिळी है उणां में महाराजा अजीतसिंह री दवावेत, ठाकुर रघुनाथसिंह री दवावेत, महाराणा जवानसिंह री दवावेत, अक्षयसिंह देवड़ा री दवावेत वगेरा महत्वपूर्ण है। राजस्थानी रै गद्य लेखण रै विस्तार में इण रचनावां री आपरौ निरवाळौ स्थान है।
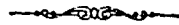
गद्यकार मुहणोत नैणसी

"Libraries and Royal patronage may produce an Abul Fazal but not Nainsi".

—प्रो. कालिका रंजन कानूगो

प्रोफेसर कानूगो के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है, कि भारतीय इतिहास-लेखकों में नैणसी का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक समय में भारतीय इतिहास के अनुसंधान में संलग्न शोधकर्ताओं के सामने यह बहुत बड़ी समस्या है कि मुगल काल के इतिहास की भी सामग्री तवारीखों आदि में सुरक्षित है, उनमें अनेक स्थल बड़े भ्रामक तथा एक पक्षीय हैं और उनका निराकरण करने के लिये उन्हें बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है।

मुगल काल के इतिहास में राजस्थान के राजपूत शासकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है, यहां तक कि कई शासक तो अपने समय में मुगल साम्राज्य के स्तम्भ माने जाते थे। अबुल फजल ने 'अकबरनामा' जैसे ग्रन्थ की योजना बनाई, उससे प्रभावित होकर यहां के शासकों ने भी ख्यातों के रूप में अपने-अपने राजवंशों का इतिहास संग्रह करवाया और बाद के राजाओं के समय में उनकी समसामयिक घटनाएँ उसमें जुड़ती चली गई। ऐसा करते समय उन राजाओं की उपलब्धियों का विस्तृत उल्लेख करना उस काल के लेखकों का उद्देश्य रहा है। ख्यातों के साथ-साथ इतिहास में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों पर ऐतिहासिक बातें भी लिखी गई, जो चारणों और इतिहास-प्रेमी राज-पुरुषों के संग्रहों में लिपिबद्ध होकर आगे से आगे पहुंचती रहीं। पर यह पूरी सामग्री आगे जाकर सुरक्षित नहीं रह सकी। ऐतिहासिक उथल-पुथल में इसके कई अंश लुप्त भी हो गये।

नैणसी को इतिहास से विशेष प्रेम था अतः उसने इस प्रकार की बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करने की ओर ध्यान दिया और जोधपुर के दीवान पद पर नियुक्त होने पर तो उसके पास साधन-सुविधाएँ भी उपलब्ध हो गई थीं, जिनका उपयोग कर उसने अनेक श्रोतों से सामग्री संकलित करवाई, जिसमें मौखिक साधन भी एक था। उसने अपनी प्रसिद्ध ख्यात का निर्माण भी इसी सामग्री से किया। उसकी ख्यात में न केवल राजस्थान के राजवंशों का इतिहास संकलित है अपितु अनेक पड़ोसी राज्य और राजवंशों सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री को भी उसमें स्थान दिया गया है। इस प्रकार ख्यात

साहित्य की परम्परा में यह ख्यात अपना विशिष्ट महत्व रखती है। इस ख्यात के बाद की लिखी हुई अनेक ख्यातें मिलती हैं परन्तु वे प्रायः नैणसी की ख्यात की सहायता से लिखी हुई हैं और उनका राजवंश विशेष के लिए महत्व होते हुए भी कुल मिलाकर नैणसी की ख्यात के समकक्ष नहीं ठहरतीं। ओझाजी और मुंसी देवी-प्रसादजी आदि इतिहासकारों ने इसीलिये इस ख्यात की बड़ी प्रशंसा की है। ओझाजी का तो यहां तक मन्तव्य है कि उक्त ख्यात कर्नल टॉड को नहीं मिली वरना उसका 'राजस्थान' दूसरे ही रूप में लिखा जाता।

नैणसी द्वारा सयत्न किया गया यह ऐतिहासिक संग्रह अपने आप में इसलिये भी विशेष ढंग का है कि उसने यह कार्य अपनी रुचि से इतिहास-प्रेम के कारण किया। राज्याश्रय प्राप्त इतिहास-लेखकों का-सा एकांगी अथवा प्रशंसात्मक वर्णन करना इसका ध्येय नहीं रहा। अतः इस प्रकार की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर उसने आधुनिक इतिहास-कारों के लिये एक ऐसा आधार तैयार कर दिया जिससे एक ओर तो इस प्रकार की अन्य ख्यातों और ऐतिहासिक बातों के अध्ययन में सुविधा होती है और दूसरी ओर शोधकर्त्ताओं को फारसी तवारीखों के अनेक असंतुलित स्थलों को सही रूप में समझने मे सहायता मिलती है।

नैणसी का दूसरा ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' है जो नैणसी की ख्यात जितना ही वृहदाकार है। परन्तु उसमें केवल मारवाड़ के सात परगनों का इतिहास व प्रत्येक परगने के अन्तर्गत पड़ने वाले गांवों का भौगोलिक और फसल तथा राजस्व की आमदनी आदि का वृत्तांत है। यद्यपि यह ग्रन्थ मारवाड़ तक ही सीमित है परन्तु इसमें अनेक नवीन ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा उस काल की प्रशासन–व्यवस्था, राजस्व–व्यवस्था शासकीय परम्परा, कर वसूली, सैनिक अभियान और गांवों में आबाद जातियों आदि के अध्ययन के लिये बड़ी प्रामाणिक एवं मूल्यवान सामग्री है। भारतीय भाषाओं में इस ढंग के ऐसे ग्रंथ विरले ही मिलते हैं जो आंचलिक होते हुए भी उस काल की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता देते हों।

इस प्रकार नैणसी का यह ग्रंथ अनेक दृष्टियों से ख्यात से भी मूल्यवान माना जाता है। मुगल कालीन मारवाड़ के जसवंतसिंह तक के शासकों का विस्तृत इतिहास इस ग्रंथ के प्रारंभ में क्रमबद्ध रूप में दिया गया है, जिसमें मुगल साम्राज्य को दी गई उनकी सेवाओं, संघर्षों और अन्य सम्बन्धों का स्पष्ट पता चलता है। इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं के उल्लेख भी यत्रतत्र इसमें बिखरे हुए मिलते हैं। यह अपने विषय-वैविध्य और प्रामाणिकता की दृष्टि से इतना मूल्यवान है कि प्रो. परमात्मा शरण ने तो इसे अनेक दृष्टियों से 'आईने अकबरी' और 'मिराते अहमदी' से भी बढ़कर माना है।[1] यह ग्रन्थ नैणसी की ख्यात से अधिक व्यवस्थित है और उन लोगों के लिये एक चुनौती है जो यह

---

१. प्रो. परमात्मा शरण की सम्पादित ग्रन्थ पर सम्मति, राज. प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में सुरक्षित।

विश्वास करते हैं कि भारतीय लेखकों में वैज्ञानिक इतिहास-लेखन की दृष्टि का अभाव रहा है।

इस प्रकार इतिहास-लेखक के नाते नैणसी का बहुत बड़ा योगदान न केवल राजस्थान के इतिहास को अपितु भारतीय इतिहास को भी है और इस कारण से उसकी प्रसिद्धि चिरकाल तक रहेगी। परन्तु इसके अलावा वह अपने समय का महत्त्वपूर्ण इतिहास-पुरुष भी रहा है। भारतीय इतिहास में महाराजा जसवन्तसिंह का असाधारण स्थान किसी से छिपा नहीं है और नैणसी ऐसे राजा के राज्य का लम्बे समय तक दीवान रहा और उसने राज्य की व्यवस्था में योग दिया यह कम महत्त्व की बात नहीं है। इतना ही नहीं उसने जोधपुर के शासक के लिये अनेक युद्धों में भाग लिया और उनका सफल संचालन भी किया। जसवन्तसिंह को मारवाड़ के बाहर अन्य परगने जागीर में समय-समय पर मिले उनकी व्यवस्था करने का अवसर भी उसे दिया गया। उसके साथ-साथ उसके भाई सुन्दरसी का भी योगदान इस कार्य में बराबर प्रशंसित होता रहा है। अतः नैणसी के व्यक्तित्व के तीन पक्ष—इतिहास-लेखन, राज्य-व्यवस्था और युद्ध-संचालन विशेष महत्व के हैं। कई विद्वान उसके कवि होने को भी खासा महत्व देते हैं। परन्तु उसकी बहुत कम रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, वे शायद उस काल के सम्भ्रान्त परिवारों और राजपुरुषों में प्रचलित काव्य-शिक्षा और शौक-तहजीब की ही प्रतीक हैं।

अनेक प्रकार की व्यवस्तताओं, राजनैतिक उलझनों और सैनिक अभियानों के बीच नैणसी ने समय निकाल कर अनेक सुविज्ञ लोगों का सहयोग लेते हुए इतने स्थायी महत्व का यह कार्य कर दिखलाया यह उसके व्यक्तित्व की विशेषता ही कही जा सकती है। चर्चिल के लिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि उसे न केवल इतिहास-लेखन का नैपुण्य ही हासिल था अपितु वह इतिहास-निर्माण की क्षमता भी रखता था। आंचलिक दृष्टि से ही सही, यही बात मारवाड़ के संदर्भ में नैणसी के लिये भी कही जा सकती है।

नैणसी का दुखद और विचित्र अंत हुआ और उसके परिवार को भी जोधपुर छोड़ना पड़ा। परन्तु नैणसी की विभिन्न सेवाओं और प्रसिद्धि के कारण ही उसका घराना अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया और उसे अन्य राज्यों में भी महत्व मिला। इससे पता चलता है कि नैणसी अपने समय का प्रसिद्धि-प्राप्त और कुशल व्यक्ति था। ऐसे असाधारण व्यक्ति को आत्मघात करके प्राणान्त करना पड़ा, इसका कारण मुख्यतया राजनैतिक ही होना चाहिए, पर वास्तविक तथ्यों को पकड़ने के लिये विद्वानों ने अनेक अटकलें लगाई हैं। महाराजा की गंभीर नाराजगी के मुख्य कारण इस प्रकार बताए गए हैं—

१. नैणसी ने अपनी दीवानगी के दौरान अपने रिश्तेदारों को बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त कर दिया था। वे अपने स्वार्थ के लिये प्रजा पर अत्याचार करते थे और रिश्वत लेते थे। महाराजा को जब यह तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने नैणसी और सुन्दरसी दोनों भाईयों को कैद कर लिया।

—हजारीमल बांठिया, हिन्दुस्तानी पत्रिका, उद्धृत-मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग ४ पृ. २८, सं. बदरीप्रसाद साकरिया।

२. नैणसी ने राज्य की आय बढ़ाने के लिए जनता पर खूब कर बढ़ा दिये। जनता दुखी होकर राज्य छोड़कर अन्यत्र जाने लगी। जिससे ७ वर्षों में १८ लाख रुपये की राजस्व में हानि हुई। महाराजा ने इसके लिए नैणसी को ही दोषी ठहराया और १८ लाख रुपये जुर्माना किया पर क्योंकि नैणसी ने स्वयं कोई रिश्वत नहीं खाई थी, उसने यह राशि देना स्वीकार नहीं किया। मारवाड़ के प्रधान राजसिंह कूंपावत ने अनुनय विनय कर जुर्माना तो माफ करवा दिया पर नैणसी को महाराजा ने यह कह कर दीवानगी से हटा दिया कि आज से इस वंश के लोग मारवाड़ में राज्य सेवा में नहीं रखे जायेंगे।

—**अगरचन्द नाहटा, वरदा, वर्ष ३ अंक १**

३. महाराजा का बड़ा पुत्र पृथ्वीसिंह बड़ा वीर था। उसने औरंगजेब के सामने बिना शस्त्र शेर को मार डाला था। नैणसी इस महाराजकुमार का अभिभावक था। औरंगजेब महाराजा पर तो पहले से नाराज था ही अब उसने नैणसी पर जाल बिछाना प्रारम्भ किया। एक बार एक बड़ी दावत में जब नैणसी ने बादशाह के दरबारियों और महाराजा को आमंत्रित किया तो उसकी शान-शौकत देखकर दरबारियों ने महाराजा के कान भरे जिसके फलस्वरूप महाराजा ने नैणसी से एक लाख रुपया कबूलात का वसूल करने का हुक्म दिया। नैणसी ने कबूलात देने से इन्कार कर दिया और महाराजा की सेवा से हट गया।

विश्वमित्र, दीपावली विशेषांक सं. १९६३

४. महाराजा जब नैणसी पर रुष्ट हो गये और नैणसी ने दंड के रुपये देना स्वीकार नहीं किया तो उन्हें कैदी की ही हालत में जोधपुर के लिए रवाना कर दिया। देश में कैदी के रूप में जाना उन्हें बड़ा अपमानजनक लगा और जन्मभूमि में जाने से पहले ही मार्ग में फूलमरी गांव के पास वि. सं. १७२७ की भादौं वदि १३ को दोनों भाईयों ने आपस में कटारें खाकर जीवन लीला समाप्त करली।

–ओझा–मुहणोत नैणसी का वंश परिचय। मुहणोत नैणसी की ख्यात, भाग १, रामनारायण दूगड़ द्वारा सम्पादित।

उपरोक्त चारों तथ्य प्रायः किंवदंती के आधार पर ही हैं। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि नैणसी से कोई बड़ा गुनाह अवश्य हुआ था, इसीलिए महाराजा ने इतने योग्य सेवक के प्रति इतना कड़ा रुख अपनाया और उसकी मृत्यु के उपरांत भी उसके कुटुम्ब के लोगों से एक लाख रुपये वसूल करने की जिद्द को नहीं छोड़ा। यह बात प्रसिद्ध है कि महाराजा ने उससे एक लाख रुपये कबूलात के मांगे थे और उसने नहीं दिये। इसकी साक्षी का यह दोहा उसके एक वंशज से सुनने को मुझे मिला—

दौलत दानतदार रै, हुई न फेर हुवैह।
कबूलात किण विध दिये, छव कौडी न छुवैह।।

और कबूलात न देने तथा महाराजा की आज्ञा को अस्वीकार करने के फलस्वरूप उन्हें कैद कर लिया गया था तथा अन्य कोई रास्ता न देखकर अपमान सहने के बजाय आत्मघात करना ही नैणसी ने ठीक समझा। यह कबूलात नैणसी से क्यों तलब की गई इसके विविध कारण लोग देते हैं परन्तु उनका कोई ऐसा ठोस आधार नहीं प्रकट किया गया है जो तर्क-संगत हो। नाहटाजी ने ७ वर्षों में करों की बढोतरी से १८ लाख की हानि होने की जो बात 'राजसिंह कूंपावत की बात' के आधार पर कही है वह ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि राजस्व आदि का हिसाब हर वर्ष हुआ करता था और करों के बढने से यदि जनता कष्ट पाकर राज्य छोड़ने लगती और राजस्व में इसके कारण हानि होती तो जसवंतसिंह जैसा कुशल महाराजा उसी समय इस स्थिति को समझ कर आवश्यक आदेश दे देता, फिर प्रधान की ओर से भी महाराजा के पास राज्य की गतिविधियों की सूचना बराबर पहुंचती रहती थी, अतः इसे तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता :

हमारे संस्थान में संग्रहीत एक स्फुट ख्याततुमा गुटके में नैणसी पर नाराजगी के कारण का संकेत इस प्रकार मिलता है—

"संवत् १६२३ हंसी हंसार म्हो० नैणसी हो जिण नूं जागीर कर व्यास पदमनाभ नूं मेलियो, लोक बेराजी हुवो, पातसा कनै फिरयादी गयो, तरै लाख री रकम छुडाई" इसके कुछ ही आगे इस गुटके में नैणसी को कैद करने, जुर्माना न देने और नैणसी द्वारा आत्मघात करने पर जोधपुर में, देवीदास कुलधरांणी, धनराज कुलधरांणी का पुत्र, केसव फोफलिया, देवीदास के चाकर देवीदास के पोते, केसव के पुत्र आदि को महाराजा के हुकम से मरवाने का उल्लेख है।

ग्रंथांक-८१७० पत्र १४७-४८।

इससे ज्ञात होता है कि हंसी हंसार के सूबे का अधिकार जब नैणसी से हटा लिया गया और पदमनाभ को यह अधिकार दिया गया तो जनता बादशाह के पास फरियाद लेकर गई। अतः महाराजा को यह शक हो गया कि नैणसी ने ही प्रजा को बरगला कर यह सब कुछ करवाया है और बादशाह ने एक लाख के कर की जो माफी करवाई उसके हटाने का मूल कारण भी नैणसी को ही माना होगा। कुछ कायस्थ और ब्राह्मण जो उसके विरोधी थे इस मौके पर कान भरने से न चूके होंगे। नैणसी की इस प्रकार की गतिविधि राजद्रोह के दर्जे में मानी गई हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि वह समय इसी प्रकार का था, इसी लिये नैणसी के आत्मघात करने पर उसके विश्वास-पात्र लोगों को भी जोधपुर में मृत्यु-दण्ड दिया गया होगा और एक लाख का जुर्माना फिर भी वसूल करने की आज्ञा को निरस्त नहीं किया होगा। अद्यावधि प्राप्त तथ्यों में मुझे यह तथ्य सबसे अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत जान पड़ता है।

नैणसी के उपरोक्त दोनों ग्रंथों का इतिहास की दृष्टि से इतना महत्व है वहां उसकी राजस्थानी गद्य को भी असाधारण देन मानी जानी चाहिए। उसके दोनों ग्रंथ यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन हैं परन्तु विशेष कर उसने अपनी ख्यात को सजीव

वनाने के लिये इस प्रकार संजोया संवारा है उससे भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता भी निखर कर सामने आई है और अनेक वर्णनों के द्वारा उस समय का वातावरण जीवन्त रूप में प्रकट हुआ है। उसने अपनी टकसाली भाषा में अनेक मुहावरों तथा कहावतों का भी वड़ा युक्ति युक्त प्रयोग करके उस काल की मान्यताओं और लोकरुचि आदि का भी बड़ा अच्छा परिचय दिया है। भाषा कहीं कहीं क्लिष्ट अवश्य प्रतीत होती है पर उसका अपना प्रवाह है और तार्किकता को वहन करने की भी क्षमता है। विगत[1] में तो जहाँ राजस्व-व्यवस्था तथा राजनैतिक व कृषि, तथा भूमि सम्बन्धी शब्दावली का एक कोश ही है वहां उसके ऐतिहासिक वर्णन-स्थलों में बड़ी ही सधी हुई अर्थ-गरिमा-युक्त भाषा का प्रयोग किया है। उसका वाक्य-विन्यास भी भाषा की संक्षिप्तता का परिचय देता है और उस समय के सामाजिक वातावरण को चित्रित करने में सक्षम हैं।

राजस्थानी भाषा की विकास परम्परा के अध्ययन के लिये नैणसी के ये दोनों ही ग्रंथ विशेष महत्व के हैं।

---

१. मारवाड़ रा परगनां री विगत, सं. डॉ. नारायण सिंह भाटी, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।

राजस्थानी गद्यानुवाद–नीति प्रकास

राजस्थानी साहित्य में अनुवादों की परम्परा लगभग 14वीं शताब्दी में प्रारंभ हो गई थी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में रचित ग्रंथों को समझना जब कठिन हो गया तो उन भाषाओं के विद्वानों ने आवश्यकता और रुचि के अनुसार समय-समय पर उपयोगी ग्रंथों के अनुवाद तथा टीकाएँ आदि प्रचलित भाषा में प्रस्तुत कीं। प्रारंभ में अधिकांश अनुवाद जैन आचार्यों के मिलते हैं क्योंकि धर्मप्रचार की दृष्टि से प्राचीन धर्म-ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धांतों तथा उपदेशों को जन-साधारण के लिए उपलब्ध करना उनका उद्देश्य था। इसके पश्चात तो समय के साथ-साथ कई तरह के ग्रंथ राजस्थानी गद्य-पद्य में अनुवादित होते गये और आज सैंकड़ों अनुवाद तथा टीकाओं के ग्रंथ हस्तलिखित पोथियों में उपलब्ध होते हैं।

जैन टीकाएँ अनेक प्रकार की मिलती हैं, यथा बालावबोध, टब्बा, वार्तिक आदि। इनका शैलीगत वैशिष्ट्य राजस्थानी भाषा के विकास की दृष्टि से अध्ययनीय है। पद्य के अर्थ गांभीर्य को समझने के लिये टीकाकारों ने नये नये शब्द भी गढ़े हैं और इस प्रकार भाषा की सांकेतिक शक्ति बढाने में बड़ा योगदान दिया है। खेद है कि इन ग्रंथों का अध्ययन अभी तक इस दृष्टि से नहीं किया गया है जो कि तकनीकी शब्दावली के निर्माण में भी बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है।

मध्यकाल में, शुक बहोत्तरी, सिंहासन बत्तीसी, वैताल पच्चीसी, पंचतंत्र आदि के भी सफल अनुवाद हुए हैं। रामायण, महाभारत, गीता तथा पौराणिक कथाओं के अनुवाद भी पुष्कल परिमाण में मिलते हैं। चाणक्य नीति तथा वैद्यक व तंत्र शास्त्र आदि ग्रन्थों की टीकाओं की भी राजस्थानी में कमी नहीं है। अश्व व गज चिकित्सा सम्बन्धी शालिहोत्र ग्रन्थों के अनुवाद भी अनुभवी व्यक्तियों द्वारा शासकीय आदेश से किये गये हैं और उनकी उस युग में बड़ी उपयोगिता रही है।

जब से यहां मुस्लिम राज्य की पूर्ण स्थापना हुई तब से उनकी संस्कृति और उनके साहित्य से भी यहां के लोगों का परिचय होना स्वाभाविक ही था। कालान्तर में सम्पर्क की निकटता स्थापित होने से फारसी भाषा का प्रचलन यहाँ के शिक्षित वर्ग में हुआ और मुस्लिम संस्कृति की अनेकों बातों को बारीकी से जानने के लिए इस भाषा में रचित महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद स्थानीय भाषाओं में किया जाने लगा। प्रस्तुत राजस्थानी

अनुवाद इसी बात का प्रमाण है। मुगल सल्तनत की मान्यताओं और अनुभवों की पृष्ठ-भूमि को जानना विशेष तौर से यहाँ के शासकों के लिए जरूरी था, क्योंकि उनका सम्बन्ध मुगलों के दरबार से निरन्तर बना हुआ था। इस दृष्टि से यह ग्रंथ यहां के शासक-वर्ग और राजनीति में दिलचस्पी लेने वाले लोगों के लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ रहा होगा। वैसे ज्ञान का कोई भी श्रोत, चाहे जिस किसी भाषा में हो, समय के साथ आवश्यकतानुसार अवसर पाकर स्वयं अपना प्रचार-प्रसार अन्य भाषाओं के माध्यम से पा ही लेता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में बादशाहों के अपेक्षित ४० गुणों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इन ४० गुणों को मोटे रूप से ५ भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास और सभी कार्य उसी की रजावंदी से करना।

२. अन्य देशों के साथ उचित व्यवहार और शत्रुता रखने वाले देशों के प्रति जासूस, राजदूत आदि के माध्यम से सतर्कता बरतना।

३. प्रजा के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करना, उसके सुख-दुख का पूरा ध्यान रखना व न्याय की श्रेष्ठ व्यवस्था करना।

४. अपने राज्य के ओहदेदारों और छोटे-बड़े नौकरों की पूरी जानकारी रखना, उनकी परीक्षा लेना और उचित व्यवहार करना।

५. व्यक्तिगत गुण, विद्वत्ता और कर्त्तव्यपरायणता में श्रेष्ठता हासिल करना।

इन गुणों को विस्तार के साथ समझाते समय लेखक ने स्थान-स्थान पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक बातों, किंवदंतियों और बोध-कथाओं (fables) का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। कई घटनाएँ और ऐतिहासिक पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ तो इतिहास से भी मेल खाती हैं। इस प्रकार के कई उपकरण मिल जाने से यह ग्रंथ नीति सम्बन्धी तथ्यों का उपदेशात्मक ग्रंथ ही न रह कर काफी दिलचस्प ग्रंथ बन गया है। इसलिए साहित्य का पाठक भी इसमें दिलचस्पी ले सकता है।

यद्यपि मूल ग्रंथ प्राचीन काल में विशेष उपयोगी रहा होगा पर आज भी कई दृष्टियों से इसका महत्व है। इस ग्रंथ के माध्यम से उन देशों की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक परिस्थितियों तथा मान्यताओं का पता चलता है; क्योंकि पूरे ग्रंथ में यथास्थान इस प्रकार की चर्चा की गई है। समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र की परम्परा में भी इस ग्रंथ का अपना महत्व होना चाहिए।

पूरे ग्रंथ का झुकाव आदर्श की ओर अधिक है। बादशाह एक आदर्श शासक किस तरह बन सकता है, सभी शिक्षाप्रद बातें इसी से सम्बन्ध रखती हैं। इस लिए स्थान-स्थान पर आदर्श माने जाने वाले शासकों के सिद्धांतों तथा उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया गया है। नोसेरवां को लेखक ने अत्यंत न्यायपरायण और एक आदर्श शासक माना है जिसका व्यक्तित्व बहुत उच्च कोटि का है और जो राज्य कार्य में भी पूरा निपुण है।

नोसेरवां का जिक्र आते ही विक्रमादित्य, राजा भोज और अशोक जैसे हमारे देश के महान् शासकों का आदर्श भी हमारे सामने उपस्थित हो जाता है जिन्होंने मानवता को सर्वोपरि रख कर पर-हित के लिए ही राज्य किया और जिनकी प्रशंसा आज भी हमारे देश में की जाती है। इस तरह विभिन्न देशों के आदर्श शासकों और उनके सिद्धान्तों पर जब हम मनन करते हैं तो एक बात बार-बार ध्यान में आती है कि सभी श्रेष्ठ संस्कृतियों के श्रेष्ठतम सिद्धांतों में कितना साम्य है ? प्रत्येक श्रेष्ठ संस्कृति मानव के अच्छे गुणों तथा न्याय की श्रीवृद्धि को ही अपना चरम लक्ष्य मानती है—चाहे जिस किसी रूप में हो, चाहे जिस किसी समय में हो, चाहे जिस किसी देश में हो। अतएव एक सुसंस्कृत देश का श्रेष्ठ शासक श्रेष्ठतम मानव होता है और जब इस प्रकार की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने वाले ग्रंथ का हम अध्ययन करते हैं तो उससे शासक की राजनैतिक सतर्कता और दूरदर्शिता की ही जानकारी नहीं मिलती वरन् मानवोचित गुणों की श्रेष्ठता का परिचय भी मिलता है।

दुश्मनों के आक्रमण, राजनैतिक षड़यंत्र और सामाजिक ऊहापोह के बीच भी इन शासकों ने किस तरह मानवता से एक क्षण भर के लिए भी विछोह मंजूर नहीं किया और अंततः अपने सही सिद्धांतों पर कायम रह कर ही सफलता पूर्वक राज्य करते रहे, ये सभी बातें मानवता और सत्य में हमारी आस्था को और भी दृढ़ बना डालती हैं।

आधुनिक युग में विज्ञान की उन्नति के कारण सामाजिक व्यवस्था और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में बहुत तेजी के साथ परिवर्तन आ रहा है। फिर भी मानव द्वारा अर्जित पीढ़ियों के ज्ञान और शाश्वत जीवन मूल्यों को पूर्णतः गलत सिद्ध कर दिया गया हो ऐसी बात नहीं है। अतः मानव परम्परा के संचित अनुभवों और व्यावहारिक सूझ-बूझ को व्यक्त करने वाले ग्रंथों का आज भी सामाजिक महत्व है। उनकी अनेकों मान्यताएँ और सिद्धांत हमारे लिए मूल्यवान हैं। न्याय में आस्था बहुत प्राचीन काल से रही है और भविष्य में भी रहेगी। न्याय की व्यवस्था करने वाले राजनैतिक ढांचे में परिवर्तन होता रहा है पर न्याय के आधार-भूत सिद्धांतों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यही बात कई और दार्शनिक मान्यताओं के बारे में भी सही है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं—

सरम सूं सोभा आलम री छै।[1]

संतोस तौ पसु नूं चाहीजै। अेक ठौड़ बैठणी छोटी मति री कांम छै।[2]

जिकौ चाहै प्रभू उणरी मुल्क मोटौ करै तौ उवौ समै रा पीढ़ितां नूं मोटा करै।[3]

गहणी नै पोसाक वडाई री विनय छै।[4]

मिनख री जस थिर जीवण छै।[5]

सत्य कहणै में, सत्य करणै में कारण नचीताई नै छुटकारा री छै।[6]

नीतिप्रकास—१. पृ. २७ २. पृ. ३४ ३. पृ. ३६ ४. पृ. ६४ ५. पृ. १०६ ६. पृ. ७२

सिकार मन री तरह री करणी भली सिकार छै ।[1]
क्रोध जिणरा हाथ सूं कैद छै ऊ मरद हकीम छै ।[2]
अदालती न्याय नूं अदल गहणौ कहजै ।[3]

ग्रंथ में कई स्थलों पर बड़ी ही सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन किया गया है । विशेष तौर से वजीरों, उमरावों और नौकर चाकरों के लिए कही गई शिक्षाप्रद बातों में कई स्थानों पर मनोवैज्ञानिक सूझ का लेखक ने अच्छा परिचय दिया है जिसको ध्यान से देखने पर जीवन में अनेक उपयोगी बातें हासिल की जा सकती हैं ।

इस प्रकार के अनुवादों से एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी प्रकट होती है कि जहाँ राजस्थान निरन्तर विदेशी शासकों को चुनौती देता रहा है वहाँ वह उनकी संस्कृति से अच्छी और उपयोगी बातों को हासिल करने का प्रयत्न भी खुले दिमाग से करता रहा है । इससे यहाँ के लोगों की ज्ञान अर्जित करने की जिज्ञासा भी परिलक्षित होती है ।

अनुवादक ने मूल ग्रंथ का हूबहू अनुवाद न करके कई स्थलों पर उसे संक्षिप्त भी कर दिया है, पर कुल मिला कर अनुवाद अच्छा बन पड़ा है । कई फारसी के शब्दों को भी ज्यों का त्यों अपना लिया है और कई शब्दों में थोड़ा हेर-फेर भी किया गया है, पर ठेट राजस्थानी के शब्दों, मुहावरों आदि के प्रयोग से ग्रंथ में निखार आ गया है ।

आज के राजस्थानी गद्य लेखकों के लिये भी भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ अध्ययन करने योग्य है ।

ग्रंथ के अंत में अनुवादक के बारे में लिखा है कि शाहजादे अबुल मोहसन के लिये लिखे गये मूल फारसी ग्रंथ अखलाक-अल-मोहसनी का यह राजस्थानी अनुवाद मोहता संग्रामसिंह ने किया है ।[4]

---

१. पृ. ५३ २. पृ. ४८ ३. पृ. ३६ ।
४. यह ग्रन्थ 'परम्परा' भाग ९-१० में प्रकाशित किया गया है ।

कोष व छन्दशास्त्र

राजस्थानी शब्द कोश परम्परा

प्राचीन राजस्थानी के टकसाली शब्दों का संग्रह पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत करने वाले जहां प्राचीन परिपाटी वद्ध अनेक कोश उपलब्ध होते हैं वहाँ आधुनिक ढंग से भी कोशों का निर्माण किया गया है। इन कोशों के अध्ययन से राजस्थानी भाषा की समृद्धि व प्राचीन परम्परा दोनों पर प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन राजस्थानी (डिंगल) कोश परम्परा

भाषा समाज की पहली आवश्यकता है और मानव के विकास का सबसे महत्वपूर्ण साधन भी। मानव के भौतिक एवं सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ भाषा का भी विकास होता है। समाज की उन्नति और उसकी नानारूपेण प्रवृत्तियों में सतत प्रयत्नशील मानव-समूह अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जाने-अजाने ही भाषा को नये-नये रूप प्रदान करता है। इसी से भाषा के कई रूप बनते और बिगड़ते रहते हैं। पर मिटने वाली भाषाओं का प्रभाव नवोदित भाषाओं पर किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहता है, क्योंकि नवीन भाषाएँ प्राचीन भाषाओं की कोख से ही उत्पन्न होती हैं, यद्यपि अन्य भाषाओं के प्रभाव से भी वे पूर्णतया अछूती नहीं रह पातीं। भाषाओं का यह विकास-क्रम स्वयं मानव जाति के सामाजिक इतिहास से अविच्छिन्न जुड़ा हुआ सतत प्रवहमान होता रहता है। कौनसी भाषा कितनी समृद्ध और महान है, यह उस भाषा का साहित्य ही प्रमाणित कर सकता है। साहित्य की रचना शब्दों के माध्यम से सम्पन्न होती है, अतः किसी भाषा का शब्द-भंडार ही उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता का द्योतक है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य की समृद्धि पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करते समय उसके शब्द-भंडार की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। शब्द-भंडार पर शब्द-कोषों के माध्यम से विचार करने में सुविधा होती है, और उसमें हर प्रकार के कोषों का अपना महत्व होता है। आधुनिक प्रामाणिक कोषों के उपलब्ध होते हुए भी संस्कृत भाषा का कोई विद्यार्थी 'अमर-कोष' की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसीलिए इन प्राचीन डिंगल कोषों का भी अपना महत्व है।

विभिन्न भाषाओं के प्राचीन कोषों की तरह ये कोष भी छन्दोवद्ध हैं। प्राचीन काल में जब छापाखाने की सुविधा उपलब्ध नहीं थी—ज्ञान अर्जित करना, उसे समय पर प्रयोग में

लाना और आने वाली पीढ़ी को उससे लाभान्वित करना एक बहुत बड़ी समस्या थी। हस्तलिखित पोथियों का प्रयोग अवश्य होता था पर व्यवहार में स्मरण-शक्ति का भी बहुत सहारा लेना पड़ता था। लयात्मक और तुकान्त भाषा में कही गई बात स्मृति में सहज ही अपना स्थान बना लेती है, इसीलिए अति प्राचीन काल में समाज की धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक मान्यताएँ तक छन्दों का सहारा ढूँढती प्रतीत होती हैं। साहित्याचार्यों ने भी अपने मतों का प्रतिपादन छन्दों के सहारे ही करना उचित समझा, जिसके फलस्वरूप छन्दोबद्ध रूप में कई लक्षण-ग्रन्थों तथा कोषों का निर्माण हुआ। ये कोष तत्कालीन समाज और साहित्य में जिस रूप में महत्वपूर्ण थे ठीक उसी रूप में आज नहीं हैं। पर आधुनिक ढंग के कोषों से जहां केवल शब्दों का अर्थ स्पष्ट होता है, ये कोष अन्य कई महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी भी देते हैं। इन कोषों में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण संकेत सुरक्षित हैं, जिनके माध्यम से कई महत्वपूर्ण निर्णयों तक पहुंचने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक कोषों में जहां लेखक या सम्पादक का व्यक्तित्व निहित नहीं रहता वहाँ इन प्राचीन कोषों में उनके रचयिताओं का व्यक्तित्व काफी मात्रा में सुरक्षित है।

इस प्रकार के कोषों के निर्माण की प्रवृत्ति उस समय की विशेष आवश्यकताओं की ओर भी संकेत करती है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में इन कोषों का महत्व पाठक के बनिस्पत कवि के लिए अधिक था। राजस्थान में जहाँ कई मौलिक सूझ-बूझ वाले और प्रतिभा-सम्पन्न कवि हुए वहाँ परिपाटी का निर्वाह करने वालों की जमात भी काफी बड़ी थी। उनके लिए कविता इतनी स्वत:स्फूर्त न होकर अभ्यास की चीज थी। कविता को अत्यधिक प्रयत्न-साध्य और अभ्यास की चीज बनाने के लिए काव्य-रचना सम्बन्धी आवश्यक उपकरणों को स्मरण-शक्ति में हर समय बनाए रखना और उन पर अधिकार करना आवश्यक होता है। यह उद्देश्य बहुत कुछ इन कोषों के माध्यम से भी पूरा होता था, क्योंकि शब्दों के साथ-साथ छन्द-रचना सम्बन्धी नियम और उदाहरणों की व्यवस्था तक कई कोषों के साथ की गई है। रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में तो इस प्रकार के ग्रन्थों की भी रचना हुई जो विभिन्न प्रकार के वर्णनों के लिए फार्मूले मात्र प्रेषित करते थे। वर्षा, वाटिका, तड़ाग, जलक्रीड़ा आदि वर्णनों के लिए वे निश्चित शब्दों की सूची तक बना कर इस प्रकार के कवियों की कवि-कर्म के निर्वाह में पूरी सहायता करते थे। सामाजिक परिवर्तनों के साथ जब कवि का दृष्टिकोण और उसकी साहित्यिक मान्यताएँ बदलीं तो साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ-साथ इन कोषों की उपयोगिता के प्रकार में भी अंतर आया। आज वे जितने कवि के लिए उपादेय नहीं उतने विद्यार्थी के लिए उपयोगी हैं।

किसी भी भाषा का कोष उस भाषा की साहित्य-रचना के पश्चात निर्मित होता है। जब किसी भाषा का साहित्य काफी उन्नत और समृद्ध हो जाता है तभी कोष तथा लक्षण-ग्रंथों के निर्माण की ओर आचार्यों का ध्यान आकर्षित होता है। अत: अच्छी संख्या में डिंगल के इतने समृद्ध कोषों की उपलब्धि इस भाषा की समृद्धि की भी परिचायक है। इतना ही नहीं इन कोषों में तत्कालीन डिंगल साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के संकेत भी मिलते हैं।

प्राचीन डिंगल साहित्य में अपनी सामाजिक पृष्ठ-भूमि के अनुरूप वीर, शृंगार तथा शांत रस की धाराओं का प्राधान्य रहा है और इन्हीं रसों को व्यंजित करने वाली सशक्त शब्दावली को प्रायः इन सभी कोषों में विशेष स्थान मिला है। कविराज मुरारिदानजी के डिंगल-कोष का विस्तार कुछ अधिक है पर उसमें भी ऐसे ही शब्दों की प्रधानता है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन कोषों का महत्व असाधारण है। किसी भी भाषा के विकास क्रम को समझने के लिए उस भाषा के बहुत बड़े शब्द-समूह पर कई दृष्टियों से विचार करना आवश्यक हो जाता है। कई बातों की जानकारी तो भाषा का व्याकरण ही दे देता है पर शब्दों के रूप में कब और कैसे परिवर्तन हुए, इसका अध्ययन करने के लिए समय-समय पर होने वाले शब्दों के रूप-भेद की पूरी जाँच करनी होती है तभी शब्दों के रूप-परिवर्तन में बरते जाने वाले नियमों का भी स्पष्टीकरण होता है। अतः वैज्ञानिक ढंग से राजस्थानी भाषा के विकास को समझने में ये कोष एक प्रामाणिक सामग्री का काम दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थानी में प्रयुक्त अन्य भाषाओं के शब्दों की स्थिति भी इनसे सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

वर्णिक-क्रम के हिसाब से राजस्थानी का आधुनिक शब्द-कोष तैयार करने में इन कोषों से मिलने वाली सहायता का महत्व असंदिग्ध है। डिंगल-भाषा के मुख्य-मुख्य शब्द अपने मौलिक तथा परिवर्तित रूप में एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाते हैं। कई शब्दों के समय-समय पर होने वाले अर्थ-भेद तक का अनुमान इनके माध्यम से मिल जाता है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म अर्थ-भेद को इंगित करने वाले समान शब्दों पर भी इन कोषों के आधार पर विचार किया जा सकता है। संग्रहीत डिंगल-कोषों के सभी रचयिता अपने समय के माने हुए विद्वान और कवि थे। ऐसी स्थिति में उनके शब्द-ज्ञान में भी सन्देह की विशेष गुंजाइश नहीं बचती। प्राचीन पोथियों की प्रामाणिकता को कायम रखने में लिपिकारों की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। अतः कई स्थलों पर उनकी असावधानी के कारण अस्पष्टता तथा त्रुटियों की सम्भावना अवश्य बनी हुई है। इसके अतिरिक्त मौखिक परम्परा पर जीवित रहने के पश्चात लिपिबद्ध होने वाले कोषों के उपलब्ध रूप और मौलिक रूप में अवश्य अन्तर है, जिसका आभास समय-समय पर लिपिबद्ध होने वाली एक ही कोष की कई प्रतियों से हो सकता है। 'नागराज डिंगल-कोष' तथा 'डिंगल-नांम-माळा' इसी प्रकार के कोष हैं जो अपूर्ण भी हैं और निर्माण-काल के काफी समय बाद की प्रतियां हमें उपलब्ध हो सकी हैं। अतः इन कोषों का समुचित प्रयोग उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रख कर होना चाहिए।

प्रसिद्ध डिंगल-कोष व उनकी विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

डिंगल नांम-माळा :

यह कोष उपलब्ध कोषों में सब से प्राचीन है। मूल प्रति में इसके रचयिता का नाम कुंवर हरराज मिलता है। हरराज सं० १६१८ में जैसलमेर की गद्दी पर बैठा था। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस कोष की रचना उस समय के कुछ पहले हुई है। श्री अगरचन्द नाहटा के मतानुसार हरराज स्वयं कवि नहीं था। कुशललाभ नामक

कवि ने उसके लिए इस ग्रन्थ की रचना की थी[1]। वैसे प्राप्त 'डिंगल नांम-माळा' की पुष्पिका में हरराज के साथ कुशललाभ का भी नाम जुड़ा हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि कुशललाभ ने स्वयं यदि इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया हो तो ग्रन्थ-निर्माण में सहायता तो अवश्य की होगी, अन्यथा उसका नाम इस रूप में मिलने का कारण नहीं। हरराज भी स्वयं कवि था और उसके डिंगल गीत मिलते हैं।

इस कोष के शीर्षक से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। मूल प्रति में कोष का शीर्षक है—'अथउ डिंगल नांम-माळा', पुष्पिका में पूरा नाम 'पिंगल सिरोमणी उडिंगल नांम-माळा' भी मिलता है। डिंगल शब्द का प्रयोग १९वीं शताब्दी में मिलता है[2], पर उससे भी पहले, बहुत सम्भव है, डिंगल या उडिंगल ही प्रयुक्त होता हो। डा. मेनारियाजी का अनुमान है कि प्राचीन डिंगल शब्द को आधुनिक अंग्रेज विद्वान डॉ. ग्रियर्सन आदि ने उच्चारण की सुविधा के लिये पिंगल के आधार पर डिंगल बना दिया है।[3] उसके पहिले इस प्रकार की ध्वनि वाला शब्द नहीं था। यहां 'डिंगल' शब्द के मिलने से इस तथ्य पर पुनर्विचार करने की गुंजाइश बन जाती है। यह कोष प्राचीन होने के कारण कई तत्कालीन शब्दों की अच्छी जानकारी देता है, इसलिए राजस्थानी भाषा के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। कोष का आकार बहुत छोटा है। वस्तुतः यह पूरे ग्रन्थ 'पिंगल सिरोमणी' का एक अध्याय मात्र है।

नागराज डिंगल-कोष

इस कोष के रचयिता के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं होती। केवल कुछ किवदंतियाँ सुनने को मिलती हैं, जिनमें एक किवदंती तो बहुत प्रसिद्ध है[4]

---

१. राजस्थान भारती, भाग १, अंक ४ जनवरी १९४७

२. डॉ. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. १५

३. ,, ,, ,, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ. २०

४. एक बार गरुड़ ने क्रोधित होकर शेषनाग का पीछा किया। शेषनाग ने अपने आपको बचाने की बहुत कोशिश की पर अन्त में कोई उपाय न देख कर गरुड़ को समर्पण कर दिया, पर एक बात उसने ऐसी कही जिससे गरुड़ को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा। नागराज ने कहा, मुझे मरने का दुःख नहीं होगा पर मैं छन्द-शास्त्र की विद्या का जानकार हूं और वह विद्या मेरे साथ ही समाप्त हो जाएगी। ऐसी स्थिति में एक ही उपाय है कि तुम मुझ से छन्द-शास्त्र सुन कर याद कर लो, फिर जो चाहो करना। गरुड़ ने बात मान ली, पर एक आशंका व्यक्त की कि कहीं तुम धोखा देकर भाग न जाओ। इस पर शेषनाग ने वचन दिया कि मैं जब जाऊंगा, तुम्हें कह कर चेतावनी दूंगा कि मैं जा रहा हूं। शेषनाग ने पूरा छन्द-शास्त्र सुनाया और अंत में भुजंगम् प्रयातम् (भुजंगप्रयात—संस्कृत में एक छन्द का नाम) कह कर समुद्र में प्रविष्ट हो गया। शेषनाग की चतुराई पर प्रसन्न होकर कहते हैं कि गरुड़ ने उसे क्षमा कर दिया और आदेश दिया कि छन्द-शास्त्र की पूर्णता के लिए कोष भी बनाओ। तब शेषनाग ने शब्द-कोष का भी निर्माण किया। तब से वे ही इसके प्रणेता माने गये।

जिसके अनुसार शेषनाग ही छन्द-शास्त्र का प्रणेता माना गया है। संस्कृत का 'पिंगल सूत्र' बहुत प्रसिद्ध है, जिसके रचयिता पिंगल मुनि बतलाये जाते हैं। उन्हें शेषनाग का अवतार भी माना गया है। वैसे शेषनाग का पर्याय भी पिंगल होता है। पिंगल शब्द छन्द-शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर डिंगल-भाषा का कोई नागराज या पिंगल नाम का विद्वान हुआ हो ऐसा उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। यह भी सम्भव हो सकता है कि किसी विद्वान ने पिंगल की प्रसिद्धि देख कर, पिंगल के नाम से ही डिंगल में भी ऐसे ग्रन्थ की रचना कर दी हो जो कालान्तर में पिंगल ही की मानी जाने लग गई हो। कई विद्वान इस कोष को काफी प्राचीन मानते हैं।

हमीर नांम-माळा

इसके रचयिता 'हमीरदान रतनू' मारवाड़ के घड़ोई गांव के निवासी थे। पर उनके जीवन का अधिकांश भाग कच्छभुज में ही व्यतीत हुआ। ये अपने समय के अच्छे विद्वानों में गिने जाते थे। इन्होंने छन्द-शास्त्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें 'लखपत पिंगल' बहुत महत्वपूर्ण है। 'भागवत दरपण' के नाम से इन्होंने राजस्थानी में भागवत का अनुवाद किया है, जिससे इनके पांडित्य का प्रमाण मिलता है। 'हमीर नांम-माळा' डिंगल कोषों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है, इसलिए समय-समय पर लिपिबद्ध की हुई प्रतियां भी अच्छी स्थिति में उपलब्ध होती हैं। इसका रचना काल सं. १७७४ है।

संमत छहोतरै सतर मैं
मती ऊपनी हमीर मन,
कीधी पूरी नांम-माळिका
दीपमाळिका तेण दिन।

'हमीर नांम-माळा' डिंगल के प्रसिद्ध गीत 'वेलियो' में लिखी गई है। हर एक शब्द के पर्याय गिनाने के पश्चात अंतिम पंक्तियों में बड़ी खूबी के साथ हरि-महिमा सम्बन्धी सुन्दर उक्तियां कह कर ग्रन्थ में सर्वत्र अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ने का प्रयत्न भी किया गया है। इसलिए यह ग्रन्थ 'हरिजस नांम-माळा' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

'हमीर नांम-माळा' की रचना में धनंजय नाम-माळा, मांनमंजरी, हेमी कोष तथा अमर कोष से भी यथोचित सहायता ली गई है, जिसका जिक्र कवि ने स्वयं अपने ग्रन्थ के अन्त में किया है।[1] 'हमीर नांम-माळा' ३११ छन्दों का ग्रंथ है। इन छन्दों में प्राचीन तथा तत्कालीन साहित्य में प्रचलित डिंगल-भाषा के बहुत से शब्द अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित हैं।

अवधान-माळा

इस ग्रंथ के रचयिता बारहठ उदयराम मारवाड़ के थबूकड़ा ग्राम के निवासी थे। इनकी जन्म-सम्बन्धी निश्चित तिथि उपलब्ध नहीं होती, पर अन्य साधनों के आधार पर यह

---

१. हमीर नांम-माळा, पृ. ८८

सिद्ध होता है कि ये जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी के समकालीन थे ।[1] इन्होंने कच्छभुज के राजा भारमल तथा उसके पुत्र देसल (द्वितीय) की प्रशंसा अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर की है । इससे पता चलता है कि ये उनके कृपापात्र थे और जीवन का अधिकांश भाग वहीं व्यतीत किया था । वे अपने समय के विद्वानों में समादरित तो थे ही इसके अतिरिक्त विभिन्न विद्याओं में निपुण होने के कारण अन्य राज्य-दरबारों में भी सम्मान पा चुके थे ।

इनके ग्रन्थों में 'कविकुलबोध' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । इसमें गीतों के लक्षण उदाहरण सहित दिए गए हैं तथा गीतों में प्रयुक्त अन्य आवश्यक शैलीगत उपकरणों का भी सुन्दर विवेचन किया गया है । अवधान-माळा, अनेकारथी कोष, तथा एकाक्षरी नांम-माळा भी इसी ग्रन्थ से उपलब्ध हुए हैं ।

'अवधान-माळा' ग्रन्थ की छन्द संख्या ५६१ है । डिंगल के प्रचलित शब्दों के अतिरिक्त भी कवि ने कुछ शब्द विद्वतापूर्ण ढंग से बना कर रखे हैं । इस कोष की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि छन्दपूर्ति आदि के लिए पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त बहुत कम निरर्थक शब्दों का प्रयोग इसमें मिलता है ।

इस ग्रंथ में इनका कहीं-कहीं उदयराम के अतिरिक्त उमेदराम नाम भी मिलता है ।

नांम माळा

इस कोप का रचयिता अज्ञात है पर कई शब्दों के प्राचीन शुद्ध डिंगल रूप इस कोप में देखने को मिलते हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि इसका रचयिता कोई अच्छा विद्वान होना चाहिए । ईश्वर, वृक्ष, भमर, चपळा, आदि के कई महत्वपूर्ण पर्याय इस कोप में द्रष्टव्य हैं । छन्द-पूर्ति आदि के लिए भी बहुत ही कम निरर्थक शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है जो कवि का शब्द तथा छन्द दोनों पर अधिकार साबित करता है ।

डिंगल-कोष

पर्यायवाची कोषों में यह कोप सबसे बड़ा है । इस कोप के रचयिता बूंदी के कविराज मुरारिदानजी, महाकवि सूर्यमल के दत्तक पुत्र तथा उनके शिष्यों में से थे । वंशभाष्कर को सम्पूर्ण करने का श्रेय भी इन्हीं को है । इस कोष में करीब ७००० शब्द ग्रन्थकार ने समाहित किये हैं । डिंगल ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों को ही इस ग्रन्थ में स्थान मिला है । अपनी ओर से गढ़े हुए अथवा अप्रचलित शब्दों का मोह कवि को विचलित नहीं कर पाया है । कुछ तत्सम शब्दों को कवि ने कई स्थानों पर निःसंकोच अपनाया है । अमर-कोप की तरह यह कोप भी विभिन्न अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिससे ऐसा आभास होता है कि कवि उक्त कोप की शैली अपनाने का प्रयत्न करना चाहता था ।

---

१. हमारे शोध-संस्थान में सुरक्षित महाराजा मानसिंहजी के समकालीन कवियों के चित्र में इनका चित्र भी नाम सहित मिलता है ।

कोष के प्रारम्भिक अध्यायों में गीतों का लक्षण बताने के पश्चात गीत के उदाहरण में भी पर्यायवाची कोष का निर्वाह किया है । इस प्रकार की शैली अन्य किसी कोष में नहीं अपनाई गई है, यह इसकी अपनी विशेषता है । कोष का निर्माण आधुनिक काल के प्रारम्भ में हुआ है, इसलिए डिंगल से अनभिज्ञ पाठकों की सुविधा को ध्यान में रख कर नामों के शीर्षक प्राय: हिन्दी में ही दिये गये हैं ।

डिंगल-कोषों में यह कोष अंतिम और महत्वपूर्ण है ।

अनेकारथी कोष

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह कोष भी बारहठ उदयराम द्वारा रचित 'कवि-कुलबोध' का ही भाग है । डिंगल भाषा का इस प्रकार का यह एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है । इसमें ठेट डिंगल के अतिरिक्त संस्कृत भाषा के भी शब्द हैं । कहीं-कहीं पर कवि ने अपनी ओर से भी शब्द गढ़ कर रखने का प्रयत्न किया है । जैसे— मधु' के अनेक अर्थ सूचित करने वाले शब्दों में 'विष्णु' नाम न लेकर उसके स्थान पर माकंत शब्द रखा है ।[1] मा=लक्ष्मी, कंत=पति, अर्थात विष्णु । पर विष्णु के लिए माकंत शब्द का प्रयोग डिंगल ग्रन्थों में नहीं देखा गया ।

पूरा ग्रन्थ दोहों में लिखा गया है जिससे कंठस्थ करने में बड़ी सुविधा रहती है । ग्रन्थारंभ में, प्रत्येक दोहे में एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं । आगे जाकर प्रत्येक दोहे में दो शब्दों के अनेकार्थी क्रमश: पहली और दूसरी पंक्ति में रखे गये हैं ।

एकाक्षरी नांम-माळा

इसके रचयिता कवि वीरभांण रतनू भी हमीरदान के ही गांव घड़ोई (मारवाड़) के रहने वाले थे । इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती । पर इतना तो निश्चित है कि ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के समकालीन थे । यह उनके प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'राजरूपक' से प्रमाणित होता है, जो अभयसिंहजी द्वारा किये गये अहमदाबाद के युद्ध की घटना को लेकर लिखा गया है । यह भी कहा जाता है कि कवि स्वयं उस युद्ध में मौजूद था ।

उनका यह एकाक्षरी कोष आकार में बहुत छोटा है । कोष बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से लिखा गया है । इसमें न तो कोई क्रम अपनाया गया है और न अलग-अलग शीर्षक देकर ही कोई विभाजन किया गया है । ऐसी स्थिति में कई स्थानों पर अस्पष्टता रह गई है ।

एकाक्षरी नांम-माळा

यह कोष भी बारहठ उदयरामजी के 'कविकुलबोध' से ही लिया गया है । ग्रन्थ की

---

१. अनेकारथी कोष—पृ० २६५, छंद ५

दसवीं लहर या तरंग के अन्त में यह पूर्ण हुआ है। ऐसा क्रमानुसार लिखा हुआ पूर्ण कोष डिंगल में दूसरा नहीं मिलता। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश के कई कोषों में भी इस प्रकार की क्रम-व्यवस्था कम देखने को मिलती है। अन्य कोषों की तरह इस कोष में भी कवि ने अपने विस्तृत ज्ञान का परिचय दिया है। ठेट डिंगल के अतिरिक्त संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, पर कहीं-कहीं तो जन-जीवन में प्रचलित अत्यन्त साधारण शब्दों तक को कवि ने अनोखे ढंग से अपनाया है। जैसे 'झै' का अर्थ उन्होंने करभ-झेकतांकाज[1] अर्थात ऊँट को बैठाते समय किया जाने वाला शब्दोच्चारण किया है, जो जन-जीवन में अत्यन्त प्रचलित है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि के सूक्ष्म अध्ययन का परिचायक है।

संग्रहीत कोषों में ३ कोष बारहठ उदयरामजी के हैं। तीनों कोष अपने ढंग के अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतः डिंगल-कोष रचना में उदयरामजी का विशेष स्थान है।

कोषों-सम्बन्धी इस आवश्यक जानकारी के पश्चात अब उनकी कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया जाता है जो इनके प्रयोग तथा मूल्यांकन में सहायक होगा।

(१) इन कोषों में कई स्थल ऐसे भी हैं जहां जातिवाचक शब्दों के अन्तर्गत व्यक्तिवाचक शब्दों को भी ले लिया गया है। जैसे 'अप्सरा' के पर्याय गिनाते समय विशिष्ट अप्सराओं के नाम भी उसी में समाहित कर लिये गये हैं।[2] पर यहां एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि डिंगल के प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में व्यक्तिवाचक शब्दों का प्रयोग जातिवाचक शब्दों की तरह भी किया गया है। एरावत इन्द्र के हाथी का ही नाम है पर साधारण हाथी के लिए भी प्रयुक्त होता रहा है। अतः संभवतया ग्रन्थकारों ने इस प्रकार की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही यह प्रणाली अपनाई होगी।

(२) कई स्थानों में पर्यायवाची शब्दों का रूप एकवचनात्मक से बहुवचनात्मक कर दिया गया है। जैसे, तलवार के लिए—करवांणां, करवाळां आदि[3], घोड़े के लिये—हयां, रेवतां, साकुरां, अस्सां, जंगमां, पमंगां, हैवरां आदि[4]। यह केवल मात्राओं की पूर्ति के लिये तथा तुक के आग्रह से किया गया प्रतीत होता है।

(३) कहीं-कहीं पर्यायवाची देने के साथ, बीच-बीच में, वस्तु की विशेषताओं और प्रयोग आदि का वर्णन करके भी अपनी विशेष जानकारी को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। 'नूपुर' के पर्याय गिनाते समय उससे शरीर में हर्ष संचरित होने वाली विशेषता की सूचना भी दी है[5] और 'नागरवेल' के पर्यायवाची शब्दों के साथ उसके प्रयोग का जिक्र भी किया है।[6] इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण इनमें बिखरे मिलेंगे।

---

१. एकाक्षरी नांम-माळा—पृ. २६५, छंद ११६
२. डिंगल नांम-माळा—पृ. २२, छंद १७ अवधान-माळा—पृ. ६७, ७५
३. डिंगल नांम-माळा—पृ० २०, छंद ८
४. डिंगल-कोष—पृ०—१७५, छंद ८१
५. अवधान माळा—पृ० १३४, छंद ४८५
६. अवधान-माळा—पृ० १४२, छंद ५५६

(४) विद्वान कवियों ने कई शब्दों की परिभाषा तक देने का प्रयत्न किया है। जैसे, प्राकृत को नर-भाषा, मागधी को नाग-भाषा, संस्कृत को सुर-भाषा, और पिसाची को राक्षसों की भाषा कह कर समझाने का प्रयत्न किया है।[1]

(५) कुछ ऐसे शब्दों को भी किसी शब्द के पर्याय के रूप में स्थान दे दिया गया है जो कि सही अर्थ में ठीक पर्याय न होकर कुछ भिन्न अर्थ व्यंजित करने की भी क्षमता रखते हैं। जैसे 'स्नेह' के लिए 'संतोष' तथा 'सुख' आदि का प्रयोग।[2] इस प्रकार की उदारता थोड़ी-बहुत सभी कोषों में बरती गई है।

(६) जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है, कई कवियों ने अपनी चतुराई से भी शब्द गढ़े हैं जो बड़े ही उपयुक्त जंचते हैं। जैसे—ऊंट के लिए 'फीणनांखतो'[3] तथा अर्जुन के लिए 'मरदां-मरद'[4] शब्द का प्रयोग किया गया है, पर ये शब्द प्राचीन डिंगल कविता में उपरोक्त अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए। इस प्रकार शब्द-रचना की स्वतन्त्रता बहुत कम स्थानों पर ही देखने में आती है।

(७) कई स्थानों पर तो शब्दों के पर्यायवाची न रख कर केवल तत्सम्बन्धी वस्तुओं की नामावली मात्र दी गई है। उदाहरणार्थ—सताईस नक्षत्र नाम[5] शीर्षक के अंतर्गत २७ नक्षत्रों के नाम गिना दिये गये हैं, जो कि सत्ताईस नक्षत्र के पर्यायवाची नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार चौईस अवतार नांम[6], सातधात रा नांम[7], बारै रासां रा नांम[8], आदि के सम्बन्ध में भी यही युक्ति काम में ली गई है।

(८) छंद-पूर्ति के लिए कई निरर्थक शब्दों का प्रयोग करना भी आवश्यक हो गया है। प्रत्येक कवि ने अपनी इच्छानुसार छंद-पूर्ति करने की कोशिश की है। छंद-रचना में कुछ कवियों ने कम-से-कम भरती के शब्दों को स्थान दिया है पर कई कवियों ने पूरी पंक्ति तक, अपने नाम की छाप लगाने को समाविष्ट कर ली है। आखो, आख, कहो, मुणो, मुणात, चवो, चवीजै, गिणो, गिणात आदि शब्द छंद में गति उत्पन्न करने तथा मात्राओं की पूर्ति के लिए बहुत प्रयुक्त हुए हैं। आधुनिक ढंग से जो भी कोश-निर्माण कार्य आधुनिक युग में सम्पन्न हुआ है उसमें इन प्रकाशित कोशों से बड़ी सहायता मिली है और आगे भी अनेक दृष्टियों से इनकी उपादेयता रहेगी।[9]

---

१. अवधान-माळा—पृ० १३१, छंद ४६०
२. हमीर नांम-माळा—पृ० ६६, २०१
३. नागराज डिंगल-कोष—पृ० २८, छंद ५
४. हमीर नांम-माळा—पृ० ५५, छंद १२४
५. अवधान-माळा—पृ० १३०, छंद ४४८, ४४६, ४५०, ४५१
६. अवधान-माळा—पृ० १३०, छंद ४४२, ४४३, ४४४
७. ,, ,, —पृ० १३१, छंद ४५६
८. ,, ,, —पृ० १३१, छंद ४५२
६. ये कोश मेरे सम्पादन में पहले 'परम्परा' में (सन् १९५७) तदुपरान्त स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

आधुनिक राजस्थानी कोश निर्माण

आधुनिक राजस्थानी कोश निर्माण कार्य में श्री रामकर्णजी आसोपा अग्रणी थे। उन्होंने जोधपुर के प्रधानमंत्री सर सुखदेव प्रसाद की प्रेरणा से राजस्थानी कोश का कार्य प्रारम्भ किया था और कोई ५०-६० हजार शब्दों का संकलन भी सोदाहरण किया पर समय के उलटफेर में वे इस कार्य को आगे नहीं बढ़ा पाये। उनकी मृत्यु के कई वर्ष पश्चात वह सामग्री सादूर्ल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बीकानेर को प्राप्त हुई जो एक वृहद् कोश बनाने के कार्य में तब संलग्न था।

इस दिशा में सबसे बड़ा कार्य 'राजस्थानी सबद कोस' के प्रकाशन का हुआ है। इसमें दो लाख से भी अधिक शब्द हैं। इस कोश के कर्त्ता जोधपुर के श्री उदयराजजी उज्वल और श्री सीतारामजी लालस हैं और इसके व्युत्पत्ति संशोधक स्व. पंडित नित्यानन्दजी शास्त्री हैं। आगे का सम्पादन कार्य श्री सीतारामजी लालस ने किया है। इसमें अनेक साधनों से शब्द संकलन किया गया है। साहित्य, ज्योतिष, जैन दर्शन, वैद्यक व विभिन्न बोलियों के शब्दों के अलावा तत्सम शब्द भी इसमें शामिल किये गये हैं। उदाहरणों में कहावतों व मुहावरों को भी स्थान दिया गया है। इसका दीर्घ अवधि में चार खण्डो में प्रकाशन हुआ है।

इस वृहद् कोश निर्माण की अपनी अनेक खूबियें व खामियां हैं जिन पर यहां संक्षेप में प्रकाश डालना न संभव है न सम्प्रति समीचीन ही।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक आधारभूत कार्य है और भविष्य के मानक कोश निर्माण में इसकी बड़ी उपयोगिता रहेगी क्योंकि अनेक लोगों के मूल्यवान श्रम से बटोरी गई इस सामग्री के अनेक अंश आगे जाकर दुर्लभ हो सकते थे।

इधर आचार्य बदरीप्रसादजी साकरिया द्वारा सम्पादित संक्षिप्त राजस्थानी कोश का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ है। द्वितीय खण्ड प्रकाशनाधीन है।

बदरीप्रसादजी ने लम्बे समय तक बीकानेर में तैयार होने वाले कोश का संपादन कार्य किया था अतः उनके सुदीर्घ अनुभव का लाभ भी इस कोश को मिला है। यह कोश विद्यार्थियों के लिए उपयोगी साबित होगा। इसमें कई ऐसे शब्द भी ले लिये गये हैं जो वृहद् कोश में छूट गये हैं।

अब राजस्थानी में लेखन कार्य जहां प्रगति पर है वहां स्कूलों और कालेजों में इसका पठन पाठन भी होने लगा है अतः इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए एक सर्वसुलभ वैज्ञानिक कोश की अति आवश्यकता है जिसके अर्थ भी राजस्थानी में ही हों। उपरोक्त कोशों के अर्थ हिन्दी में दिये गये हैं और यह अधूरापन खटकने वाला है क्योंकि किसी भाषा के शब्दों का वास्तविक अर्थ उसी भाषा में समझाया जाना अधिक समीचीन होता है जिससे कि उस शब्द के सांस्कृतिक परिवेश को मूल रूप में हृदयंगम किया जा सके और नवीन लेखन में भी वह शब्द-सम्पदा अपने स्वाभाविक जीवन्त रूप में उतर सके।

राजस्थानी साहित्य की परम्परा से सुपरिचित व यहां की संस्कृति में रमा हुआ व्यक्तित्व ही ऐसे कोश-निर्माण में सक्षम हो सकता है।

राजस्थानी छंदशास्त्र परम्परा – पिंगल सिरोमणी

छन्द शब्द की निष्पत्ति छद धातु से मानी गई है। भारत की प्राचीन काव्य-परम्परा में छन्दों का विशेष महत्व रहा है। अति प्राचीन काल में ऋषि मुनियों तक ने अपने चिन्तन को छन्दों के माध्यम से ही व्यक्त किया है। हमारे आचार्य छन्दों के प्रयोग में जितने निपुण थे उतने ही उनके महत्व के बारे में जागरूक भी। इसीलिए छन्दों को उन्होंने वेदों के ६ अंगों में से एक आवश्यक अंग माना है। 'छन्द: पादौतु वेदस्य' कह कर वेदों को समय की यात्रा कराने वाले अनिवार्य अंग के रूप में इन्हें अंगीकार किया है। उस समय में आज की-सी वैज्ञानिक सुविधाएं समाज को उपलब्ध नहीं थीं जिसके सहारे वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करते। इसलिए मौलिक रूप में अपनी कृतियों को सुरक्षित रखने तथा आने वाली पीढ़ियों को उनसे लाभान्वित करने के लिए उन्हें छन्दों के माध्यम का सहारा लेना पड़ा, जिनका स्मृति के साथ सहज लगाव रह सकता था।

हमारे प्राचीनतम वैदिक ग्रंथों में ७ प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है पर बाद के संस्कृत साहित्य में छंदों की संख्या धीरे धीरे बढ़ती गई। विषयों की विविधता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति की शैलियों में भी अनेकरूपता परिलक्षित होने लगी और कई प्रकार के छन्दों का निर्माण कवियों की प्रतिभा ने किया। वाल्मीकि रामायण में १३ प्रकार के, महाभारत में १८ प्रकार के और भागवत में २५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग देखने में आता है। जब यह विषय काव्य शास्त्रियों के हाथ में आया तो रीतिग्रंथों और छंद-शास्त्रों का निर्माण होने लगा। काव्य के विभिन्न अंगों पर इतना बारीकी से विचार किया जाने लगा कि वह स्वयं अपने आप में एक महत्वपूर्ण विषय बन गया। संस्कृत में कई एक काव्य शास्त्रों की रचना हुई पर छंद शास्त्रों की दृष्टि से पिंगल मुनि का 'छंद: सूत्र' बहुत महत्वपूर्ण है जिससे बाद के आचार्यों ने भी पूरी सहायता ली है।

इसके पश्चात् प्राकृत व अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी कवियों की आवश्यकता और आचार्यों की सूझबूझ के अनुसार कई नये छंदों का निर्माण हुआ और उनके आधार पर शास्त्रों की रचना की गई। १४ वीं शताब्दी में रचा गया हरिहर कृत प्राकृत-पिंगल-अपभ्रंश आदि भाषाओं की मात्रिक छंद परम्परा को समझने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है।

यहां छंद शास्त्रों की परम्परा अपना वेप बदल कर आधुनिक भारतीय भापाओं में भी आई जिनमें डिंगल का सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश की परम्परा से रहा है और अपभ्रंश के कई छंद डिंगल में ज्यों के त्यों प्रयुक्त होने लगे। आगे जाकर डिंगल ने अपनी स्वतन्त्र छंदशास्त्र की परम्परा भी कायम करली।

डिंगल के नामकरण पर विचार करते समय कई विद्वानों का यह भी मत रहा कि डिंगल की काव्य-रचना नियमवद्ध नहीं थी और न उसके लिए अलग से कोई काव्य-शास्त्र की व्यवस्था ही थी, अतः पिंगल जैसी सुव्यवस्थित काव्य रचना की तुलना में उसे अनगढ़ काव्य-रचना मान कर ही डिंगल नाम दे दिया गया। पर यह धारणा सर्वथा भ्रामक है जैसा कि उसकी काव्य-रचना के नियमों तथा छंद शास्त्र की समृद्ध परम्परा से प्रमाणित होता है।

पिछले कुछ वर्षों की खोज के परिणाम स्वरूप जो भी रीति-ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं उनमें हरराज का पिंगल सिरोमणी हमीरदान रतनू का पिंगळ प्रकास[१] तथा लखपत पिंगळ[२], जोगीदास चारण कृत हरि पिंगळ[३], उदयराम कृत कविकुल, बोध[४], मंछाराम सेवग कृत रघुनाथ रूपक और किशनाजी आढ़ा कृत 'रघुवरजसप्रकास[५], उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक ग्रंथ की अपनी विशेपता है। कुछ ग्रन्थों में डिंगल गीतों पर विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं वहाँ वैणसगाई, जथा तथा उक्ति आदि उपकरणों व अन्य छंदों तथा अलंकारों पर भी स्वतंत्र ढंग से विचार किया गया है। परन्तु ये सभी ग्रंथ महत्वपूर्ण होते हुए भी अधिक प्राचीन नहीं हैं। इन सब का रचना काल १७ वीं शताब्दी के बाद का है। उपरोक्त ग्रंथो में 'पिंगळ सिरोमणी' की रचना जैसलमेर के कुंवर हरराज द्वारा लगभग सं. १६१५ और १६१८ के बीच की गई। अतः राजस्थानी छंद शास्त्रों की परम्परा में प्राचीनता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेप महत्व है।

ग्रन्थकर्त्ताओं ने इस ग्रंथ में कई स्थलों पर संस्कृत आचार्यों के अतिरिक्त कई पूर्वाचार्यों का भी उल्लेख किया है जिससे उसने अपने ग्रंथ का सम्बन्ध सूत्र राजस्थानी छंद-शास्त्र की पूर्व परम्परा से भी जोड़ने का प्रयास किया है। गीत प्रकरण के प्रारम्भ में तो उसने स्पष्ट लिखा है कि 'सिन्धु जाति के दो कवि बादशाह के भट्ट हुए। उन्होंने गीतों का बहुत वड़ा ग्रंथ वनाया पर आचार्यों ने उसे प्रामाणिक नहीं माना।'[६] इससे प्रतीत होता है कि राजस्थानी छंद शास्त्रों की परम्परा प्रस्तुत ग्रंथ से पहले भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। कवि ने पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द वरदाई के रचे हुए पिंगल[७] का तथा नागराज[८] के पिंगल का भी उल्लेख इस संदर्भ में किया है, वह भी इस दृष्टि से विचारणीय है तथा शोधकर्त्ताओं के लिए इस दिशा में महत्वपूर्ण संकेत है।

पिंगल सिरोमणी ग्रंथ प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, अन्य कई कारणों से भी वड़ा महत्वपूर्ण है। संक्षेप में इसकी विशेपताएँ निम्न प्रकार हैं।

---

१. रचनाकाल सं. १७६८। २. र. का. सं. १७९६। ३. र. का. सं. १७२१ ४. महाराजा मानसिंह जोधपुर के समय में रचा गया। ५. र. का. सं. १८८१ ६. पृष्ठ १५१, ७. पृ. १६३,पृ. ८. ११६

इस ग्रंथ में गायत्री, अनुष्टुप, शक्वरी आदि महत्वपूर्ण संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त २३ प्रकार के दोहों, २८ प्रकार की गाथाओं के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। बाद में रचे गये छन्द-शास्त्रों में प्रायः छप्पय के नाम गिना कर या दो चार के उदाहरण देकर छोड़ दिये गये हैं। पर इस ग्रंथ में उदाहरण के तौर पर उन्हतर छप्पय प्रस्तार के अनुसार कवि ने रचे हैं।

वर्ण-प्रस्तार तथा मात्रा-प्रस्तार भी उदाहरण सहित दिये गये हैं जिससे छन्द-शास्त्र को समझने में बड़ी सहूलियत होती है।

लगभग ७५ प्रकार के अलंकारों को कवि ने इस ग्रंथ में स्थान दिया है और उनमें से कई एक का उदाहरण भी शास्त्रोक्त पीठिका के साथ प्रस्तुत किया है। अन्य उपलब्ध राजस्थानी छन्द-शास्त्रों में अलंकारों पर ऐसा विचार नहीं किया गया है।

कामधेनका, कपाटवंध, कंवळवंध, चक्रवंध, अंकुशवंध, खटकमळवंध आदि चित्र-काव्यों को भी चित्रों सहित प्रस्तुत किया गया है, जो कवि की विद्वता का परिचायक है और राजस्थानी में चित्र-काव्य-परम्परा की पृष्ठभूमि इनसे स्पष्ट होती है।

'डिगळ नांम माळा' में राजा, मंत्री, जोध, हाथी, घोड़ा, रथ, व्रखभ, धरती, तीर, तरवार, आकास, व्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के पर्यायवाची शब्दों का छन्दोबद्ध संकलन कर कवि ने उस समय की राजस्थानी भाषा के सामर्थ्य का परिचय दिया है। यह प्रकरण एक ओर जहां कोश परम्परा का द्योतक है वहां राजस्थानी और उससे सम्बन्धित भाषाओं के इतिहास की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है।

इस ग्रंथ का अन्तिम प्रकरण डिंगल गीतों से सम्बन्धित है। डिंगल गीतों की रचना प्राचीन राजस्थानी काव्य की अपनी विशेषता है। यहां कवि ने लगभग ४० गीतों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अन्य छन्द-शास्त्रों से मिलान करने पर पता लगता है कि इसके अधिकांश गीतों के नाम उनमें आए हुए गीतों से भी मिलते हैं पर उनके लक्षणों में थोड़ी बहुत भिन्नता है। कई गीत तो इसमें ऐसे भी हैं जो परवर्ती ग्रन्थों में नहीं मिलते। गीतों के उदाहरण के रूप में प्राचीन एवं समकालीन कवियों के विभिन्न विषयों पर रचे हुए सुन्दर गीतों को प्रस्तुत कर ग्रन्थकर्त्ता ने राजस्थानी साहित्य की अलभ्य सामग्री प्रस्तुत की है जो उसके इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। कुछ गीत उस समय के बाद के भी हैं जो कि प्रक्षिप्त मालूम होते हैं।

कई गीतों को छोड़कर ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय राम की कथा है। वर्ण्य-विषय की इस परम्परा का निर्वाह—रघुनाथ रूपक, रघुवरजसप्रकास, हरिपिंगल आदि परवर्ती ग्रन्थों में भी किसी न किसी रूप में किया गया है।

इस प्रकार छंद-शास्त्रों के माध्यम से राजस्थानी में राम की महिमा का विभिन्न छन्दों और शैलियों में अच्छा वर्णन हो गया है और कवियों ने अपने शास्त्रीय ज्ञान को यहां के लोगों के लिए इस रूप में सुलभ कर दिया है।

स्थान-स्थान पर छन्दों के लक्षणों सम्बन्धी भेदोपभेदों तथा विवादास्पद तथ्यों पर प्रकाश डालने के लिए वार्ता का प्रयोग भी किया गया है। वार्ता के ये अंश पूरे ग्रन्थ में

रोचकता ले आये हैं। इन गद्यांशों में प्रयुक्त भाषा राजस्थानी के परिष्कृत गद्य का सुन्दर उदाहरण है।

इसमें काव्य-रचना छन्दों के लक्षण व उदाहरण स्पष्ट करने के लिए की गई है पर कई छन्दों के स्थल काव्य-कला की दृष्टि से भी सुन्दर बन पड़े हैं। कुछ छप्पय तथा गीतों में चित्रोपमता, ध्वन्यात्मकता और भावाभिव्यक्ति का अच्छा सामंजस्य देखने को मिलता है। युद्ध-वर्णन में वीर, रौद्र और भयानक रस का भी वर्णन बड़ी दक्षता के साथ किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि कवि केवल छन्द-शास्त्र का ही विद्वान नहीं अपितु कवि-हृदय रखने वाला भी है।

यह ग्रन्थ छन्द-शास्त्रियों के लिए जितना महत्वपूर्ण है उतना ही भाषा शास्त्रियों के लिए भी उपयोगी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसकी रचना १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई है। उस समय तक राजस्थानी भाषा पुरानी पश्चिमी राजस्थान की कई एक विशेषताओं को त्याग कर नया मोड़ ले चुकी थी। उस समय की भाषा का स्वरूप इस ग्रन्थ में सुरक्षित है। इसमें प्रयुक्त भाषा अत्यन्त परिष्कृत और साहित्यिक स्तर की है। इसमें ठेट राजस्थानी के शब्दों का प्रयोग बड़ी निपुणता से किया गया है। भाषा में प्रवाह ध्वन्यात्मकता तथा चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता है। भाषा और काव्य रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने समय का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अतः अनेक दृष्टियों से इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व है।

ग्रन्थ में इसका रचयिता कुंवर हरराज को बताया गया है जिनके सम्बन्ध में इतिहास में कम सामग्री मिलती है। मुहणोत नैणसी की ख्यात तथा कर्नल टॉड के राजस्थान में इन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। अन्य इतिहासों[1] से भी केवल इतना ही मालूम होता है कि उनका जन्म सं० १५९८ में हुआ, वे सं० १६१८ में राज्य गद्दी पर बैठे और सं० १६३४ में उनका देहान्त हो गया। वे विद्याप्रेमी और कुशल शासक थे। डूंगरसी रतनू जैसे श्रेष्ठ कवि उनके आश्रित थे। ख्यातों से यह भी पता लगता है कि उनकी लड़की बीकानेर के प्रसिद्ध कवि राठौड़ पृथ्वीराज को ब्याही थी। उनके कवि होने के प्रमाण स्वरूप कुछ गीत आदि मिलते हैं।[2]

---

१. राजपूताने का इतिहास, पृ. ६७१–जगदीशसिंह गहलोत। जैसलमेर का इतिहास, पृ. ८९, पंडित हरिदत्त गोविन्द।

२. जाव गढ़ राज भल भल जावे, राज गयां नहिं सोक रती।
गजब ढहे कविराज गयां सूं, पलटै मत वण छत्रपती ॥ १

हालण सुमग सुमाग हलाणा, रहणी कहणी एक रहे।
तारण तरण छत्रियां ताकव, कुळ चारण हरराज कहै ॥ २

धू धारण केवट छत्री ध्रम, कळयण छत्रवट माळ कमी।
वध छत्रवाट प्राजळण वेळा, ईहग सींचणहार श्रमी ॥ ३

वायक अगम निगम रा वेता, हद विसवाणी अकथ हदे।
उपजेला दुर्भाव इणां सूं, जांणो निकट विणास जदे ॥ ४

आद छत्रियां रतन अमोलौ, कुळ चारण अपणास कियौ।
चोळी दांमण समंध चारणां, जिणवळ हल अल रूप जियौ॥ ५

रचनाकार के प्रश्न पर पुनर्विचार

पिंगल सिरोमणी ग्रन्थ हमने 'परम्परा' भाग १३ में सन् १९६१-६२ में प्रकाशित किया था और इसकी एक मात्र प्रति हमें अगरचन्दजी नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। उस समय अन्य प्रतियों के लिये खोज भी की गई परन्तु दूसरी कोई प्रति उपलब्ध न होने पर इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को एक प्रति के आधार पर ही प्रकाश में लाना उचित समझा गया क्योंकि अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ शोधकर्त्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 17 वर्ष का समय बीतने पर भी इसकी अन्य कोई प्रति अब भी उपलब्ध नहीं हो सकी है। परम्परा में यह ग्रंथ प्रकाशित करते समय ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही सम्पादकीय में कुंवर हरराज द्वारा यह ग्रन्थ रचे जाने का उल्लेख किया गया था पर उसके साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि इस ग्रन्थ के कुछ स्थलों पर वार्ता आदि के माध्यम से छन्दों व अलंकारों के लक्षण समझाये गये हैं वहां कुशललाभ का नामोल्लेख हुआ है और उसके सहयोग से हरराज द्वारा यह ग्रंथ रचे जाने की धारणा व्यक्त की गई थी। इसके अतिरिक्त उक्त सम्पादकीय में इन तथ्यों की तरफ भी संक्षेप में संकेत किया गया था कि इस ग्रन्थ के गीत प्रकरण में जहां उदाहरण के तौर पर कुछ गीत प्रस्तुत किये गये हैं उनमें से कुछ की प्राचीनता (समसामयिकता) में संदेह है और पाद टिप्पणी में उदाहरणार्थ गजसिंह के गीत का संकेत भी कर दिया गया था और यह संभावना प्रकट की गयी थी कि ऐसे कुछ गीत बाद में किसी लिपिकर्त्ता ने उदाहरण के तौर पर जोड़ दिये होंगे व अन्य किसी प्रति के अभाव में अन्तिम निर्णय पर पहुंचना कठिन है। कहने का आशय यह है कि इस ग्रन्थ के अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर ही अनेक दृष्टियों से इस ग्रन्थ के रचयिता आदि पर विचार कर लिया गया था।

परन्तु इधर डा. हीरालाल माहेश्वरी ने हरराज को इसका रचयिता मानने में आपत्ति प्रकट की है[1] और यह भी दर्शाया है कि सम्पादक ने इसके अन्तरङ्ग साक्ष्य पर ध्यान नहीं दिया है और न इस ग्रन्थ का सम्पादन वैज्ञानिक रीति से किया गया है। डिंगल व उडिंगल शब्दों की विवेचना प्रस्तुत करते समय ये बातें प्रकट की गई हैं।

इस प्रसंग में उन्होंने मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं :

१. इस ग्रन्थ का रचयिता कुंवर हरराज न होकर कुशललाभ है। अगरचन्दजी नाहटा आदि भी कुशललाभ को इस ग्रन्थ का रचयिता मानते हैं।

२. फिर वे प्रश्नोत्तर वाले स्थलों के आधार पर कुशललाभ को इसका रचयिता मानने में संकोच भी प्रकट करते हैं।

३. इस ग्रन्थ में आये हुए डिंगल व उडिंगल शब्दों पर विचार करते समय उन्होंने उडिंगल शब्द को अग्राह्य बताते हुए इस ग्रन्थ का पाठ सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति पर न किये जाने पर असंतोष व्यक्त किया है।

१–राजस्थानी सबद कोस—चतुर्थ खण्ड की भूमिका।

उपर्युक्त तीनों विन्दुओं पर मेरा मन्तव्य इस प्रकार है :

१. इस ग्रन्थ का रचयिता हरराज नहीं कुशललाभ है इसके लिए उन्होंने दो दलीलें दी हैं। पहली तो यह कि अगरचन्दजी नाहटा प्रभृति अधिकांश लोग इसको जैन कवि कुशललाभ की रचना मानते हैं। अगरचन्दजी नाहटा आदि विद्वानों ने इस प्रश्न पर चलते हुए ढंग से ही यह विचार प्रकट किया और उनका मत सप्रमाण न होने से मान्य नहीं हो सकता।

२. प्रारम्भ में जहां वे निःसंकोच भाव से कुशललाभ को इस ग्रन्थ का रचयिता मानते हैं वहां आगे जाकर अंतरंग के आधार पर (जिसे वे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं) वे कुशललाभ को भी इसका रचयिता मानना ठीक नहीं समझते। वे लिखते हैं कि "वर्तमान में यह जिस रूप में प्राप्त है उस रूप में इसको कुशललाभ की रचना मानने में भी संकोच होता है।" इस प्रकार एक ही सांस में दो विरोधी बातें वे प्रकट करते हैं जो तर्क के आधार पर सही नहीं कही जा सकतीं और प्रथम विन्दु में उन्होंने जो बात कही है वह अपने आप ही उनके द्वारा दूसरे विन्दु में निरस्त कर दी गई है। वे किस रीति से किस निर्णय पर पहुंचना चाहते हैं यह भी पता नहीं चलता। ग्रन्थ जिस रूप में प्राप्त है उसके अंतरंग साक्ष्य की बात उठाने का कष्ट ही फिर क्यों किया गया ?

३. तीसरे विन्दु में इस ग्रन्थ में आए हुए डिंगल व उडिंगल शब्दों पर विचार किया गया है। ऐसा करते समय उडिंगल शब्द को विचारणीय बताते हुए उसे अग्राह्य बताने हेतु वैज्ञानिक पाठ सम्पादन की अपेक्षा पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि इस ग्रन्थ की एक ही प्रति जिस रूप में उपलब्ध थी उसी को आधार बनाकर यह प्रकाशन किया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि जिस रूप में ये शब्द इस प्रकाशन में छपे हैं उन पर वे कोई आपत्ति प्रकट नहीं करते, फिर भी डिंगल शब्द की व्याप्ति पर विचार करने हेतु इस प्रकाशन का वैज्ञानिक रीति से पाठ सम्पादन न हो सकने की बात निष्कर्ष रूप में लाना चाहते हैं।

मेरे ख्याल से अपनी बात कहने के उत्साह में डा. माहेश्वरी इस तथ्य को भूल गये हैं कि इस ग्रंथ की एक ही प्रति उपलब्ध थी जिसका स्पष्ट उल्लेख सम्पादकीय में कर दिया गया है। जिस वैज्ञानिक पाठ सम्पादन की बात वे अनेक प्रतियों के आधार पर इसी प्रसंग में करते हैं, वह तो अन्य प्रतियां मिले विना ही कैसे सम्भव होता, अतः उनकी यह बात यहां बड़ी वेतुकी लगती है। यदि उनका यह मानना हो कि एक प्रति के आधार पर सम्पादन किया ही नहीं जाना चाहिये तो यह उनका भ्रम ही है।[1]

ग्रंथ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार करते समय उन्होंने यह विशेष रूप से दर्शाने की चेष्टा की है कि इस ग्रंथ के अनेक गीत हरराज के समकालीन न होकर बाद के

---

१. द्रष्टव्य : पांडुलिपि विज्ञान—ले. डा. सत्येन्द्र, पृ. २४०।

हैं और इन तथ्यों को इस प्रकार प्रकट किया है जैसे सम्पादक ने इस ओर संकेत ही न किया हो और वह इस बात से पूर्णतया अनभिज्ञ हो जबकि सम्पादकीय (जिसे उन्होंने शायद पढ़ा ही नहीं) के पृष्ठ १५ पर यह तथ्य स्पष्टतया अंकित कर दिया है और जैसा कि पहले कहा गया है पाद टिप्पणी में एक गीत का उदाहरणार्थ उल्लेख भी किया गया है।

रचनाकार के प्रश्न पर भी सम्पादकीय में अंतरंग साक्ष्य के आधार पर विचार किया गया है पर यहां मैं पुनः उल्लेख करना चाहूंगा कि ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरणों की समाप्ति पर और ग्रन्थ के अंत में भी इसके कर्त्ता का नाम 'कुंवर हरराज विरचित' ही लिखा मिलता है तथा ग्रंथ के कुछ पद्यांशों में भी हरराज का उल्लेख रचयिता के रूप में हुआ है। यदि हरराज इसका रचयिता न होता तो इतनी प्राचीन प्रति (संवत् १८००) में ऐसा उल्लेख होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। इस प्रसंग में सम्पादकीय में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पुष्पिका वाले दोहों में जो 'पांडव मुनि सर मेदनी' वाला दोहा है वह अशुद्ध है अतः प्रक्षिप्त जान पड़ता है क्योंकि इस पंक्ति के अनुसार तो संवत् १५७५ इसका रचनाकाल होता है जो कि अयुक्त है क्योंकि इस समय तक तो हरराज का जन्म ही नहीं हुआ था और न यह काल कुशललाभ के लिए ही उपयुक्त जंचता है क्योंकि उनका काल संवत् १५८० से १६५० माना गया है अतः इसी पद्यांश में 'कुशललाभ कवि वरणव्यौ' की प्रामाणिकता भी अपने आप संदेहास्पद हो जाती है। ग्रन्थ में जहां प्रश्नोत्तर वाले स्थलों पर कुशललाभ का उल्लेख हुआ है उसे भी गौर से देखने पर यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थ-रचना प्रक्रिया के दौरान हरराज को जहां कठिनाई या अस्पष्टता लगी उसका निराकरण कुशललाभ से प्रश्न पूछ कर उसने किया है।

अतः इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए ही कुंवर हरराज को इसका प्रणेता स्वीकार किया गया था। यदि इस ग्रंथ की अन्य प्रतियां उपलब्ध हो जाती हैं और कोई ऐसे प्रमाण सामने आते हैं, जिनके आधार पर रचयिता के बारे में इतर निर्णय निकलता हो तो उसे मान लेने में मुझे भी क्या आपत्ति हो सकती है? वैसे शोध-कार्य वास्तव में एक प्रोसेस है। किसी कृति या कृतिकार के सम्बन्ध में किसी शोधकर्त्ता को विशिष्ट या अतिरिक्त जानकारी बाद में मिल जाती है तो उस उपलब्धि को लेकर न तो वह तीसमारखांई दिखाने का अधिकारी हो जाता है, न पहले कार्य कर देने वाले का योगदान ही कम होता है। फिर कौनसा कार्य कब और किन परिस्थितियों में किया गया उसी परिप्रेक्ष्य में ऐसे कार्यो का महत्व भी आंका जाना चाहिये। परन्तु डा. माहेश्वरी ने तो अपनी बात की पुष्टि के लिये कोई नये तथ्य या प्रमाण भी प्रस्तुत नहीं किये हैं।

डा. माहेश्वरी ने जिस प्रसंग में ये सब बातें उठाई हैं वह प्रसंग केवल डिंगल शब्द से सम्बन्धित था पर उन्होंने सायास विषयान्तर कर के वैज्ञानिक सम्पादन की कमी का चलता हुआ निष्कर्ष निकाला और अनेक अंतर्विरोधी बातें प्रकट कीं वे प्रमादपूर्ण ही कही जा सकती हैं।

आज हिन्दी व राजस्थानी में असंतुलित आलोचनाओं की कमी नहीं है, न ऐसे लोगों की कमी है जो सम्मति या भूमिका का निमन्त्रण पाते ही अभिभूत होकर प्रसंशा

प्रालेख प्रस्तुत कर देते हैं ताकि वह कृतिकार द्वारा कृति के साथ अवश्य प्रकाशित की जावे और इस नाते ही सही उनका नाम पाठकों की दृष्टि में आता रहे। पर डा. माहेश्वरीजी के काम के बारे में मैं सदा आश्वस्त रहा हूं और उन जैसे अध्ययनशील विद्वान से यह अपेक्षा करने का साहस कर सकता हूँ कि वे अपनी मनीषा को ऐसे वातावरण से ऊपर रखकर उसे ठोस रचनात्मक परिणति देने में सक्षम होंगे। अंततोगत्वा उनकी वह उपलब्धि ही साहित्य में याद की जायेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि रचनात्मक आलोचना ही आलोचक की सही पूंजी होती है।

उदयराम का कविकुलबोध

प्रत्येक भाषा के साहित्य की अपनी शैलीगत विशेषताएँ होती हैं। विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में उद्भूत भावों को व्यक्त करते समय कवि जिस माध्यम को अपने अनुकूल पाता है, उसी को अपना लेता है। महान् प्रतिभा वाले कवि इसलिए प्रचलित शैली में नवीन तत्वों का समावेश करते हैं, जिससे भाषा की व्यंजना-शक्ति तो बढ़ती ही है, पर साथ ही नवीन छन्दों का निर्माण भी होता रहता है। साहित्यकार समय-समय पर इन छन्दों तथा शैलीगत विशेषताओं का निरूपण करने के लिए लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण करते रहते हैं।

डिंगल-साहित्य जितना प्राचीन है, उतना ही विविधतापूर्ण भी। महा-काव्य, खण्ड-काव्य और मुक्तकों के अतिरिक्त गीतों की रचना डिंगल-काव्य की अपनी बहुत बड़ी विशेषता है। गीत यहां छन्द के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। गीतों के अपने बहुत से भेदोपभेद हैं। गीतों के अतिरिक्त प्राचीन काव्यों में अन्य कितने ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। इनका विश्लेषण प्राचीन आचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ रचकर विस्तार के साथ किया है। इन ग्रन्थों में छन्द - रचना के नियमों के अतिरिक्त, विशिष्ट अलंकारों, रसों, दोष और अन्य आवश्यक बातों पर भी सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। प्राचीन डिंगल साहित्य की विशेषताओं और काव्य-रचना की शास्त्र-सम्मत परिपाटियों का अध्ययन करने के लिए इन ग्रन्थों का अवलोकन अनिवार्य है।

इस प्रकार के ग्रन्थों में 'कविकुल-बोध' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसके रचयिता कवि उदयराम मारवाड़ के थबूकड़ा गांव के निवासी थे। वे महाराजा मानसिंह जोधपुर के समकालीन थे।[1] पर वे कच्छभुज के राजा भारमल तथा उनके पुत्र देसल (द्वितीय) के कृपापात्र रह चुके थे। इसलिए कविकुल-बोध में उनकी दानशीलता व वीरता की प्रशंसा की गई है।

संक्षेप में यहाँ कविकुलबोध की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है जिससे पाठक इस ग्रन्थ के महत्व का अनुमान कर सकेंगे। पूरा ग्रन्थ दस तरंगों में विभक्त किया गया है:

---

1 राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी में सुरक्षित महाराजा मानसिंह द्वारा सम्मानित कवियों के एक चित्र में इनका चित्र भी नाम सहित मिलता है।

(१) गीतों का वर्णन, (२) गीतों के भेद और गाथाएँ, (३) अस्त्र शस्त्र वर्णन, (४) डिंगल-पिंगल-प्रश्नोत्तर, (५) उकत व अनुप्रास (६) रस (७,८) अवधान-माला, (९) एकाक्षरी नाम-माला, (१०) अनेकार्थी-नाम-माला आदि ।

तरंगों की समाप्ति पर कवि के नाम का उमेदराम पाठ भी मिलता है, पर ग्रन्थ में उदयराम ही नाम मिलता है ।

प्रारम्भ—श्री गणेशाय नमः अथ महाराज श्री राजेन्द देसलजी राजसमुद्र-मध्य कविकुल-वोध लिख्यते ।

अन्त—इति श्री महाराव राजेंद्र श्री देसलजी राजसमुद्र-मध्ये त्रिविध-नाम-माला-निरूपण नाम अवधा, अनेकारथी, एकारथी वर्णन नाम दसमो लहर या तरंग ।

संक्षेप में इस ग्रन्थ की विशेपताएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) डिंगल-गीतों के प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ रघुनाथ-रूपक से कविकुल-बोध में गीतों का विश्लेपण अधिक वैज्ञानिक रीति से किया गया है। इनमें मात्रिक छन्दों, गण-गीतों, वर्णिक, अर्धसम और विपम गीतों का विश्लेपण क्रमवार किया गया है ।

(२) रघुनाथ-रूपक में केवल ७२ जाति के गीतों का वर्णन है, पर इस ग्रन्थ में ८४ तरह के गीतों का उल्लेख मिलता है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहां एक गीत उद्धृत किया जाता है जिसमें ८४ गीतों के नाम गिनाये गये हैं ।

अथ चौरासी गीतां रा नाम

मंदार, मनमद, खुड़द, मधकर, सोरव, गोख, त्रवंक, संकर, सोहणो, अगभंप, स्तावक, भाखड़ी, (अथ भाख) गजल, मुडियल, अरट, गजगत, प्रौढ़ो, डेढ़ो, सवा, श्रीपत, पाटत, झड़मुगट, दीपक, सुध (भाख) रस, साख, चंद, चित्रय, (लोल) चंदण, वीरकंठ, विवांण, वंदण, कमल, धमल, प्रहास, काछौ, सपंखरो, सारंग, सतखणो, सालूर, सायक, (अेक) अछर, मधुर, भायक, पालवण, ताटंक, लुपता, सोख, अधरसारंग, झड़ूथल, घड़ूथल, मदझर, विकट बंधर, त्रिकट, कँवर, मधुर, चित्रविलास, मंगल, गंधसार, गयंद वेलियो, मुगतावली, (वर) जांगड़ो, गुंजार, भमर, हांसलो, लहचाल, हेला, सोरठो, सेलार, सुन्दर, अडल, मनसुख, अठतालो, चंग, चोटिवाल, ललतमुगट, झमाल, लङ्कर, सीहचलो, दुरमेल, संगर ।

यहां यह वताना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में रघुनाथ-रूपक से कई गीतों सम्बन्धी भिन्न लक्षण भी मिलते हैं । जैसे कँवार, त्रपंखो, सीहचलो और सेलार आदि ।

(३) इस ग्रन्थ में अठारह प्रकार की उकतों का उल्लेख मिलता है । इनको उदाहरण देकर स्पप्ट भी किया गया है । नाम इस प्रकार हैं—

परमुख अवध प्रकास, भास सुध गरवत भासै ।
सनमुख, सुध भ्रम, समत, पाठ निज, गरवत पासै ॥
परमुख सनमुख पाठ, मिळै दुय मेळ परामुख ।
श्रीमुख में साख्यात, साख्यात रचौ उकती कळपत रुख ॥
श्रीमुख मिळै सनमुख सुधा, सनमुख सनमुख संकलत ।
उकतास मिळै गरवत उपम, विध अनेक मिश्रत चलत ॥

(४) इसमें ९ रसों पर प्रकाश डाला गया है तथा उनके विभाव-अनुभाव व संचारी का भी विवेचन किया गया है। रसों में आने वाले विभिन्न दोषों की ओर भी संकेत किया गया है और प्रत्येक तथ्य की पुष्टि में उदाहरण दिये गये हैं।

(५) एक गीत (सुपंखरो) मिलता है जिसमें बहत्तर कलाओं के नाम भी गिनाये गये हैं जो कवि की बहुज्ञता को प्रमाणित करता है।

(६) रघुनाथ-रूपक में जहां केवल ११ जथाओं का ही उल्लेख है, वहां इस ग्रन्थ में २१ जथाएं उदाहरण सहित दी गई हैं।

(७) इनके अतिरिक्त काव्य के अन्य उपकरणों व छन्दों पर भी प्रकाश डाला गया है। जथाओं के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

विधानीक सर वरण सीस सुध मुगट सम ।
नून आद निपुणद ग्यान अहगती सरळ गम ॥
सुधाधिक सम अधक रूपक उर धारत ।
बोध अनूपम बन्ध साख चित तोल सुधारत ॥
गुण आकत रूपक बंधणगुण, मुगताग्रह जुगवंध मत ।
संकळत जथा वरणो सुकव, विध इकीस कायव वदत ॥

(८) डिंगल-पिंगल नामक तरंग के अन्तर्गत कवि ने डिंगल और पिंगल के महत्त्व को दर्शाया है और अन्य कई महत्वपूर्ण बातों की जानकारी दी है। कवि के मतानुसार डिंगल चारणों की भाषा और पिंगल भाटों की भाषा कही गई है :

"चारण डिंगल चातुरी, पिंगल भाट प्रकास"

डिंगल में गीतों की प्रधानता और पिंगल में छन्दों की प्रधानता भी बताई गई है :

"गीतां में डिंगल गति, पिंगल छन्दां पाठ"

(९) अस्त्र-शस्त्र-वर्णन के अध्याय (तरंग) में कवि ने भाला, तलवार, बन्दूक, तीर-कवान, कटारी आदि के विभिन्न प्रकार और उनके विभिन्न प्रयोगों पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जिसकी जानकारी तत्कालीन समाज में आवश्यक थी।

इसके अतिरिक्त अवधान-माला, अनेकारथी कोष तथा एकाक्षरी कोष में अधिकार-पूर्ण ढंग से शब्दों की अच्छी जानकारी दी है।[1]

पूरे ग्रन्थ को ध्यान से देखने पर इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि उदयराम वास्तव में छन्दशास्त्र के एक उत्तम आचार्य थे, जिन्होंने डिंगल-साहित्य की कितनी ही शैलिगत विशेषताओं पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

काव्य-कला की दृष्टि से भी यह कवि अपने सम-सामयिक कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान पाने का अधिकारी है, क्योंकि इस ग्रन्थ में भाव और वर्णन-कौशल बड़ा ही परिमार्जित और प्रभावपूर्ण है। काव्य-कला की दृष्टि से इस ग्रंथ का एक सुपंखरा गीत यहां प्रस्तुत किया जाता है जिसमें विधानीक जला का प्रयोग किया गया है।

काळी चक्र सी कराळी खीज माळी मोतीमाळ कांति
मंगळा अजीत सक्रवाळी गंग मंड
जंगजीत रीत छौळां जळेस पुनीत जांणै
खाग त्याग सोभाग वखांणं नाग खंड ।१।

व्याळां घू खगेस कै सुरेस वेस ग्यान वांणी
व्योमंगी दिनेस कै महेस हंस व्रंद
फुणां झाट सेस कै पतरेस कै पयोध फीण
नाराजां उदात कीत 'भारामाल' नंद ।२।

सात्रवां क्रतंत कै सुतंत जोत रैण सोभा
सूळ काळी भारानंद भारथी सुवेस
दांमणी सी झाट वेळा दवेस गणेस दंत
दाव घाव रीझ प्रभा जादवां दिनेस ।३।

झिरमाळां पटाळां वरीसै हेम अद्री कळा
वंका सारधार वटाऊ ऊजळै वखत
सार सत्रां आचार कवंदां वार प्रथी सिरै
तपै छत्रधारी देस 'भुज' रै तखत ।४॥

इस दुर्लभ ग्रंथ की प्रतिलिपि मैंने कई वर्षों पहले डिंगल गीतों पर शोध कार्य करते समय एक विद्वान से करवाई थी वह हमारे पास सुरक्षित है। इसकी अन्य कोई प्रति अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान व कुछ अन्य साहित्य सेवियों के पास इस प्रतिलिपि की ही अपूर्ण नकलें एक अर्थप्रेमी सज्जन की कृपा से पहुँच गई हैं उनमें अनभिज्ञ प्रतिलिपिकारों द्वारा कई भूलें कर दी गई हैं अतः वे प्रामाणिक अध्ययन के योग्य नहीं रह पाई हैं।

---

१. ये तीनों कोष संस्थान से ग्रन्थाकार रूप में 'डिंगल कोष' के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं।

शोध व सर्वेक्षण

राजस्थान में राजस्थानी साहित्य सम्बन्धी शोध-कार्य

शोध-कार्य दो स्तर का होता है—१. तथ्यपरक व २. तत्त्वपरक। पहला यदि सोपान है तो दूसरा लक्ष्य। तथ्यपरक शोध-कार्य को भी कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है यथा—सूचनात्मक, परिचयात्मक, संकलन, संपादन आदि। इस कार्य में शोध-कर्ता की दृष्टि जितनी अधिक सूक्ष्म और वैज्ञानिक होगी वह कार्य उतना ही उत्तम और उपयोगी माना जाएगा। तत्त्वपरक शोध तथ्यपरक शोध-कार्य पर ही आधारित होता है पर वह होता उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। तत्त्वपरक शोध की श्रेष्ठता शोधकर्त्ता के objective दृष्टिकोण और अनुशीलन की गहराई पर निर्भर करती है तथा उसकी मौलिकता का बहुत कुछ श्रेय उसकी प्रतिभा को होता है। आधुनिक युग में तत्त्वपरक शोध की अनेक दिशाएँ परिलक्षित होती हैं यथा—समाज-शास्त्रीय, समाजवादी, साहित्य-शास्त्रीय आदि। यद्यपि इस प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोणों ने साहित्य के क्षेत्र को विशाल अवश्य बना दिया है तथापि किसी एक दृष्टिकोण से ही किया हुआ अध्ययन सर्वथा एकांगी और अपूर्ण रह जाता है। आधुनिक युग में पाश्चात्य विचार-धाराओं ने हमारे आलोचक वर्ग को प्रभावित ही नहीं किया अपितु अभिभूत कर दिया है जिसके फलस्वरूप हमारी साहित्य-परम्परा और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अवहेलना करके भी पाश्चात्य सिद्धान्तों को लागू करने का कौशल प्रदर्शित करने में ही वे अपना दायित्व समझने लग गये हैं। साहित्य के विकास पर भी इसका कुप्रभाव कम नहीं पड़ा। यह सही है कि आधुनिक युग में विज्ञान का कारोबार इतना अधिक बढ़ गया है कि जिससे भौगोलिक सीमायें टूट रही हैं और ज्ञान का विनिमय बड़ी तेजी के साथ हो रहा है, परन्तु हजारों वर्षों के चिन्तन, मनन और तपस्या के फलस्वरूप हमारे पूर्वजों ने जिन शाश्वत जीवन-मूल्यों की स्थापना की और साहित्यिक आदर्श स्थापित किये हैं उन्हें इतने हल्के तौर पर अग्राह्य घोषित करने का अधिकार आज के आलोचक को नहीं है। पाश्चात्य ज्ञान और सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य स्थापित कर उनमें जो भी नवीन और उपयोगी तत्त्व हमारे साहित्य को अधिक गहराई से समझने में सहायक हो सकते हैं उनको ग्रहण करना हमारे आलोचक का कर्त्तव्य है परन्तु पाश्चात्य सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों लागू करने का प्रयत्न करना पाठक को भ्रम में डालने वाली बात है। साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं समाज-शास्त्र, दर्शन, इतिहास आदि अध्ययन-क्षेत्रों में भी यह सजगता अपेक्षित है।

राजस्थानी साहित्य पर अभी तक तथ्यपरक शोध ही अधिक हुई है और उसमें भी सूचनात्मक व परिचयात्मक कार्य की प्रधानता है। शब्दार्थ-परक कार्य भी काफी परिमाण में हुआ है जो संतुलित और मूल्य-परक भूमिकाओं के अभाव में तथ्य-परक शोध की श्रेणी में ही आता है। कर्नल जेम्स टॉड ने जब सर्वप्रथम अपना 'राजस्थान' लिखा तो साहित्यिक कृतियों और साहित्यकारों का उल्लेख भी यथाप्रसंग किया था परन्तु तब तक स्वतन्त्र रूप से यहां के साहित्य पर कोई शोध-कार्य नहीं हुआ था। डा. हरप्रसाद शास्त्री ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने तत्कालीन सरकार के आदेश पर यहां की रियासतों में बिखरी हुई चारणी कृतियों और ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थों की खोज का प्राथमिक कार्य रिपोर्ट के रूप में प्रस्तुत किया। शास्त्रीजी को यह कार्य सन् १९०९ में दिया गया। सन् १९१३ तक इन्होंने यहां के चार दौरे किये जिनकी रिपोर्ट प्रतिवर्ष वे प्रस्तुत करते गये, इस प्रकार उन चारों रिपोर्टों में उनका यह राजस्थानी साहित्य की खोज का कार्य पूर्ण हुआ है। रिपोर्ट के साथ लगे परिशिष्टों में उन्होंने बड़ी उपयोगी सूचनाएँ और उन पर अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किए हैं, जो आज भी उपयोगी हैं। मूल रिपोर्ट सन् १९१३ में अंग्रेजी भाषा में छपी थी और इधर यह बिलकुल अनुपलब्ध हो गई थी। अतः उसका हिन्दी रूपान्तर आवश्यक टिप्पणियों सहित परम्परा में प्रकाशित किया गया है।[१]

शास्त्रीजी के इस कार्य के तुरंत बाद ही डा. टैसीटरी ने यहां कार्य प्रारंभ किया और राजस्थानी भाषा तथा साहित्य पर जो प्रामाणिक कार्य उन्होंने किया वह सर्वविदित है। ग्रन्थ-सम्पादन, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का व्याकरण, हस्तलिखित ग्रन्थों का सर्वेक्षण[२] और महत्त्वपूर्ण कृतियों पर लेख लिख कर टैसीटरी ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य के अध्ययन का श्रीगणेश किया। डा. टैसीटरी के काफी समय पश्चात् यहीं के विद्वानों और संस्थाओं ने इस कार्य को आगे बढ़ाया है, जिसका विहंगम दृष्टि से विवेचन बहुराजी ने शास्त्रीजी की रिपोर्ट की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है। अतः उस पर यहां प्रकाश डालना पिष्टपेषण मात्र होगा।

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात राजस्थान में समूचा शोध-कार्य तीन माध्यमों से हुआ है—व्यक्तिगत प्रयास, संस्थाओं का प्रयास और विश्वविद्यालयीय उपाधिपरक प्रयास। राजस्थान में विश्वविद्यालयों की स्थापना स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हुई है। भारत के अन्य विश्वविद्यालयों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले अति अल्प कार्य हुआ । व्यक्तिगत प्रयास और संस्थाओं के प्रयत्न इस क्षेत्र को आलोकित करने का यथासंभव प्रयास करते रहे हैं। बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर और पिलानी शोधकार्य के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजस्थान में सर्वप्रथम राजस्थान विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और कालांतर में तीन और विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं। इन विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों

---

१. यह अनुवाद-कार्य श्री गोपाल नारायणजी बहुरा द्वारा किया गया है।

२. चार भागों में किया गया यह सर्वेक्षण लेखक द्वारा हिन्दी में अनुवादित किया जाकर राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी से एक जिल्द में प्रकाशित हो चुका है।

के अंतर्गत उपाधिपरक शोध का कार्य निरंतर हो रहा है। राजस्थान में बिखरी हुई अप्रकाशित सामग्री की वहुलता और स्थानीय शोधकर्ताओं का यहां की संस्कृति के साथ लगाव होने के कारण राजस्थानी साहित्य के विभिन्न पक्षों पर काफी वड़े पैमाने पर शोध कार्य हो रहा है। यहां की विभिन्न संस्थाओं में संग्रहीत सामग्री भी विद्यार्थियों के लिए कम आकर्षण नहीं है।

उपाधिपरक शोध-कार्य की अपनी कुछ सीमायें अवश्य होती हैं परन्तु इन औपचारिक सीमाओं के अतिरिक्त भी अनेक ऐसी महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनके निदान के विना शोधकर्त्ता का कार्य अपेक्षित स्तर का नहीं हो पा रहा है। सब से महत्त्वपूर्ण समस्याएँ दो हैं— १. शोधकर्त्ता की पात्रता, २. निर्देशक की योग्यता। प्रायः यह देखा गया है कि अध्ययन और खोज में गहरी रुचि न रखने वाले लोग भी अपना समय निकालने के लिए या जैसे तैसे डिग्री प्राप्त करने के लिए राजस्थानी विषय ले लिया करते हैं। उन्हें डिग्री भी मिल जाती है परन्तु उनका शोध-कार्य शोध-जगत् को नवीन ज्ञान से संवर्द्धित नहीं करता। कुछ शोध-कर्त्ता ऐसे विपय ले लेते हैं जिनमें उनकी गति विल्कुल नहीं होती और प्रयत्न करने पर भी वे विषय की गहराई में पैठ कर कुछ तत्त्व की वात नहीं कह पाते। इसलिए विशिष्ट विषय को लेकर उस पर शोध-कार्य करने की पात्रता का परीक्षण होना आवश्यक है। आज के व्यस्त जीवन और वहुधंधी विद्यार्थी को देखते हुए शोध-कार्य की अवधि 2 वर्ष के स्थान पर 3 वर्ष हो तो विद्यार्थी को अपने विषय के साथ न्याय करने में समयाभाव की शिकायत नहीं रहेगी। पृष्ठ संख्या की सीमा भी कुछ विश्वविद्यालयों ने लगा रखी है जो शोध के विषयों की विविधता को देखते हुए कृत्रिम लगती है।

दूसरी समस्या शोध-निर्देशकों से सम्वन्ध रखती है। प्रायः यह देखा गया है कि राजस्थानी भाषा, साहित्य और इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ प्राध्यापक राजस्थानी से सम्वन्धित विपयों पर कार्य करने वाले विद्यार्थियों के निर्देशक वन जाते हैं, इसके दुष्परिणाम का अनुभव सहज ही लगाया जा मकता है। शोध-छात्र इधर-उधर भटक कर जो भी सामग्री संकलित कर लेता है वह यों की यों टाइप होकर परीक्षकों तक पहुंच जाती है। अनेक प्रकार की त्रुटियों से अलंकृत उस शोध-निवंध का भविष्य डिग्री की दृष्टि से चाहे जो हो पर शोध के क्षेत्र में ऐसे प्रयत्नों का वास्तविक योगदान कहाँ तक हो सकता है यह विचारने की वात है। राजस्थानी साहित्य वहुत विशाल है और फिर साहित्य के अनेक अंग-उपांग हैं। इतनी विशाल ज्ञान-राशि के हर क्षेत्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर हर विधा के शोध-विद्यार्थी को निर्देश देना हर एक के वश की वात नहीं होती अतः इसे अनधिकार चेष्टा की संज्ञा दी जाय तो वह अनुचित नहीं होगा।

आज के समाज में व्याप्त धांधली, अटकलवाजी और जीवन-मूल्यों के ह्रास के दुष्परिणामों से विश्वविद्यालय भी अछूते नहीं हैं, जिसके फलस्वरूप अनेक आंतरिक और वाह्य कारण ज्ञानोपार्जन की वास्तविक पिपासा को जागृत करने में व्यवधान वने हुए हैं। अव तो आर्थिक लाभ का भूत भी कई विद्धानों पर चढ़ वैठा है, कहने की आवश्यकता नहीं कि विपय के चयन में यह प्रवृत्ति वड़ी घातक है।

वास्तव में शोध-कार्य को जितना प्रोत्साहन विश्वविद्यालयों के माध्यम से मिल सकता है अन्य किसी माध्यम से नहीं मिल सकता परन्तु इन कमियों को दूर करने पर ही उच्च स्तर का शोध-कार्य सम्भव हो सकता है और वही भविष्य के लिए धरोहर का काम दे सकता है। उपाधिपरक शोध के अतिरिक्त हिन्दी विभागों में स्वतंत्र रूप से शोध-कार्य के प्रोजेक्ट लेकर भी बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि यहां के कुछ विश्वविद्यालय इस ओर प्रवृत्त हुए हैं और राजस्थानी के स्वतंत्र विभाग भी स्थापित हो रहे हैं।

पिछले कई वर्षों से यहां की कुछ संस्थायें विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने सीमित साधनों के अनुसार कार्य कर रही हैं। राजस्थान सरकार द्वारा स्थापित 'राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान' का स्थान उनमें अत्यंत महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ-संग्रह और प्रकाशन दोनों ही दृष्टियों से इस संस्था द्वारा अभूतपूर्व कार्य किया गया है। इस प्रतिष्ठान के अतिरिक्त राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी व साहित्य संस्थान उदयपुर ने भी स्तरीय कार्य किया है। शोध संस्थान चौपासनी का ग्रन्थ-संग्रह भी एक अमूल्य निधि है। उसका केटेलाग भी अनेक भागों में प्रकाशित हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि सभी संस्थाओं के बीच में एक सामंजस्य-सूत्र स्थापित हो जिससे एक संस्था दूसरी संस्था की गतिविधियों से परिचित ही नहीं रहे, उसके अनुभव का लाभ भी उठा सके तथा कार्य की पुनरावृत्ति होने का भी भय नहीं रहे। विभिन्न संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने अपने व्यक्तिगत प्रयासों से भी शोध का उपयोगी कार्य किया है। अब कुछ विदेशी विश्वविद्यालय भी इस ओर आकर्षित हुए हैं जिनमें शिकागो विश्वविद्यालय उल्लेखनीय है।

इस प्रान्त की अत्यंत विशाल, विविधतापूर्ण और अछूती साहित्य-सामग्री को देखते हुए भविष्य में यदि विश्वविद्यालयों, संस्थाओं और व्यक्तिशः शोध में प्रवृत्त होने वाले विद्वानों ने शोध-कार्य के दायित्व को अधिक गंभीरता और ज्ञानार्जन की वास्तविक पिपासा के साथ ग्रहण किया और राजस्थान सरकार ने इस कार्य को समुचित प्रोत्साहन दिया तो राजस्थान के अतीत की वास्तविक देन प्रामाणिक रूप में प्रकाशित होकर निश्चय ही भारतीय संस्कृति के कई पक्षों को नवीन आलोक से आलोकित कर सकेगी, उसी परिप्रेक्ष्य में समाज का वर्तमान तथा भविष्य सुदृढ़ आधार पर खड़ा होकर आत्मावलोकन द्वारा प्रगति की सही दिशा ग्रहण कर सकेगा।

इस शोध-कार्य के फलस्वरूप आधुनिक राजस्थानी के विकास को भी बल मिलेगा और इस प्रकार भविष्य की पीढ़ियों के लिये भी यह महत्वपूर्ण परम्परा बराबर पुष्ट होती रहेगी, उसी थाती से नये लेखक का आत्मविश्वास बढ़ेगा।

डा. टैसीटरी का राजस्थानी ग्रंथ सर्वेक्षण

डा. टैसीटरी राजस्थानी भाषा और साहित्य के वैज्ञानिक अनुसंधान का पथ प्रशस्त करने वाले प्रथम इटालियन विद्वान थे। उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी आफ वंगाल के तत्वावधान में योजनावद्ध रूप में अपना कार्य सन् १९१४ में प्रारम्भ किया। इन्हें सोसाइटी की ओर से सुपरिन्टेन्डैन्ट वारडिक एण्ड हिस्टोरीकल सर्वे ऑफ राजपूताना के पद पर नियुक्त किया गया था। इसी वर्ष सर्वप्रथम जोधपुर को कार्य-क्षेत्र चुनने के उद्देश्य से वे यहां आये। यहां के विद्वानों से विचार-विमर्श कर इस क्षेत्र की साहित्य-संपदा की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त की तथा इसी समय में (सन् १९१४–१५) यहां के व्यक्तिगत संग्रहों के महत्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थों का विस्तृत सर्वेक्षण किया जो सन् १९१७ में सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किया गया[1]। जोधपुर शताब्दियों से डिंगल साहित्य का केन्द्र रहा है अतः इस स्थान को सर्वथा उपयुक्त समझ कर ही उन्होंने यहां कार्य प्रारम्भ किया था परन्तु यहां अनुकूल वातावरण का अभाव होने से उन्हें अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वीकानेर को साधना-स्थल वनाना पड़ा। सर्वेक्षण संवंधी अन्य दो पुस्तकें १ गद्य, २ पद्य उन्होंने वीकानेर में रहकर ही तैयार कीं जिनका प्रकाशन उक्त सोसाइटी द्वारा सन् १९१८ में किया गया।[2] सर्वेक्षण के इस कार्य को आगे वढ़ाने की योजना भी इनके मस्तिष्क में थी, विशेप तौर से वीकानेर के गांवों में विखरे हुए साहित्य को वे प्रकाश में लाना चाहते थे परन्तु अन्य प्रवृत्तियों में व्यस्त होने के कारण और समयाभाव से यह कार्य आगे नहीं वढ़ पाया।

उन्होंने यह सर्वेक्षण-कार्य जिस गम्भीरता और वैज्ञानिकता के साथ किया उसके अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि उनकी भावी अनुसंधान-साधना का प्रासाद इसी नींव पर खड़ा है। संक्षेप में हम यहां उनके सर्वेक्षण की कुछ विशेषताओं की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं—

१. ग्रन्थ का परिचय देने के पहले उन्होंने वड़े गौर से उसे आद्योपांत पढ़ा है तथा पूरे ग्रन्थ में कोई भी उपयोगी तथ्य मिला उसका उल्लेख अवश्य किया है।

---

१. न्यू सीरीज नं. १४०६।

२. ,, ,, ,, १४१२ तथा १४१३।

२. डिंगल में पद्य और गद्य दोनों ही विधाओं के अधिकांश ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं अतः उन्होंने इतिहास को कहीं भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है । उस समय कर्नल टॉड के 'राजस्थान' के अतिरिक्त यहां का कोई प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित नहीं था अतः ऐसी स्थिति में भी ऐतिहासिक तथ्यों पर टिप्पणी करते समय लेखक ने सचेष्ट जागरूकता का परिचय दिया है और अनेक स्थलों पर अपना मत व्यक्त करते हुए शोधकर्ताओं के लिये कई गुत्थियों को सुलझाने का भी प्रयास किया है ।

३. कृति में से उद्धरण चुनते समय प्रायः इतिहास, भाषा अथवा कृति के लेखक व संवत् आदि तथ्यों को पाठक के सम्मुख रखने का उद्देश्य रखा है । उद्धरण अक्षरशः उसी रूप में लिये गये हैं जैसे मूल में उपलब्ध हैं ।

४. एक ही ग्रन्थ में प्रायः अनेक स्वतंत्र कृतियां संग्रहीत हैं परन्तु प्रत्येक कृति का शीर्षक लिपिकर्ता द्वारा नहीं दिया गया है । ऐसी कृतियों पर सुविधा के लिए टैसीटरी ने अपनी ओर से राजस्थानी में शीर्षक लगा दिए हैं ।

५. जो कृतियां ऐतिहासिक व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान नहीं हैं उनका या तो उल्लेख मात्र कर दिया है या निरर्थक समझ कर छोड़ दिया है परन्तु ऐसे स्थलों पर उनके छोड़े जाने का उल्लेख अवश्य कर दिया है ।

६. जहां ग्रन्थ के कुछ पत्र त्रुटित हैं अथवा किसी कारण से कुछ पृष्ठ पढ़े जाने योग्य नहीं रहे हैं तो इसका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है ।

७. जहाँ एक ग्रन्थ की कृतियां दूसरे ग्रन्थ की कृतियों के समरूप हैं,या उनकी प्रतिलिपि हैं या पाठान्तर के कारण तुलनात्मक दृष्टि से महत्व रखती हैं, ऐसी स्थिति में उनका स्पष्ट उल्लेख बराबर किया गया है ।

८. जहाँ गीत, दोहे, छप्पय, नीसांणी आदि स्फुट छंद आये हैं वहां उनका विषयानुसार वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध में यथोचित जानकारी प्रस्तुत की गई है । कृति के साथ कर्ता का नाम भी यथासंभव दे दिया गया है। कर्ता का नाम देते समय प्रायः उसकी जाति व खांप आदि का भी उल्लेख कर दिया है ।

९. डॉ. टैसीटरी प्रमुखतया भाषा-विज्ञान के जिज्ञासु विद्वान थे अतः उन्होंने प्राचीन कृतियों का विवरण देते समय उनमें प्राप्त क्रिया-रूपों आदि पर भी अवसर निकाल कर टिप्पणी की है ।

आज से लगभग ६५ वर्ष पहले सम्पन्न किए गए इस सर्वेक्षण-कार्य का शोध के क्षेत्र में बड़ा मूल्य है । जिस समय यह सर्वेक्षण प्रकाश में आया उस समय विद्वानों के सामने इनेगिने ग्रन्थों का ही परिचय था और प्रासंगिक जानकारी के साधन तो नहीं के बराबर थे । ऐसी स्थिति में इस सर्वेक्षण-कार्य ने न केवल राजस्थानी से अपरिचित विद्वानों

को इस अमूल्य साहित्य से परिचित कराया अपितु इस क्षेत्र में शोधकार्य का पथ भी प्रशस्त किया।

टैसीटरी महोदय ने राजस्थान में रचित डिंगल व पिंगल भाषाओं के साहित्य का भेद भली भांति समझ कर डिंगल के ग्रन्थों का सर्वेक्षण अलग से किया है। इस प्रकार का भेद करके उन्होंने स्वतंत्र रूप से राजस्थानी में शोधकार्य करने की नींव डाली और आगे जाकर इसके निश्चित स्वरूप पर व्याकरण आदि की दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया।

इस सर्वेक्षण के द्वारा ही सर्वप्रथम राठौड़ पृथ्वीराज कृत वेलि, राव जैतसी री छंद, राठौड़ रतनसिंघ खींवावत री वेलि, मुहणोत नैणसी री ख्यात, दयालदास री ख्यात, देश दर्पण, अजीतविलास, ढोलामारू रा दूहा, रतनसिंह री वचनिका आदि कितने की ग्रन्थ-रत्नों की प्रतियां प्रथम वार प्रकाश में आईं जो आगे जाकर राजस्थानी के गौरव-ग्रन्थ सिद्ध हुए। स्वयं टैसीटरी ने भी इन्हीं ग्रन्थों में से अपने सम्पादन-कार्य के लिए कुछ ग्रन्थों को चुना।

आज भी राजस्थानी साहित्य की विभिन्न विधाओं पर शोध-कार्य करने वाले विद्वानों के लिए इसमें दी गई सूचनाएँ बड़े काम की हैं क्योंकि सर्वेक्षण में आये हुए अनेक ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं (विशेष तौर से वे जो व्यक्तिगत संग्रहों में थे) और उनके संबंध में दिया गया टैसीटरी का वृत्तान्त प्रामाणिक होने के कारण कुछ हद तक अध्ययन में सहायक सिद्ध हो सकता है।

सर्वेक्षण-कर्त्ता का यह प्रयास आधुनिक सर्वेक्षण-कर्त्ताओं के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। अत्यन्त श्रम और धैर्यपूर्वक किया गया इस प्रकार का विस्तृत और प्रामाणिक सर्वेक्षण ही उत्तम कोटि के अप्रकाशित साहित्य से विद्वानों का परिचय सही रूप में करा सकता है तथा मूल ग्रन्थ उपलब्ध न होने पर भी आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए यह अमूल्य निधि किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखी जा सकती है।

इस सर्वेक्षण के रूप में जो प्राथमिक कार्य टैसीटरी ने किया है वह उनकी वैज्ञानिक दृष्टि के विकास-क्रम का सूचक है। उनका यह कार्य किसी प्रकार के पूर्वाग्रह अथवा संप्रदाय व जाति विशेष के प्रति झुकाव आदि कमजोरियों से सर्वथा मुक्त है। विस्तृत रेगिस्तान में बिखरी हुई अनन्त ज्ञानराशि को प्राप्त करने की अमिट लालसा और यहां की संस्कृति का अनुशीलन ही इस कष्ट-साध्य साधना का प्रेरणा-श्रोत है।

अनुवाद व सम्पादन :

अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित टैसीटरी की ये सर्वेक्षण-पुस्तिकाएँ अब अनुपलब्ध हो चुकी हैं और प्रयत्न करने पर भी शोध-कर्ताओं के हाथ नहीं लगतीं। इन्हें समुचित ढंग से पुनः प्रकाशित करने की आवश्यकता काफी समय से मैं महसूस करता था। शोध-कार्य के

लिए निर्देशनार्थ आने वाले विद्यार्थियों का भी आग्रह बराबर बना रहा। अत: उनकी सुविधा के लिए मैंने समूचे सर्वेक्षण का हिन्दी अनुवाद कर एक ही स्थान पर परम्परा में प्रकाशित कर दिया है।

आज की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए बीकानेर के सर्वेक्षण की दोनों ही पुस्तिकाओं (गद्य व पद्य) को सबसे पहले एक ही स्थान पर रखा गया है क्योंकि ये सभी ग्रन्थ वर्तमान अनूप संस्कृत लाइब्रेरी (बीकानेर) के हैं जो कि पहले बीकानेर के किले में सुरक्षित थे[1]। आजकल यह ग्रन्थागार बीकानेर नरेश के निजी लालगढ़ पैलेस में सुरक्षित है।

इस ग्रन्थागार के राजस्थानी ग्रन्थों का कैटलॉग बीकानेर के महाराजा तथा उनके प्रधान मंत्री सरदार पन्नीकर की प्रेरणा के फलस्वरूप सी. कुन्हन राजा ने लाइब्रेरी के कर्मचारियों के सहयोग से बनाया था तथा बीकानेर सरकार ने प्रकाशित करवाया था। परन्तु अब वह कैटलॉग भी अनुपलब्ध हो गया है और इसलिए सुदूर प्रान्तों में रहने वाले शोधकर्ताओं को यह सूचना मिलना भी कठिन हो गया है कि इस महत्वपूर्ण ग्रन्थागार में उनके काम के कौनसे ग्रन्थ हैं।

ऐसी स्थिति में हमने डॉ. टैसीटरी के सर्वेक्षण का उपयोग वर्तमान आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार किया है कि वह किसी हद तक अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के कैटलॉग का भी काम दे सके। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए परिशिष्ट में इस सर्वेक्षण के ग्रन्थांक और लाइब्रेरी के कैटलॉग के ग्रन्थांकों की सूची एकत्र देदी गई है। टैसीटरी ने नामानुक्रमणिकाएँ नहीं दी थीं। इसकी उपयोगिता बढ़ाने की दृष्टि से नामानुक्रमणिकाएँ भी दे दी हैं। बीकानेर का पूरा विवरण एकत्र रहे इसलिए जोधपुर का विवरण अलग से परिशिष्ट में दिया गया है।

जोधपुर के सर्वेक्षण में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी कृतियों का विस्तृत विवरण बीकानेर वाले सर्वेक्षण में भी आ चुका है अत: अनावश्यक पुनरावृत्ति से बचने के लिए जोधपुर के सर्वेक्षण का हूबहू अनुवाद प्रस्तुत न कर उसे केवल सार-रूप में प्रस्तुत किया है फिर भी शोध की दृष्टि से किसी कृति या उपयोगी तथ्यों को छोड़ा नहीं गया है।[2]

बीकानेर के सर्वेक्षण का अनुवाद अविकल रूप से सरल हिन्दी में किया गया है। टैसीटरी ने विभिन्न स्थानों, पुरुषों आदि के नाम रोमन लिपि में दिए हैं। उन्हें नागरी

---

१. डॉ. टैसीटरी ने प्रत्येक ग्रन्थ के अंत में उसका प्राप्ति-स्थान बीकानेर किले की दरबार लाइब्रेरी बताया है। अनावश्यक पुनरुक्ति समझ कर सभी ग्रन्थों के अन्त का यह उल्लेख हमने अनुवाद करते समय हटा दिया है।

२. पिछले वर्षों भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली के प्रोजेक्ट के अंतर्गत जोधपुर के संस्थानों व व्यक्तिगत संग्रहों के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथों का विस्तृत सर्वेक्षण लेखकों के निर्देशन में चार भागों में सम्पन्न किया गया है वह परिषद के यहाँ प्रकाशनाधीन है।

लिपि में प्रस्तुत करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उनका शुद्ध रूप ही पाठकों के सम्मुख रखा जाय। ऐसा करते समय राजस्थानी के अनेक ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है।

इस सर्वेक्षण के सम्पन्न होने के पश्चात् पिछले वर्षों में सर्व आए हुए कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। कुछ ग्रन्थों में तो इन्हीं प्रतियों का उपयोग भी किया गया है अतः शोधकर्ताओं की सुविधा के लिए इस प्रकार के कुछ प्रकाशित ग्रन्थों की सूची भी परिशिष्ट में दे दी गई है।

आशा है राजस्थानी साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में शोध-कार्य करने वाले विद्वानों के लिए हमारा यह कार्य उपयोगी व प्रेरणा-प्रद सिद्ध होगा।

पं. रामकर्ण आसोपा की राजस्थानी साहित्य सेवा

इतिहास की गतिशीलता में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं जो आगे जाकर स्वयं एक परम्परा बन जाती है। राजस्थान के साहित्य जगत में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, हरविलास शारदा, पुरोहित हरीनारायण और पण्डित रामकर्णजी आसोपा का एक साथ प्रादुर्भाव एक ऐसी ही घटना है। इन विद्वानों ने अपने अथक परिश्रम से इतिहास और साहित्य के खोज की जो अजस्र धारा बहायी वही आगे जाकर राजस्थान में शोध कार्य की भूमिका बनी। हमारे भारतीय वाङ्मय में प्रारम्भ से ही साहित्य और इतिहास की धाराएँ आपस में घुली-मिली रही हैं और इन विद्वानों ने उसी रूप में उस थाती को ग्रहण कर साहित्य और इतिहास के रत्नों को उसमें से निकाला है तथा परखा है।

पण्डित रामकर्णजी आसोपा भी अपने इन सम-सामयिक विद्वानों की तरह संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और राजस्थानी के असाधारण विद्वान थे और अपनी बहुज्ञता की शक्ति से उन्होंने यहां के साहित्य, इतिहास और संस्कृति के लिए बहुआयामी प्रयास ही नहीं किये वरन् आगे के विद्वानों के लिए भी पथ प्रशस्त किया। आसोपाजी में इन विद्वानों से बढ़कर एक यह भी बात थी कि उन्होंने राजस्थानी भाषा और साहित्य के उन्नयन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया जिसके फलस्वरूप आज राजस्थानी साहित्य उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। इसीलिए राजस्थानी के अनन्य प्रेमी पण्डित सूर्यकरणजी पारीक का यह कथन पूर्णतया उपयुक्त प्रतीत होता है कि-"श्रद्धेय पण्डित रामकर्णजी आसोपा राजस्थानी साहित्य के उन संस्थापकों में से हैं जिन्होंने कई वर्षों पहले राजस्थानी साहित्य के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया था। उस जमाने में राजस्थानी साहित्य को बहुत कम महत्व दिया जाता था। पण्डितजी ने अपनी मूल साधना से जो दीपक जलाया था आज उसका प्रकाश देश के कोने-कोने में जगमगा उठा है।"

राजस्थानी साहित्य के उत्थान व प्रचार-प्रसार का कार्य पण्डितजी ने कई प्रकार से किया था। मोटे तौर पर उनके इस कार्य को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

१. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज और उन पर कार्य करने वाले विद्वानों तथा संस्थाओं को सहायता।

२. राजस्थानी के प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन व सम्पादन।

३. प्राचीन ग्रन्थों की टीकाएँ।

४. पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण।

५. राजस्थानी व्याकरण व कोष का निर्माण।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है पण्डितजी संस्कृत के उद्भट विद्वान थे और उनका कार्य उस क्षेत्र में बड़ा ही मूल्यवान् है। राजस्थान के इतिहास के बारे में उनकी अद्वितीय देन है। इस कार्य में से समय निकाल कर उन्होंने अपनी मातृ-भाषा की सेवा भी निरन्तर की, यह उनके उपरोक्त विविधतामय कार्यों से स्पष्ट है। यहां उन कार्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

(1) सन् 1910 में प्रसिद्ध विद्वान हरप्रसाद शास्त्री ने एशियाटिक सोसायटी बंगाल की ओर से राजस्थान में चारणी साहित्य की खोज का कार्य प्रारम्भ किया। मारवाड़ में ऐसे ग्रन्थों की खोज के लिए उन्होंने तत्कालीन जोधपुर सरकार को लिख कर प्रामाणिक विद्वानों की सहायता मांगी तब सरकार पण्डितजी को ही उपयुक्त व्यक्ति समझकर इस कार्य के लिए आगे किया और उन्होंने मारवाड़ के विभिन्न गांवों में बिखरे हुए इस महत्वपूर्ण साहित्य की न केवल सूचनाएँ अपितु जोधपुर सरकार की व्यवस्थानुसार अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवा कर सोसायटी को भेजीं तथा हरप्रसादजी शास्त्री को इस साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी अवगत कराया।

सन् १९१४ में इतालवी विद्वान् डा. टैसीटरी जब पहली बार राजस्थानी साहित्य की खोज के सम्बन्ध में जोधपुर आये तो उनके सामने राजस्थानी भाषा सीखने की समस्या थी यद्यपि वे प्राचीन भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ नहीं थे। परन्तु पण्डितजी ने उनको विधिवत् राजस्थानी भाषा का ज्ञान करवाया जो कि आगे जाकर उनके महत्त्वपूर्ण खोज-कार्य में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

(२) बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने यहां के प्राचीन ग्रन्थों के विधिवत् सम्पादन और प्रकाशन में पहल की थी। पण्डितजी उन व्यक्तियों में थे जिन्होंने सोसायटी के प्रकाशनों की लड़ी में राजस्थानी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्न जोड़ने में सहयोग दिया। उन्हीं दिनों नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने भी राजस्थानी ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लिया। पण्डितजी ने वहां से कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करवाए। उनमें 'राजरूपक' और 'बांकीदास ग्रन्थावली' अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। राजरूपक जोधपुर के महाराजा अभयसिंह की अहमदाबाद विजय पर उनके राज्याश्रित कवि वीरभाण रतनू द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह वृहत् ग्रन्थ साहित्य और इतिहास दोनों ही दृष्टियों से उस समय की एक अद्वितीय उपलब्धि माना जाता है। इस कवि की यह विशेषता है कि उसने राजवंश की प्रशंसा में और अपने आश्रयदाता की वीरता के प्रदर्शन में ही समूची काव्यशक्ति न

लगाकर पूरे ग्रन्थ को ऐसे व्यवस्थित ढंग से रचा है कि उसमें उक्त युद्ध में वीरता दिखाने वाले और काम आने वाले समस्त व्यक्तियों के कार्य-कलापों का बड़ा ही संतुलित वर्णन संभव हो सका है। ऐसे ग्रन्थ का सुसम्पादन वही विद्वान कर सकता है जिसको स्थानीय इतिहास का भरपूर ज्ञान हो। पण्डितजी को यहां की ख्यातों और शिलालेखों के अलावा ठिकानों की वंशपरम्परा और उपलब्धियों का भी अच्छा ज्ञान था जिसके फलस्वरूप उन्होंने व्यक्तिवाचक नामों को चालू पद्यात्मक स्थिति में ही संपादित न कर उन्हें विशेष रूप से चिन्हित किया। यह कार्य सरसरी तौर पर सामान्य पाठक को साधारण लग सकता है परन्तु यह बड़ा ही श्रमसाध्य और विवेक का काम है जिसे बहुत धैर्यवान् विद्वान ही कर सकते हैं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितजी ने इस रीति को अपना कर न केवल उस ग्रन्थ की ऐतिहासिक गरिमा का समुचित निर्वाह किया है अपितु आगे के संशोधकों के लिए भी इस प्रामाणिक कार्य से उनका पथ प्रशस्त किया है। ग्रन्थ की सारगर्भित विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी इस क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

महाराजा मानसिंहजी के आश्रित कवि बांकीदास राजस्थानी के गिनेचुने महान् कवियों में से एक माने जाते हैं परन्तु उनकी काव्यगत विशेपताओं को समझकर उन्हें प्रकाश में लाने का कार्य पहले पहल पण्डितजी ने ही किया। उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने पत्र 'भारत मार्तण्ड' में उन्नीसवीं शताब्दि में प्रकाशित किए और बाद में विस्तृत भूमिका, शब्दार्थ व टिप्पणियों सहित उन्हें ग्रन्थावली (प्रथम भाग) के रूप में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित करवाया। उनके इस कार्य से प्रेरित होकर सभा ने दो भाग और प्रकाशित किए जिससे अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आये।

पण्डितजी ने महाराजा अभयसिंहजी की अहमदाबाद चढ़ाई पर लिखे गए कविया करणीदान के वृहत् ग्रन्थ 'सूरजप्रकास' का भी सम्पादन किया। परन्तु उसका एक अंश ही एशियाटिक सोसायटी की ओर से प्रकाशित हो सका।

इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अपने 'भारत मार्तण्ड' पत्र में राजस्थानी की कई छोटी-छोटी कृतियों और लोकगीत आदि भी प्रकाशित किए।

इतिहास और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नैणसी री ख्यात' का सम्पादन भी पण्डितजी ने किया था और इनमें मूल पाठ के साथ विस्तृत शब्दार्थ लगाने की ऐसी रीति उन्होंने अपनायी थी जिससे कि मूल पाठ को विस्तार के साथ समझा जा सकता था। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया यह कार्य पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो सका परन्तु लगभग उसी शैली का अनुसरण करते हुए आचार्य बद्रीप्रसादजी साकरिया ने इसका सम्पादन आगे चल कर किया जो कि चार भागों में प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित हुआ। परन्तु पण्डितजी की ऐतिहासिक टिप्पणियें देने तथा नैणसी के द्वारा दी हुई घटनाओं के सत्यनिरूपण करने का कार्य साकरियाजी नहीं निभा सके क्योंकि उसके लिए भाषा के साथ इतिहास के गहन ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित थी। यदि पण्डितजी द्वारा सम्पादित नैणसी री ख्यात का अप्रकाशित भाग मिल जाय तो वह अब प्रकाशनीय होगा।

पण्डितजी ने सूर्यमल मिश्रण के वृहत् ग्रन्थ का भी संपादन किया और अपनी अल्प आय में से धन बचाकर इस महान् ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इन प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त पण्डितजी ने कृपाराम की प्रसिद्ध कृति 'राजिया के दोहों' का भी सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित करवाया जो आज भी जनता के कण्ठहार बने हुए हैं। सन् १९२७ में "प्रताप प्रकाश" नाम से आपने बारहठ जैतदानजी के सहयोग से सर प्रतापसिंह से संबंधित कविताओं को संकलित व संपादित कर मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर से प्रकाशित करवाया।

(३) जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है पण्डितजी ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का उद्धार अपनी मनीषा के आधार पर किया था। इन ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत की मारवाड़ी टीका भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस टीका से राजस्थानी गद्य के क्षेत्र में जहां एक महत्त्वपूर्ण कार्य की पहल उन्होंने की वहां यह भी संभव कर दिखाया है कि राजस्थानी भाषा सब प्रकार से सशक्त भाषा है और उसमें बड़े से बड़े ग्रन्थ के अर्थ-गाम्भीर्य को उद्घाटित करने की क्षमता है।

(४) उस समय में यहां की पाठशालाओं में खड़ी बोली और उर्दू का भी बोलबाला था और मातृभाषा के अध्ययन-अध्यापन की कोई व्यवस्था नहीं थी। पण्डितजी को यह बात अखरी और उन्होंने केवल प्रस्ताव और आलोचना का रास्ता ही नहीं अपनाया अपितु सृजनात्मक पथ पर अग्रसित होकर पहली, दूसरी व तीसरी कक्षा की मारवाड़ी पुस्तकें तैयार कर स्वयं ने प्रकाशित करवायीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने मारवाड़ के भूगोल की भी एक पुस्तक तैयार की। ये पुस्तकें लघुकाय हैं और यह प्रयास भी छोटा ही दिखाई देता है किन्तु इस कार्य से उनकी निष्ठा और मातृभाषा के प्रति अगाध प्रेम प्रदर्शित होता है। यदि पण्डितजी के इस प्रयास को आगे बढ़ाने वाला कोई व्यक्ति या संस्था मिल जाती तो राजस्थानी को उस कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता जो आज करना पड़ रहा है।

(५) राजस्थानी भाषा के प्रति उनका अनन्य प्रेम ही था जिसने उन्हें राजस्थानी व्याकरण और राजस्थानी शब्दकोष जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आधारभूत कार्यो में प्रवृत्त किया। पण्डितजी द्वारा लिखित मारवाड़ी व्याकरण सर प्रताप की प्रेरणा से जोधपुर के राजकीय प्रेस से मुद्रित होकर प्रकाश में आयी। यह व्याकरण बड़े वैज्ञानिक ढंग से लिखी गयी है और राजस्थानी भाषा के अध्ययन में एक मील के पत्थर का काम देती है। राजस्थानी व्याकरण पर इसके बाद जो भी कार्य हुए हैं उनमें इस कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जोधपुर के मंत्री सर सुखदेव प्रसाद की प्रेरणा से उन्होंने राजस्थानी शब्दकोष के कार्य का काम उठाया था और उस दिशा में भी वे काफी आगे बढ़ गये थे, बहुत से शब्दों का संकलन और अर्थ आदि भी तैयार कर दिए थे किन्तु समय के उलट फेर में पण्डितजी का यह महत्त्वपूर्ण प्रयास प्रकाश में नहीं आ सका, फिर भी जिस किसी रूप में पण्डितजी के श्रम का उपयोग आधुनिक कोषकर्ताओं ने किया है वह किसी भी तरह भुलाया नहीं जा सकता।

पण्डितजी की इन उपलब्धियों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है जब हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि उस समय के जोधपुर जैसे पिछड़े हुए छोटे स्थान में उन्होंने अपनी साधना को प्रकाश में लाने के लिए स्वयं के साधनों से प्रताप प्रेस और रामश्याम प्रेस की स्थापना की और उनसे अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किए। साहित्य के प्रति ममत्व और अनूठी साधना का इससे बढ़कर कौनसा उदाहरण हो सकता है। आज के युग में साहित्यिक कार्य करने के लिए अनेक साधन उपलब्ध हो गए हैं और कार्य भी हुआ है परन्तु उनकी-सी निष्ठा और लगन आज कहां है? उनकी तुलना में जब साहित्य के क्षेत्र में अल्पकार्य करके ही नाम और दाम दोनों के लिए उद्विग्न होकर अवांछित पथ अपनाते हुए लोगों को देखते हैं तो बड़ी हैरत होती है।

पण्डितजी जैसे व्यक्तियों की हमारे साहित्य को सदा आवश्यकता रहेगी और उनकी सेवाएँ सदा एक प्रेरणा-पुंज के रूप में राजस्थानी साहित्य में याद की जाती रहेंगी। पण्डितजी की प्रतिभा और लगन को देखते हुए बार-बार यही बात ध्यान में आती है कि उन्हें यदि उस समय यथोचित साधन मिले होते तो वे अंकुर उनके देखते-देखते ही लता के रूप में लहलहा उठते। आशुकवि पण्डित नित्यानन्दजी शास्त्री की इस श्रद्धांजलि में हमारे मन की बात ही प्रकट होती है—

> मिल्यो मारवाड़ी-बाड़ी नै माळी ऐड़ो,
> पिण पाणी नहिं मिल्यो, चईजे मिलणो जैड़ो।
> अरै! जरां ही अंकूड़ा ऐ छोटा-छोटा-
> दीस रह्या है, किणी तरै सूं हुवा न मोटा॥

राजस्थानी व्याकरण का अध्ययन

भारतीय संस्कृति और भाषाओं के प्रति पाश्चात्य देशों में लगभग एक शताब्दी से बड़ा आकर्षण रहा है, विशेषतया इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी में। इन देशों के विद्वानों ने न केवल संस्कृत भाषा और साहित्य की निधियों को अपितु यहाँ के इतिहास के अनेक मूल्यवान ग्रन्थों को भी अपनी भाषाओं में प्रकाशित कर भारतीय विद्याओं के प्रति पाश्चात्य जगत को खूब आकर्पित किया। स्वतंत्रता के पश्चात तो पूर्वी यूरोप के विश्वविद्यालयों तथा लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि देशों के विद्वानों ने इस दिशा में और भी गहरी रुचि प्रकट की है। अब उनका दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय भाषाओं के अध्ययन तक ही सीमित न रहकर आधुनिक भारतीय भाषाओं और क्षेत्रीय विशेषताओं की ओर भी आकृष्ट हुआ है।

जहां विदेशी विद्वान और विश्वविद्यालय हमारे देश की भाषा और संस्कृति के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये इतने उत्सुक हैं वहाँ भारत सरकार और यहाँ के विश्वविद्यालयों द्वारा जिस बड़े पैमाने पर योजनाबद्ध रूप में ऐसे कार्य करने और विदेशों में अपनी संस्कृति के अध्ययन को सुगम बनाने का कार्य जिस रूप में होना चाहिए, नहीं हो रहा है।

वर्षों पहले सभी भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण जो इब्राहिम ग्रियर्सन ने किया था वैसा कार्य भी किसी विश्वविद्यालय अथवा सरकार ने हाथ में नहीं लिया। हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा है परन्तु उसके अंतर्गत आनेवाली बोलियों का भी अभी तक कोई प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सका। हिन्दी ही क्यों उत्तरी भारत की समस्त भाषाओं के अध्ययन की लगभग यही स्थिति है।

राजस्थानी भाषा लगभग तीन करोड़ लोगों की मातृभाषा है और इसका साहित्यिक गौरव भी किसी से छिपा नहीं है। राजस्थानी भाषा के उद्भव और विकास के अध्ययन से उत्तरी भारत की अनेक सम्बंधित भाषाओं के विकास-क्रम को समझने में बड़ी सहायता मिल सकती है, यह सभी विद्वान महसूस करते हैं परन्तु डॉ. टैसीटरी के बाद इस प्रकार का प्रयास किसी ने नहीं किया।

फिर से एक विदेशी विश्वविद्यालय के विद्वान ने ही यह बीड़ा उठाया है और उन्होंने शिकागो विश्वविद्यालय में राजस्थानी भाषा के पठन-पाठन की व्यवस्था भी करवाई

है। यद्यपि राजस्थानी भाषा के व्याकरण पर उनका लेख आधुनिक (प्रचलित) राजस्थानी भाषा की कुछ विशेषताओं पर ही प्रकाश डालता है परन्तु उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भाषा के सम्पूर्ण विकास को समझने में भी सहायता मिल सकेगी और उनका यह लेख स्थानीय विद्वानों के लिये भी प्रेरणादायक होगा।[1]

लेखक ने आधुनिक राजस्थानी की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डालने के पहले राजस्थानी भाषा पर आज दिन तक किये गये कार्य का संक्षेप में आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है।

सर्वेक्षण में कैलाग, रामकर्ण आसोपा, जार्ज ग्रियर्सन, मोतीलाल मेनारिया, डब्लू. एस. एलन, नरोत्तमदास स्वामी आदि विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनकी राजस्थानी व्याकरण सम्बन्धी धारणाओं का विस्तृत विवेचन किया है। राजस्थानी के व्याकरण की अध्ययन-परम्परा लगभग सौ वर्ष पुरानी है परन्तु किसी भी आधुनिक विद्वान ने यह प्रश्न नहीं उठाया कि राजस्थानी पर लिखे गये ये ग्रन्थ राजस्थानी भाषा का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत करते हैं या नहीं। यह कार्य डॉ. बहल ने अपने इस लेख में किसी हद तक सम्पन्न किया है।

लेख के भाग २ में लेखक ने कतिपय महत्वपूर्ण समस्याओं को उठाया है। कैलाग के दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए 'भाषा और बोली' के विभेद की १८ वीं शताब्दी के योरोपियन विद्वानों की भ्रान्त धारणा, जिसके अनुसार बोली को भाषा का विकृत या अपभ्रष्ट रूप माना जाता था, उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कैलाग का राजस्थानी बोलियों का अध्ययन इस भ्रान्त धारणा से प्रभावित है। कैलाग के बाद राजस्थानी व्याकरण पर कार्य करने वाले विद्वानों ने कैलाग की इस कमजोरी को समझे बिना ही अपना अध्ययन थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ प्रस्तुत किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि राजस्थानी भाषा की उन विशिष्टताओं पर वे विद्वान प्रकाश नहीं डाल सके जो हिन्दी आदि भाषाओं में नहीं हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य जिसकी ओर लेखक ने सर्वेक्षण वाले भाग में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है वह है—राजस्थान के क्षेत्र में भाषा का त्रिविध प्रयोग। आर्य परिवार की भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में भाषा शब्द का प्रयोग एक तो परिनिष्ठित भाषा के अर्थ में होता है, दूसरा किन्हीं बोलियों के समूह के रूप में और तीसरा ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित होने वाली किसी परिनिष्ठित भाषा के लिये। सर्वेक्षण का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि राजस्थानी के विद्वान इन तीनों अर्थों में से किसी एक अर्थ को महत्त्व देकर ही इस भाषा के व्याकरण का विवरण प्रस्तुत करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वैयाकरण का भाषा के प्रति दृष्टिकोण उस वैयाकरण द्वारा प्रस्तुत भाषा के विवरण से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, तथा वैयाकरण भाषा की गहराई में न जाकर

---

१. डा. बहल का यह विस्तृत लेख राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा चुका है।

भाषा सम्बन्धी धारणाओं के विवेचन में लग जाता है। राजस्थानी व्याकरण पर अभी तक लिखे गये ग्रन्थों के अध्ययन से यह तथ्य भलीभांति प्रकट होता जाता है।

लेख के अंतिम भाग में लेखक ने राजस्थानी की कतिपय व्याकरणगत विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं— (१) राजस्थानी के कतिपय अभिव्यंजक संरचनात्मक तत्व, (२) ध्वन्यानुकरण, (३) संयुक्त क्रियाओं में तथ्य तथा क्रिया व्यापार के बोध का प्रभेद, (४) प्रेरणार्थक क्रिया-रूपों का निर्माण, (५) सामाजिक क्रिया-रूपों की काल-रचना आदि। इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर बड़े सुलझे हुए रूप में लेखक ने प्रकाश डाला है।

इन विषयों का चयन लेखक ने इस दृष्टिकोण से किया है कि इनके विषय में फैली हुई कतिपय भ्रान्त धारणाओं का निराकरण तो इस विवेचन से होगा ही, परन्तु साथ ही इनके अध्ययन से भारतीय आर्य परिवार की भाषाओं की व्याकरण सम्बन्धी अनेक नवीन उद्भावनाएँ समझने में नया दिशा-निर्देष भी मिलेगा।

अद्यावधि जो भी व्याकरण भारतीय भाषाओं को लेकर लिखे गये हैं उन सब में भाषा की संरचना का विवरण इसलिये छोड़ दिया गया कि अभिव्यंजक संरचना का किसी भी भाषा की अभिसंज्ञक संरचना से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। जैसे राजस्थानी में व्यक्ति वाचक संज्ञाओं के साथ लगने वाले अभिव्यंजक प्रत्ययों को प्रत्यय कह कर उनको व्याकरण में स्थान न देने की प्रवृत्ति। अभिव्यंजक संरचनात्मक तत्वों को व्याकरण में उचित स्थान न देने से न केवल राजस्थानी व्याकरण में अपितु राजस्थानी शब्द-कोश में भी कई भ्रांतियाँ रह गई हैं।

भारतीय भाषाओं में संज्ञाओं के लिंग-विधान की समस्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने इस समस्या का राजस्थानी के माध्यम से पूरा समाधान तो प्रस्तुत नहीं किया है परन्तु उसके तद्विषयक सुझाव बड़े महत्व के हैं। लेखक के अनुसार भारतीय भाषाओं में संज्ञाओं का लिंग-भेद भाषा की अर्थ-तात्त्विक संरचना का महत्वपूर्ण अंग है। पुल्लिंग अथवा स्त्री-लिंग का प्रत्यक्ष जगत में विद्यमान पुरुष अथवा स्त्री जातियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजस्थानी में संज्ञाओं का लिंग निरूपण सामान्य (काचर) तथा विशिष्ट एवं विशिष्ट के अंतर्गत स्त्रीलिंग (काचरी) अल्पार्थक (काचरियो) और पुल्लिंग काचरौ की उन कोटियों के द्वारा किया जा सकता है, अस्तु।

संज्ञाओं के लिंग विधान के विषय में हिन्दी, पंजाबी आदि भाषाओं के क्षेत्र में इसी प्रकार की भ्रांतियाँ हैं जैसी कि राजस्थानी में लेखक ने उन भ्रान्तियों का विवेचन करते हुए एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है, वह यह कि भारतीय आर्य-भाषाओं में संज्ञाओं का लिंग तो निश्चित है, किन्तु स्थिर नहीं। इस तथ्य को गंभीरता से समझे बिना हमारी भाषाओं के कोशकारों ने संज्ञा-शब्दों के तथाकथित 'प्रामाणिक' लिंग उद्धृत करते हुए उनके लिंग-विपर्यय की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।

राजस्थानी में ध्वन्यानुकरणात्मक शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया का आंशिक किन्तु स्पष्ट विवरण लेखक ने इस लेख के अंतिम भाग में किया है जिसको देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ध्वन्यानुकरण राजस्थानी की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। इस पर बहुत अधिक विस्तार के साथ कार्य करने की आवश्यकता है।

मैं राजस्थान के विद्वानों और विशेष तौर से यहां के विश्वविद्यालयों से यह अपेक्षा करता हूं कि वे इस सबल भाषा की खूबियों के अध्ययन का पथ प्रशस्त करने में गंभीर रुचि लेंगे, जिसकी आवश्यकता लंबे समय से महसूस की जा रही है।

धार्मिक साहित्य का ऐतिहासिक तत्वान्वेषण

हमारे देश की संस्कृति धर्म-प्रधान रही है, इसलिये जब संस्कृति-सापेक्ष इतिहास की बात करते हैं तो धर्म की भूमिका स्वत: ही महत्वपूर्ण हो उठती है। वास्तव में धर्म ने न केवल यहाँ के सांस्कृतिक जन-जीवन को अपितु राजनैतिक क्षेत्र को भी बहुत दूर तक प्रभावित किया है।

सभी धर्मों के सिद्धांत-निरूपण और प्रचार-प्रसार में प्रत्यक्ष रूपेण परलोक सुधारने की बात कही गई है फिर भी इसका साधन इहलोक ही रहा है, परन्तु कई बार परलोक की आड़ में इहलोक ही महत्वपूर्ण हो उठा है, जिससे एक ओर इन धार्मिक सम्प्रदायों की परोपकारी भावनाओं का मानवीय रूप नाना रूपों में प्रकट हुआ, वहां उनके अनुयायियों की स्वार्थ-प्रेरित मान्यताओं ने जातिवाद की हितचिंतना का ऐसा पथ प्रशस्त किया जिससे धर्म के उच्च आदर्श व्यावहारिक जीवन में गौण होते चले गये, और उन मान्यताओं की जड़ें आज के जनतन्त्र को भी पूरी मजबूती से पकड़े हुए हैं। राजनैतिक निर्णयों में उनका असर किसी से छिपा नहीं है।

अत: इन सम्प्रदायों का परम्परागत धार्मिक तत्वान्वेषण से हटकर भी अध्ययन बहुत आवश्यक है जिससे कि सुदूर अतीत में हम उन प्रतिक्रियाओं का कारण ढूंढ़ सकें जो आज के राष्ट्र-जीवन की जीवन समस्याओं की बहुत बड़ी भागीदार हैं और धर्म निरपेक्ष देश में भी जातिवाद राष्ट्र की नीतियों के व्यावहारिक निरूपण में इतना जबरदस्त प्रभाव बनाए हुए है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन का मानस किस प्रकार एक होते हुए भी बंटा हुआ है और उन धर्म - प्रवर्तकों के मूलभूत उद्देश्यों को किस प्रकार उनके अनुयायियों ने वाह्य उपादानों और अंधविश्वासों से आवेष्टित करके अपना साम्राज्य अलग स्थापित करने की लिप्सा के वशीभूत पीढी दर पीढी अनुयायियों को संकीर्णता और स्वार्थपरता के रास्ते पर चलने को प्रेरित किया, यह सब कुछ हमारे इतिहास की धरोहर से अलग नहीं है, वल्कि यों कहना चाहिए कि हमारे अतीत (इतिहास) की आत्मा में जो दरारें पड़ी हुई हैं उनका अहसास इस प्रक्रिया की वारीकियों के सार्थक अध्ययन से ही संभव हो सकता है।

धर्म ने जहां सदाचार और आत्मा के उत्थान की वात मुख्य रूप से की वहां उसके मठाधीशों ने मानव के सहज रुझान की शक्ति को अपने लिये संगठित करने के उद्देश्य से संकीर्णता का सवक सिखाया, जिसके फलस्वरूप राजनैतिक युद्धों की तरह धार्मिक युद्ध भी हुए, जिनकी वदली हुई झांकी आज भी यत्र-तत्र दिखाई दे जाती है। राजनीति के लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति अपनाई जाती रही है वैसे ही साधन अनेक वार धर्म - प्रचार में भी काम में लिये गये हैं और उनके जरिये अर्थ - तंत्र और समाज - तंत्र पर प्रभुत्व हासिल करने के आंतरिक प्रयास वरावर प्रभावशाली होते रहे हैं। परन्तु यह प्रक्रिया इतनी वारीक है कि उनका वास्तविक स्वरूप वड़ी कठिनाई से ही समझा जा सकता है। अंधविश्वास और अवसरवादिता उन पर वरावर आवरण डालती रही है और तथाकथित इतिहास का उन गहराइयों तक पहुंचना संभव नहीं हो पाया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आज इस वात की महती आवश्यकता है कि इतिहास की आन्तरिक सच्चाई को जानने के लिये विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों, उनके आन्दोलनों और कार्यकलापों की पद्धतियों का तत्कालीन समय के परिप्रेक्ष्य में तटस्थ व संतुलित दृष्टि से अध्ययन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

यहां हमारा तात्पर्य भारतीय संस्कृति को धार्मिक सम्प्रदायों की देन को अनदेखा करना नहीं है। खास तौर से जव हम हमारे देश के मध्यकालीन इतिहास की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि वाहर से आने वाली शक्तियों ने जव अपना आधिपत्य यहां जमाया और जनजीवन पर उनका प्रभाव वढ़ने लगा तो यहां की जनता की धार्मिक भावनाओं ने उन्हें वह आत्म-शक्ति प्रदान की कि वे समय के परिवर्तन से प्राप्त होने वाले अनेक आकर्पणों को ठुकरा कर अपनी सांस्कृतिक मर्यादाओं का वरावर निर्वाह करते रहे और स्थानीय शासक भी वहुत वड़ी कीमत चुका कर धार्मिक प्रतीकों और सांस्कृतिक उपादानों की रक्षा हेतु वरावर संघर्ष करते रहे; परन्तु ज्यों ज्यों वाहरी दवाव का वह स्वरूप कम होता गया, यहां के धार्मिक सम्प्रदाय संकुचित मनोवृत्ति की ओर अग्रसित होते गए। जिस सम्प्रदाय का जैसा प्रसार और वूता था उसने उसी अनुपात में समाज को इस ओर प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहां तक कि राजाओं की धार्मिक भावनाओं के परिवर्तन से राज-वर्गीय अधिकारी और सम्वन्धित लोग असाधारण रूप से प्रभावित होने लगे। जोधपुर महाराजा मानसिंह नाथ सम्प्रदाय के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाले थे और राजकार्य तक में नाथजी का आदेश उनके लिए शिरोधार्य था, जिसने पूरी सामाजिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया और इस अति का प्रतिफल यह हुआ कि उनके राजकुमार छतरसिंह ने जव वैष्णव धर्म में दीक्षा ले ली तो राज-वर्गीय लोगों में वड़ी खलवली मच गई और इसके दुष्परिणाम प्रशासन और जनजीवन पर पड़े।

कई वार ऐसे उदाहरण भी देखे गए हैं कि राजा और रानियों की धार्मिक निष्ठा में भेद के कारण भी आन्तरिक कलह को पनपने का अवसर मिलता रहा है और

उससे अन्य लोग लाभ उठाते रहे हैं। तथाकथित जनहित के लिए खर्च की जाने वाली बहुत वड़ी राशियां उनकी स्पर्द्धा-प्रेरित इच्छा की पूर्ति के लिये ही धार्मिक कृत्यों पर खर्च कर देने के भी अनेक उदाहरण देखने में आते हैं।

इस देश में अनेक महापुरुषों की अवतारणा हुई और जो तात्विक चिंतन उन्होंने दिया उससे पूरा विश्व आज भी आश्चर्यचकित है। जैन व बौद्ध धर्म इस देश के दो प्रमुख धर्मों के रूप में उभरे। वौद्ध धर्म इस देश में जन्म लेकर पड़ौसी देशों तक में फैल गया पर साथ ही इस देश में वह आज से शताब्दियों पहले ही लुप्त भी हो गया। वौद्ध धर्म का तत्व-वोध आज भी महान माना जाता है पर उसके अवशेष बड़ी मुश्किल से देखने को मिलते हैं, पर जैन धर्म भारत के कोने-कोने में प्रतिष्ठापित है।

कोई धर्म कितना ही ऊँचा क्यों न हो साधन - सम्पन्नता का उसके प्रचार प्रसार और प्रतिष्ठा में अपना योगदान होता है। जैन धर्म ऐसे लोगों द्वारा अपनाया गया जिनमें निरन्तर राजवर्गीय लोग होते गए जैसे दीवान, हाकिम, फौज वक्सी, नगर सेठ आदि जिससे उन्हें राज्याश्रय मिलना स्वाभाविक था, साथ ही व्यवसाय - प्रधान लोगों ने इस धर्म को अपना कर जहां जहां वे पहुंचे वहां मन्दिरों, धर्मशालाओं, विद्यालयों, चिकित्सालयों आदि के द्वारा समाज में इस धर्म की प्रतिष्ठा वढ़ाई और स्वयं संगठित वने रहे। अपनी व्यवसाय-पटुता और समय सापेक्ष समझ से निरन्तर धनसंचयी और संयमी जीवन जीने वाले अनेक लोगों ने दानी व आस्थावान कलाप्रेमी होने का परिचय भी दिया जिसकी साक्षी उनके द्वारा निर्मित मन्दिर व भव्य भवन आज भी देते हैं।

इस धर्म के कार्यकलाप शताब्दियों से इतने सुगठित और व्यवस्थित रहे कि उन्होंने जहां अपने गुरुओं की पट्टावलियाँ, गच्छों की दफ्तरी वहियां आदि के माध्यम से इस धर्म की हलचलों का अच्छा रेकार्ड अध्येताओं के लिये सुरक्षित रखा है वहां विभिन्न रास, स्तोत्र, चौपई, चर्चरी, ग़जल, स्तवन आदि के माध्यम से उस समय के समाज की कई झांकियां भी प्रस्तुत की हैं। दफ्तरी वहियाँ एक प्रकार से धार्मिक प्रशासन का स्वरूप प्रकट करती हैं, जिससे उसका व्यावहारिक रूप उजागर होता है।

अनेक साहित्य प्रेमी जैन विद्वानों ने जहां जैनेतर ग्रन्थों की भी प्रतिलिपियां करके उसे सुरक्षित रखा वहां प्राचीन ग्रन्थों की सुन्दर टीकाएँ करने का कार्य भी किया। इन ग्रन्थों के अन्त में प्राय: लेखक के नाम के अतिरिक्त गुरु परम्परा, रचना व लिपिस्थान, शासक आदि का नामोल्लेख भी मिलता है जो इतिहास की कई घटनाओं को सत्यापित करने में सहायक सिद्ध होता है और कुछ विद्वानों की उदात्त प्रवृत्ति का भी परिचय देता है।

निर्माण - स्थलों पर जहां उनके निर्माताओं का परिचय प्राय: शिलाओं पर अंकित मिल जाता है वहां लागत मूल्य आदि की जानकारी के साथ उस समय किये जाने वाले अनुष्ठान आदि का भी प्राय: वर्णन मिलता है।

इस धर्म से सम्बन्धित हस्तलिखित ग्रन्थों का सर्वाधिक एवं सबसे प्राचीन संग्रह गुजरात व राजस्थान में सुरक्षित रहा है। इतनी बड़ी साम्प्रदायिक राशि को संजोकर रखने का श्रेय जैन मुनियों, सेठ-साहूकारों, शासकों और जतियों को है; इनमें राजस्थानी भाषा के माध्यम से लिखे गये ग्रन्थों की संख्या लाखों में है।

वर्तमान में जब हमारा राष्ट्र नव निर्माण के दौर से गुजर रहा है और उसके भावी स्वरूप में आज की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, इस बात को समझने की महती आवश्यकता है कि जैन साहित्य की तरह ही अन्य साम्प्रदायिक साहित्य ने हमारी सामाजिक संरचना में अतीत में क्या भूमिका निभाई है और भविष्य में उसका किस प्रकार का योगदान होगा।

राजस्थानी लोक साहित्य—शोध व संरक्षण

लोक साहित्य किसी भी देश अथवा जन-समुदाय की स्वाभाविक चेतना, जीवन-विश्वास और संस्कृति का वास्तविक प्रतीक होता है। समाज की नानारूपेण प्रवृत्तियों का जिस रूप में चित्रण इस साहित्य में मिलता है वह हमारे शिष्ट साहित्य में दुर्लभ है। मानव जीवन के क्रमिक विकास के साथ लोक साहित्य अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसलिए लोक साहित्य की परम्परा भी मानव जीवन के उद्‌भव और विकास की तरह सुदीर्घ है।

भारतीय लोक साहित्य के प्राचीनतम उद्धरण हमें ऋगवेद में मिलते हैं। इस ग्रन्थ में जहां लोक गीतों के अंकुर विद्यमान हैं वहां सुन्दर लोकोक्तियों के भी दर्शन होते हैं। महाभारत तथा शतपथ ब्राह्मण व एतरेय ब्राह्मण में अनेक लोक कथाओं का समाहार किया गया है। पालि भाषा में भगवान बुद्ध के जीवन-चरित्र को लेकर अनेक कथाओं का निर्माण हुआ है जो जातक कथाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। हाल (शालिवाहन) की गाथा सप्तशती जिसकी रचना प्राकृत में हुई है, लोक कथाओं का बहुत बड़ा कोश है। इसका अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है। इसी प्रकार हितोपदेश तथा पंचतंत्र आदि भी लोक साहित्य की सुन्दर कृतियां हैं जिनमें नीति, चतुरता और व्यवहार-पटुता का अद्‌भुत ज्ञान संचित है।

इस प्रकार लोक साहित्य की परम्परा अति प्राचीन काल से यहां के जन-जीवन में प्रवहमान होती रही है।

जब से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास भारत के विभिन्न भू-खंडों में होने लगा, उन भाषाओं में लोक-रुचि और सूझ-बूझ के अनुसार लोक साहित्य की रचना होने लगी जिसमें उसकी प्राचीन परम्परा के सम्बन्ध-सूत्र भी अनेक रूपों में विद्यमान हैं। राजस्थान के पास लोक साहित्य की अमूल्य सम्पदा विद्यमान है जिसका साहित्य एक हजार वर्ष से भी पुराना है। इस दीर्घ काल में यहां का लोक साहित्य अनेक रूपों में पुष्पित व पल्लवित हुआ है जिसमें यहां की संस्कृति बड़े ही विस्तृत तथा सजीव रूप से चित्रित हुई है।

इस लोक साहित्य की प्रमुख विधाएँ लोक गीत, लोक कथाएँ, लोक गाथाएँ, लोक नाट्य, पहेलियां, कहावतें आदि हैं।

लोक गीत प्रायः मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को लेकर सर्जित हुए हैं। ऐतिहासिक घटनाओं से अनुप्राणित गीतों में समाज की प्रतिक्रिया बोलती है। पारिवारिक गीतों में यहां के समाज की आन्तरिक व्यवस्था अंकित है। संस्कार सम्वन्धी गीतों में समाज की धारणाएँ सुरक्षित हैं। प्रेम गीतों में विरह और मिलन भी अनेकानेक भाव वीचियों के बीच सौन्दर्य-भावनाओं के कितने ही रंग घुलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। धार्मिक गीतों में भगवद्-भक्ति और स्थानीय देवी-देवताओं के प्रति गहन श्रद्धा और अटूट आस्था व्यक्त होती है। व्यावहारिक जीवन के साथ आध्यात्मिकता का यह मिलन अद्‌भुत है। समूचे गीत साहित्य में अवगाहन करने से ऐसा अनुभव होता है मानो यहां का पूरा जन-जीवन ही गीतिमय रहा है, एक अजीव तरह का भावोन्माद समस्त जीवन को स्पन्दित किए हुए है।

लोक कथाएँ समाज के विभिन्न वर्गो का सही चित्रण करने में पूर्णतया सक्षम हैं। समाज की छोटी से छोटी मान्यताओं व धारणाओं का यदि गहन अध्ययन करना हो तो इन कथाओं से बढ़ कर दूसरा साधन मिलना कठिन है। लोक कथाएँ राजस्थान में वात के नाम से प्रसिद्ध हैं। छोटी से छोटी वात दो मिनट में कही जा सकती है तो वड़ी से वड़ी वात कई दिन और रातों में जाकर संपूर्ण होती है। इन कथाओं को कहने का अपना ढंग है और उनकी रोचकता को वनाए रखने की कला वहुत कुछ कथा कहने वाले पर निर्भर करती है। राजस्थान वहुत वड़ा प्रदेश है। अतः विभिन्न भागों में एक कथा के कई रूप भी विद्यमान हैं जिनके कारण तक पहुंचने के लिए इतिहास और सामाजिक मान्यताओं की प्राचीन परम्परा का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। इनमें से अनेक महत्वपूर्ण कथाओं ने प्रतिभा-सम्पन्न कवियों के हाथों परिष्कृत होकर शिष्ट साहित्य का भी रूप धारण कर लिया है जिनका राजस्थानी के प्राचीन गद्य साहित्य में विशिष्ट गौरवमय स्थान है। इन कथाओं के निर्माण की पृष्ठभूमि में न केवल यहां के सामान्य समाज की सूझ-वूझ ही विद्यमान है अपितु अनेक कथाओं का श्रोत ठेट पंचतंत्र, हितोपदेश और पौराणिक आख्यानों से भी संबंध रखता है। इस प्रकार की कथाएँ जहाँ हमारे धर्म और दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का सहजगम्य व्यावहारिक स्वरूप प्रकट करती हैं वहाँ भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता की पुष्टि भी इनसे होती है क्योंकि इन्हीं श्रोतों से अनेक कथाएँ अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी सर्जित हुई हैं।

लोक गाथाएँ किसी भी संस्कृति के गौरवमय इतिहास की प्रतिकृति के रूप में देखी जा सकती हैं। लोक गाथाओं में उन जीवन-मूल्यों और धारणाओं पर विशेष जोर रहता है जो उस संस्कृति के मेरुदंड रहे हैं। त्याग, वलिदान, वीरता और प्रेम की भूमि राजस्थान का राग-रंजित इतिहास इन लोक गाथाओं में है। पावूजी की गाथा में कर्त्तव्यपरायणता और त्याग का अद्‌भुत चित्रण है, ढोला मारू में प्रेम यहां की सांस्कृतिक सजीवता के साथ अमर हुआ है। निहालदे में प्रेम के साथ-साथ मानव-जीवन की अनेक समस्याओं तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों का सफल चित्रण है। वगड़ावत गाथा में

जीवन और मरण के पुलिनों के बीच बहती हुई आसक्ति की अविरल धारा के द्रुत वेग को यथार्थता की बारीकियों के साथ व्यक्त किया गया है। भरतरी की गाथा जीवन के कटु यथार्थ, प्रेमासक्ति और अडिग विरक्ति की मार्मिक कहानी है जिसे सुन कर बड़े से बड़े दार्शनिक को भी विचारों की आँधी झकझोरे बिना नहीं रहती।

शायद ही एक कला ने दूसरी कला को इतना अधिक साथ दिया है जितना संगीत ने लोक गाथा को। इतना ही नहीं सैकड़ों वर्षों तक इन गाथाओं को जीवित रखने का प्रमुख श्रेय भी संगीत को ही है। आज भी लोक मानस की गहराइयों को आलोड़ित करने की क्षमता इनमें है।

लोक नाट्य के अनेक रूप यहाँ प्रचलित हैं। अलग-अलग प्रकार के लोक नाट्य विचित्र शैलियों में प्रदर्शित होते रहे हैं। प्रमुखतया लोक नाट्य तीन विषयों को लेकर रचे गए हैं—धर्म, वीरता और प्रेम। धार्मिक नाटकों का विस्तार बहुत अधिक है। उनके लिए रंगमंच की भी अनेक प्रकार से व्यवस्था है। लोक जीवन में धार्मिक आस्था की गहनता को प्रकट करने वाले कई नाटकों में मनोरंजन की भी पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। भीलों का गवरी नृत्य एक ओर लोक नाट्य की परम्परा की प्राचीनता को प्रमाणित करता है तो दूसरी ओर उसमें हमारी संस्कृति की अनेकरूपता भी प्रकट होती है। तुर्रा और कलंगी जैसे खेल मुसलमान कवियों द्वारा आरंभ किये गये परन्तु उनकी प्रेरणा शिव तथा शक्ति के विराट स्वरूप में निहित है। अतः हमारी संस्कृति ने अन्य संस्कृति के लोगों को कहाँ तक प्रभावित किया इसका संकेत इस प्रकार की रचनाओं से मिलता है। वीर भावना को लेकर अनेक ख्याल, पवाड़े तथा कठपुतली के खेल बने हैं, जिनमें वीर भावना के साथ-साथ कर्तव्यपरायणता तथा शृंगार आदि का भी पुट है। पवाड़ों के कुछ नायकों में देवत्व के दर्शन भी होते हैं क्योंकि उन्होंने लोकोपकारी कार्य करते हुए जीवन उत्सर्ग किया है।

प्रेम सम्बन्धी लोक नाट्यों में ख्यालों की प्रधानता है। ढोला-मारू जैसे ख्याल जहाँ प्रेम-भावना को प्रदर्शित करते हैं वहाँ 'छोटे बालम को तमासो' जैसे नाट्य समाज की कुरीतियों पर व्यंग भी करते हैं। अनेक ख्याल प्रेम-भावना के बहाने वासनाजन्य अश्लीलता को भी प्रदर्शित करते हैं, जिन्हें निम्न स्तर के लोगों से अधिक प्रशंसा मिलती है, परन्तु ऐसा लगता है कि मनोरंजन के अच्छे साधनों के अभाव में इस प्रकार के ख्यालों का समाज में खूब प्रचलन रहा है। सिनेमा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ अब ख्यालों का प्रचलन प्रायः समाप्त-सा हो गया है।

शारीरिक कौशल से सम्बन्ध रखने वाले तेराताली, कच्छी घोड़ी आदि लोक नाट्य प्रमुख रूप से लोक नृत्य हैं परन्तु उनका अध्ययन लोक नाट्य के विकास के लिए बड़ा उपयोगी है। इसी प्रकार रम्मत और स्वांग आदि भी पूर्ण रूप से लोक नाट्य न होते हुए भी उसके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं जिनका लोक नाट्य के पूर्ण विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है।

लोक साहित्य में पहेलियों का अपना अलग स्थान है। पहेली की समझ दिमाग की पैनी सूझ-बूझ के साथ अनेकानेक वस्तुओं के व्यावहारिक ज्ञान की अपेक्षा रखती है। एक ओर ये मनोरंजन के महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में प्रचलित रही हैं तो दूसरी ओर ज्ञान-वृद्धि और काव्य-चमत्कार का प्रचार-प्रसार भी इनके माध्यम से हुआ है। कई पहेलियों का निर्माण वड़े भाषा-विदों और भक्तों द्वारा हुआ है जिन पर सूरदास आदि महाकवियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक मान्यताओं और राजस्थानी भाषा की अनेक विशेषताओं आदि के अध्ययन के लिए भी इनका वड़ा उपयोग है।

कहावतों में लोक-अनुभव का कोश संचित रहता है। अनुभव के सांचे में वे स्वयं ढल कर समाज में प्रचलित होती हैं। प्रत्येक कहावत के पीछे कोई न कोई कथा छिपी रहती है परन्तु उसका पता लगाना वड़ा कठिन है, क्योंकि वह कथा-विशेष समय के अंधकार में पीछे रह जाती है, परन्तु उसकी आत्मा सूत्र रूप में कहावत वन कर जन-जीवन की अभिव्यक्ति को सवल वनाती रहती है। राजस्थानी भाषा इस दृष्टि से वहुत धनी है। जीवन के प्रत्येक पक्ष और छोटी से छोटी समस्या को लेकर अनगिनत कहावतें प्रचलित हैं। दार्शनिक तत्वों से लेकर पशु-पक्षियों की चेष्टाओं और प्रकृति के सूक्ष्म कार्य-व्यापारों तक को इनमें स्थान मिला है। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी समाज का पूर्णरूपेण व सही अध्ययन उस समाज में प्रचलित कहावतों की गहराई में पैठे विना नहीं हो सकता अतः इन कहावतों का अध्ययन अनेक दृष्टियों से अपेक्षित है।

राजस्थान के इस विशाल लोक साहित्य का अभी तक परिचयात्मक अध्ययन ही अधिक हुआ है। इस साहित्य की गहराई में पैठने से समाज-शास्त्र, नृतत्व-शास्त्र, मनोविज्ञान, आदि अनेकानेक विषयों की पुष्कल सामग्री अध्येताओं को प्राप्त हो सकती है। साथ ही यहां के लोक साहित्य के सम्वन्ध-सूत्र अन्य प्रान्तों के लोक साहित्य में भी खोजे जा सकते हैं। अनेक लोक गीत तथा कहावतें आदि किस प्रकार एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में प्रवेश कर वहाँ की वस्तु वन गईं इसका अध्ययन जितना महत्वपूर्ण है उतना ही रोचक भी हो सकता है तथा उनके माध्यम से भाषाविज्ञान की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में भी सहायता मिल सकती है।

लोक साहित्य की विधाओं का सम्वन्ध संगीत, नृत्य व चित्रकला आदि से भी है। उनका पारस्परिक सम्वन्ध जहां उनकी कलागत विशेषताओं पर प्रकाश डालता है वहां उन कलाओं के विकास की परम्परा के अध्ययन में भी वहुत वड़ी सहायता दे सकता है।

लोक साहित्य के संकलन और प्रकाशन का कार्य सवसे पहला और महत्वपूर्ण है। इसके विना किसी भी विधा का सांगोपांग अध्ययन नहीं हो सकता। गेय चीजों की सुरक्षा के लिए टेपरेकॉर्ड का उपयोग अनिवार्य है। ऐसा किये विना उसकी असली आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना असम्भव है। प्रामाणिक सामग्री के संकलन का यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य व अर्थसाध्य है जो विश्वविद्यालयों, धनी साहित्य संस्थाओं और

सरकार की सहायता से ही सम्भव हो सकता है। और क्योंकि साहित्य की यह अमूल्य निधि आधुनिक शिक्षा और नई सभ्यता के द्रुत प्रचार प्रसार के साथ समाप्त होती चली जा रही है अतः इसका संकलन जितना शीघ्र हो सके उतना ही श्रेयष्कर है।

लोक गाथाओं तथा लोक नृत्यों व पवाड़ों आदि को आधुनिक युग की आवश्यकताओं के साथ जोड़कर नवीन उपकरणों के सहारे प्रदर्शित करने की आवश्यकता को भी महसूस किया जाने लगा है। हाल ही में जैसलमेर में पर्यटन विभाग की ओर से एक मेला लगाया गया था उसमें इस प्रकार के प्रदर्शन किये गये। जोधपुर में अभी अभी इसी विभाग द्वारा मांड (रागिनी) सम्मेलन उम्मेद भवन जोधपुर में शरद पूर्णिमा के दिन आयोजित किया गया था। इस प्रकार के आयोजन जन रुचि को जागृत करने और कलाकारों को प्रोत्साहित करने के लिये वड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं परन्तु ऐसी चीजों का आयोजन लोक कला के मूल तत्वों को सुरक्षित रखते हुए वड़ी सूझबूझ के साथ होना चाहिये। और आयोजकों को लोक संस्कृति का पूरा ध्यान होना चाहिये वरना कई वार ऐसे आयोजन मखौल वनकर रह जाते हैं और दर्शकों पर उनका उल्टा प्रभाव पड़ता है। अतः लोक साहित्य के संरक्षण और प्रदर्शन के लिये संस्कारी वातावरण अपेक्षित है। केवल अर्थोपार्जन के लिये मन-चले आयोजकों के आयोजनों को सरकार व समाज का प्रोत्साहन घातक सिद्ध हो सकता है।

राजस्थानी लोक गीतों को जीवित रखने व गायकों को प्रोत्साहित करने में रेडियो व लोक संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं से भी प्रोत्साहन मिलता है और इन्हें संरक्षण भी प्रदान किया जाता है पर प्रायः यह देखा जाता है कि लोक गीतों को अपनी मूल तर्ज से हटाकर लोग नई नई तर्जों में पेश करते हैं और कई वार तो उनमें इतना परिवर्तन भी कर देते हैं कि उनकी आत्मा का ही हनन हो जाता है अतः आकाश-वाणी के कर्मचारियों को इस मामले में वड़ी जिम्मेदारी वरतनी चाहिये ताकि हमारी यह अपूर्व धरोहर इस प्रकार सस्ते मनोरंजन का माध्यम वनाने के लिये विकृत न की जाय और सरकार के उच्च पदाधिकारियों को प्रसन्न करने के लिये ही उनके परिवार के लोगों को इस प्रकार के कार्यक्रम न दिये जांय। अनपढ़ कलाकारों से लोक संस्कृति के प्रचार के वहाने कई लोग गीतों के टेप भरकर विदेशियों को ऊंचे से ऊंचे दामों पर वेचने का कार्य करने में भी सक्रिय हैं, क्या इस शोषण को भी संस्कृति का संरक्षण कहा जा सकता है ?

लोक गीतों की तरह लोक कथाओं के शोध व प्रकाशन का कार्य भी वड़ा महत्व-पूर्ण है और उनके अधिकारी विद्वान कहलाने वाले लोग भी जव उन्हें अर्थोपार्जन का साधन वनाने के लिये चटपटी वातों का विकृत रूप देकर उन्हें छापते हैं और सरकार को थोक परिमाण में वेचते हैं तो लोक साहित्य का इससे वड़ा अहित और क्या हो सकता है ? इस सन्दर्भ में लोक कथाओं की प्रामाणिकता के वारे में निम्न पंक्तियां विचारणीय हैं :

"A bad service towards folktale research has been done by some well-meaning educationists and spirited writers, who prepared folktales for the purpose of children education or the pleasures of a mere refined

poetic enjoyment.........for a detailed study of Indian tales such collections are almost useless.[1]

डॉ. हींज मोडे ने लोक कहानियों को अपनी कला से परिमार्जन द्वारा सुष्ठु बना कर प्रस्तुत करने की अवैज्ञानिक प्रणाली का विरोध मूलतः इसलिए किया है कि ऐसे प्रयत्न से लोक कहानी का स्थानीय रंग नष्ट हो जाता है, पर यह प्रणाली इसलिए भी आपत्तिजनक है कि हम उसे लोक-मानस की शुद्ध उद्‌भावना नहीं रहने देते, अपने चेतन कृतित्व की छाप से युक्त कर देते हैं, फलतः उसका सारतत्व ही नहीं रहता। इससे वैज्ञानिक उपयोग के योग्य ऐसी कहानी नहीं रह जाती। वह कहानी की लोक कला की अवहेलना करके उसे अपनी कला का आवरण देता है और इस प्रकार बहुत बड़ा अहित करता है। कम से कम यह तो सुनिश्चित है कि ऐसा कृतित्व लोक-वार्ता-विद के उपयोग के लिए नहीं हो सकता।[2]

---

1. Professor Dr. Heinz Mode, Martin-Luther University, Halle.
२. परम्परा भाग २१-२२, डा० सत्येन्द्र, पृष्ठ २०८।

नामानुक्रमणिका